हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—२७

भारत का भाषा-सर्वेक्षण

[खण्ड १, भाग १]

लेखक

(स्वर्गीय) सर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन

अनुवादक

उदयनारायण तिवारी एम० ए०, डी० लिट्

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग,

उत्तर प्रदेश

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राजकार्यों में व्यवहृत करना है, वरन् उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङमय के सभी अवयवों पर प्रामाणिक ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने हिन्दी समिति के तत्त्वावधान में हिन्दी वाङमय के सभी अंगों पर ३०० ग्रन्थों के प्रणयन एवं प्रकाशन के लिए एक योजना परिचालित की है। यह प्रसन्नता का विषय है कि देश के बहुश्रुत विद्वानों का सहयोग इस सत्प्रयास में समिति को प्राप्त हुआ है जिसके परिणामस्वरूप थोड़े समय में ही विभिन्न विषयों पर छब्बीस ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। देश की हिन्दी-भाषी जनता एवं पत्र-पत्रिकाओं से हमें इस दिशा में पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है जिससे हमें इस उपक्रम की सफलता पर विश्वास होने लगा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला का २७वाँ पुष्प है। यह भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों तथा देश की विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए समुत्सुक अन्य लोगों की भी दृष्टि से विशेष उपयोगी है। इसके प्रणेता स्वर्गीय श्री ग्रियर्सन हिन्दी के बड़े प्रेमी थे और उन्होंने ३० वर्षों तक अथक प्रयास कर, हजारों व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार कर एवं सम्पर्क स्थापित कर भारत की प्रत्येक भाषा तथा प्रत्येक बोली के विषय में यथासंभव प्रामाणिक आँकड़े और विवरण एकत्र किये। भाषाओं और बोलियों के सम्बन्ध में खोज तथा छान-बीन का इतना विशाल एवं विस्तृत प्रयत्न, जैसा कि लेखक ने स्वयं ही नम्रतापूर्वक स्वीकार किया है, भारत तो क्या संसार के किसी भी देश में नहीं किया गया है। यों तो यह ग्रन्थ बहुत भारी है और अंग्रेजी में यह बड़े आकार की ११ जिल्दों में प्रकाशित हुआ था, फिर भी इसके प्रथम खण्ड में ही अन्य खण्डों का सारांश आ गया है। हिन्दी के पाठकों को भी यह

महत्त्वपूर्ण सामग्री आसानी से उपलब्ध हो सके, इसी दृष्टि से हिन्दी समिति ने इसका अनुवाद प्रयाग विश्वविद्यालय के बहुज्ञ विद्वान् डाक्टर उदयनारायण तिवारी से कराया है। आशा है, इससे हिन्दी जगत् यथेष्ट लाभान्वित होगा।

इस खण्ड के द्वितीय भाग का प्रकाशन भी यथासंभव शीघ्र किया जायगा।

भगवतीशरण सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

भारत के भाषा-सर्वेक्षण के अन्य खण्डों की सूची

भाग १		भूमिका
	२	भारतीय भाषाओं की तुलनात्मक शब्द-सूची
	३	भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक कोष
		मानख्मेर एवं ताई परिवार
	१	तिब्बत एवं उत्तरी असम की तिब्बती-बर्मी भाषाएँ
	२	बोडो, नागा, एवं, कचिन समूह (तिब्बती-बर्मी-भाषाओं का)
	३	तिब्बती-बर्मी भाषाओं का कुकिचिन् एवं बर्मी समूह
		मुण्डा एवं द्रविड़ भाषाएँ
		भारोपीय भाषाएँ, पूर्वी समूह
	१	बँगला एवं असमिया
	२	बिहारी एवं उड़िया
		भारोपीय भाषाएँ, मध्यसमूह (पूर्वी हिन्दी)
		भारोपीय भाषाएँ, दक्षिणी समूह (मराठी)
		भारोपीय भाषाएँ, उत्तर-पश्चिमी समूह
	१	सिन्धी एवं लहँदा
	२	दर्दीय, पिशाच, भाषाएँ (कश्मीरी भी)
		भारोपीय भाषाएँ (मध्य समूह)
	१	पश्चिमी हिन्दी एवं पंजाबी
	२	राजस्थानी एवं गुजराती
	३	भीली भाषाएँ, खान्देशी इत्यादि
	४	पहाड़ी भाषाएँ
		ईरानी परिवार
		'जिप्सी' भाषाएँ

प्राक्कथन

इस खण्ड में मेरा उद्देश्य भारत के भाषा-सर्वेक्षण के परिणामों को, संक्षेप में, इस रूप में प्रस्तुत करना है ताकि ये भाषा-शास्त्र के विद्यार्थियों एवं साधारण पाठकों के लिए, समानरूप से, सरलतया संदर्भ का काम दे सकें।

इसका विवरणात्मक भाग दो हिस्सों में विभक्त है। पहले का शीर्षक मैंने भूमिका रखा है और इसमें उन सभी पूर्व प्रयत्नों का विवरण प्रस्तुत किया है जो भारत की भाषा के अध्ययन के सम्बन्ध में किये गये थे। इसके साथ ही वर्तमान सर्वेक्षण के लिए मैंने जिस प्रणाली का अनुगमन किया है उसका भी यहाँ उल्लेख है। इस खण्ड के कुछ विवरण अन्य खण्डों में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होंगे किन्तु यहाँ इन सबको एकत्र करके एक साथ रखा गया है।

दूसरे भाग में सर्वेक्षण के परिणामों तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओं पर दृष्टिपात करने का प्रयत्न किया गया है। इसका मुख्य आधार सन् १९२१ की भारतीय जन-गणना की रिपोर्ट में मेरे द्वारा लिखित 'भारतीय भाषाएँ' अध्याय है। इस समय आधुनिकतम सामग्री समाविष्ट करके इसे पूर्ण बनाया गया है। जनगणनावाले अध्याय को तो वास्तव में इस खण्ड का प्रथम मसौदा मानना चाहिए। वह [illegible] लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व लिखा गया था और उसमें नवीन सामग्री जोड़कर उसे सुधारने की काफ़ी जरूरत थी।

इन दो खण्डों के अतिरिक्त इस सर्वेक्षण में अन्य संग्रह भी है जिनमें समस्त सर्वेक्षण के लिए वृहत्योग एवं लघुयोग (Addenda Majora and minora) तथा शोधनीय सामग्री (Corrigenda) है। वृहत्योग के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण सामग्री जोड़ी गयी है। यह विशेष रूप से उन भाषाओं के विवरण रूप में है जो सर्वेक्षण के विविध खण्डों के प्रेस में चले जाने के बाद प्राप्त हुई है। केवल इस प्रकार से ही मैं सर्वेक्षण के पुराने खण्डों को पूर्ण बनाने में समर्थ हो सका हूँ। लघु शोधनीय-योग (The Addenda et Corrigenda Minora) के अन्तर्गत [illegible] विवरण के साथ-साथ प्रेस तथा इसी प्रकार की अन्य अशुद्धियों को शुद्ध किया गया है। इनके पृष्ठ अलग-अलग छापे गये हैं ताकि इन्हें काटकर सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डों में यथास्थान जोड़ा जा सके।

अन्त में तीन परिशिष्ट भी जोड़े गये हैं। इनमें, प्रथम परिशिष्ट में भारत की सभी भाषाओं की वर्गीकृत सूची है। इसके साथ ही सर्वेक्षण के लिए प्राप्त आंकड़ों की सन् १९२१ की जनगणना के आंकड़ों से तुलना की गयी है। दूसरे परिशिष्ट में उन सभी भारतीय भाषाओं की सूची प्रस्तुत की गयी है जिनके ग्रामोफोन रेकार्ड इस देश में तथा पेरिस में उपलब्ध हैं। तीसरे परिशिष्ट में उन सभी भारतीय भाषाओं के नाम हैं जिन्हें मैं एकत्र कर सका हूँ। मैं आशा करता हूँ कि जो लोग भारत की किसी अपरिचित भाषा का नाम जानना चाहेंगे उनके लिए यह परिशिष्ट, संदर्भ रूप में, लाभदायक सिद्ध होगा। इस परिशिष्ट में वस्तुतः सर्वेक्षण के दूसरे खण्ड से लेकर नवें खण्ड तक के विषय समाविष्ट हैं।

इस खण्ड का एक दूसरा भाग प्रेस में है। इसमें ३६८ भाषाओं एवं बोलियों के १६७ चुने हुए शब्दों की सूचियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि भाषा-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए यह अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

लंदन के प्राच्य विद्या विभाग (School of Oriental Studies) के विद्वान् प्रो० टर्नर इसका तीसरा भाग भी तैयार करने में संलग्न हैं। यह भारतीय आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक कोष होगा जिसका भाषा-शास्त्री लोग विशेष रूप से उपयोग कर सकेंगे। यह भविष्य में प्रकाशित होगा और तब इस सर्वेक्षण का कार्य पूर्ण एवं समाप्त होगा।

सर्वेक्षण का यह कार्य लगभग तीस वर्षों तक चलता रहा और अब कृतज्ञता की अनुभूति से मैं इस कार्य को समाप्त कर रहा हूँ। इस प्राक्कथन के बाद मेरी लेखनी विश्राम ले रही है। बिना किसी नम्रता-प्रदर्शन के मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं है कि इस सर्वेक्षण की त्रुटियों से अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा मुझे अधिक अवगत है। दूसरी ओर इस गर्वोक्ति के लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ कि इस सर्वेक्षण के रूप में भारत में जो कार्य हुआ वह संसार के किसी अन्य देश में नहीं हुआ, तथ्य की बात कही है। अब इस प्राक्कथन के साथ मैं इस कार्य से विदाई लेता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि भारतीय विद्वान् इस सर्वेक्षण के गुण-दोषों पर विचार करेंगे, मेरी त्रुटियों के साथ सहानुभूति प्रकट करेंगे एवं इसकी विशेषताओं को अपनी दृष्टि में रखेंगे।

जार्ज ए० ग्रियर्सन

अनुवादक के दो शब्द

आज से लगभग तीन वर्ष पूर्व, यू० पी० सरकार की हिन्दी-समिति की ओर से ग्रियर्सनकृत "भाषा-सर्वेक्षण" के प्रथम खण्ड के प्रथम भाग के अनुवाद का भार मुझे सौंपा गया था। इस कार्य को सम्पन्न करते हुए आज मैं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। भारतीय सरकार ने ग्रियर्सन के इस ग्रंथ का प्रकाशन, सन् १९२७ ई० में किया था। तब से भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में अनेक नयी खोजें हुई हैं किन्तु उनका ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत किये परिणामों पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है। सच बात तो यह है कि भाषाशास्त्र के छात्रों एवं विद्वानों के लिए ग्रियर्सन की इस कृति का आज भी उतना ही महत्त्व है जितना आज से तीस वर्ष पूर्व था। विशेषज्ञों के अतिरिक्त, सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में, सामान्य पाठकों के लिए भी, यह कृति कम उपयोगी नहीं है क्योंकि इसके परिशिष्ट में भारत की समस्त भाषाओं एवं बोलियों का संक्षिप्त परिचय है।

जिस समय भाषा-सर्वेक्षण का कार्य चल रहा था तथा इस खण्ड का प्रकाशन हुआ था उस समय पश्चिमी पंजाब से पूर्वी बंगाल तक भारत एक देश था, किन्तु बाद में देश के विभाजन के फलस्वरूप पश्चिमी पंजाब, सिन्ध तथा पूर्वी बंगाल के राज्य पाकिस्तान के अधिकार में चले गये। चूँकि भाषा की दृष्टि से भारत तथा पाकिस्तान में कोई पार्थक्य नहीं है अतएव इस अनूदित ग्रंथ में उन भाषाओं एवं बोलियों को छोड़ना उचित नहीं समझा गया जो आज पाकिस्तान में प्रचलित हैं।

यहाँ दो शब्द अनुवाद के सम्बन्ध में भी आवश्यक हैं। ग्रियर्सन की अंग्रेजी की शैली पुरानी है। वे बड़े लम्बे-लम्बे वाक्यों के प्रयोग के अभ्यस्त हैं। विषय की दुरूहता के कारण, विविध स्थानों पर, उनकी यह शैली और भी जटिल एवं कठिन हो गयी है। ऐसे स्थलों पर मैंने लम्बे वाक्यों को तोड़कर मूल-भाव को ही सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। बहुत सम्भव है कि इस प्रयत्न में, कई स्थानों पर मुझसे त्रुटि हो गयी हो। विद्वान् पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि इस सम्बन्ध में वे अपने सुझाव भेजने का कष्ट करें जिससे अगले संस्करण में आवश्यक संशोधन किया जा सके।

अन्त में मैं उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी-समिति के अध्यक्ष डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी तथा उसके सदस्य पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानता हूँ जिनकी प्रेरणाओं एवं प्रेमपूर्ण तकाजों के कारण ही

में यह कार्य सम्पन्न कर सका हूँ। पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में मुझे अपने छात्र श्री अमर बहादुर सिंह एम० ए०, श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय एम० ए० से विशेष सहायता मिली है। इनको मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ।

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है, ग्रियर्सनकृत 'भाषा-सर्वेक्षण' ग्यारह खण्डों तथा चौबीस भागों में प्रकाशित हुआ है। इसके पृष्ठों की संख्या कई सहस्र है। भाषा एवं बोलियों की सीमा को प्रदर्शित करने वाले इसमें अनेक मानचित्र भी हैं। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि भाषा-सम्बन्धी यह समस्त सामग्री हिन्दी में उपलब्ध की जाय। इसके लिए योजना बनाकर कार्य करने की आवश्यकता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी-प्रेमियों एवं विद्वानों का ध्यान इस ओर जायगा और वे इसके लिए प्रयत्न भी करेंगे।

अल्लोपीबाग, प्रयाग

उदयनारायण तिवारी

अनुलिपि की प्रणाली

ग्रियर्सनकृत मूल 'भाषा-सर्वेक्षण' अंग्रेजी में है अतएव इसमें भारतीय भाषाओं एवं बोलियों के नमूने नागरी तथा विभिन्न प्रादेशिक लिपियों के अतिरिक्त रोमन में भी प्रस्तुत किये गये हैं। इसके लिए लेखक को अनुलिपि की एक विशेष प्रणाली अपनानी पड़ी है। चूंकि नागरी ध्वन्यात्मक लिपि है अतएव भाषा-सम्बन्धी नमूनों को इसमें लिखने में कोई कठिनाई नहीं हुई है। फिर भी कुछ बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। बात यह है कि उड़िया तथा नेपाली को छोड़कर, प्रायः सभी भारतीय आर्य भाषाओं के व्यञ्जन से अन्त होने वाले शब्दों से अन्तिम स्वर का लोप हो गया है किन्तु लिखने की प्रणाली अभी पुरानी ही है। उदाहरण स्वरूप हिन्दी के 'चावल', 'दाल' शब्दों में 'ल' स्वरहीन हैं किन्तु ये लिखे स्वरयुक्त ही जाते हैं। इसी प्रकार हिन्दी ह्रस्व 'ए' तथा 'ओ' के लिखने के लिए तथा स्वराघात प्रदर्शित करने के लिए भी कोई चिह्न नहीं हैं। इधर भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में, हिन्दी में इनके लिए नवीन चिह्नों का प्रयोग किया गया है। सुविधा की दृष्टि से इस पुस्तक में भी यही चिह्न अपनाये गये हैं।

विषय-सूची

भूमिका

सर्वेक्षण का सामान्य परिणाम

अध्याय १

पूर्वकथन

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

द्रविड़ परिवार १५०-१७२

अध्याय ८

भारोपीय परिवार

आर्यशाखा १७३-१८६

अध्याय ९

ईरानी शाखा १८७-९७

अध्याय १०

दर्दीय अथवा पिशाच शाखा १९८-२१०

अध्याय ११

अध्याय १२

अध्याय १३

अध्याय १४

अध्याय १५

अध्याय १६

अध्याय १७

(नोट—पूरक तथा परिशिष्ट इस खण्ड के दूसरे भाग में प्रकाशित होंगे)

चित्रों, मानचित्रों आदि की सूची

भूमिका

भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में पहले की खोजें

अलबरूनी

आदि काल से ही भारतवर्ष की भाषाएं उनके बोलनेवालों के लिए अनुराग की वस्तु रही हैं, किन्तु विदेशियों के लिए उनका गम्भीर अध्ययन तीन सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। यहाँ तक कि सुप्रसिद्ध विद्वान् अलबरूनी ने अपने तत्कालीन भारत (लगभग १०३० ईसवी) सम्बन्धी विवरण में केवल संस्कृत तथा उसकी कठिनाइयों का उल्लेख किया है। उस समय तक संस्कृत मृत भाषा हो चुकी थी। सजीव भाषाओं के सम्बन्ध में लिखते हुए उसने केवल इतना ही कहा है[१] "इसके अतिरिक्त भाषा का एक उपेक्षित एवं बोलचाल का रूप उपलब्ध है जिसका जनसाधारण में प्रचलन है, दूसरा श्रेष्ठ तथा संस्कृत रूप है जिसका प्रयोग उच्च तथा सुशिक्षित वर्ग के लोग करते हैं। इस दूसरी भाषा का ही अधिक अध्ययन-अध्यापन होता है।"

अमीर खुसरो

अमीर खुसरो परम्परागत तुर्क थे लेकिन वे भारत में पैदा हुए थे। उनका समय सन् १३१७ ईसवी के आसपास है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अधिक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।[२] वे लिखते हैं—"चूँकि मैं भारत में पैदा हुआ हूँ अतः मैं यहाँ की भाषा के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। इस समय, यहाँ प्रत्येक प्रदेश में, ऐसी विचित्र एवं स्वतंत्र भाषाएँ प्रचलित हैं जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं है। ये हैं — हिंदी (सिन्धी), लाहौरी (पंजाबी), कश्मीरी—डूगरों (जम्मू के डोगरों) की भाषा, धूर समुन्दर (मैसूर की कन्नड भाषा), तिलंग (तेलुगु), गुजरात, मलाबार (कारो-मण्डल समुद्र तट की तमिल), गौड़ (उत्तरी बँगला), बंगाल अवध (पूर्वी-हिन्दी),

१. सचाऊ कृत अनुवाद १, १८

२. इलियट 'भारत का इतिहास' ३, ५६२

दिल्ली तथा उसके आस-पास की भाषा (पश्चिमी हिन्दी)। ये सभी हिन्दी की भाषाएँ हैं जो प्राचीन काल से ही जीवन के सामान्य कार्यों के लिए, हर प्रकार से, व्यवहृत होती आ रही हैं।

एक अन्य स्थान पर हिन्दी की चर्चा करते हुए अमीर खुसरो लिखते हैं—"यह हिन्द की भाषा है।" ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ हिन्दी से, वास्तव में, खुसरो का संस्कृत से तात्पर्य है न कि उस भाषा से जिसे आज हम इस नाम से अभिहित करते हैं। आगे इसी सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"यदि तथ्य को ध्यान में रखकर गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी, पारसी (फारसी) से निम्न कोटि की नहीं है। यह अरबी की अपेक्षा, जिसका सभी भाषाओं में प्रमुख स्थान है, निम्नकोटि की है। भाषा के रूप में अरबी का एक पृथक स्थान है और कोई भी अन्य भाषा इसके साथ सम्मिलित नहीं की जा सकती। शब्द-भंडार की दृष्टि से पारसी अपूर्ण भाषा है और बिना अरबी की छौंक (बघार) के यह रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकती। चूँकि अरबी विशुद्ध तथा पारसी मिश्रित भाषा है-अतः यह कहा जा सकता है कि एक आत्मा है तो दूसरा शरीर। अरबी में कुछ भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता किन्तु फारसी में सब प्रकार का सम्मिश्रण संभव है। यमन के बेश-कीमती पत्थर (कार्नीलियन) को दारी के मोती के समकक्ष रखना उचित नहीं है।

"हिन्द की भाषा अरबी के समान है क्योंकि इसमें भी किसी प्रकार का मिश्रण नहीं किया जा सकता। यदि अरबी में व्याकरण तथा वाक्य-विन्यास है तो हिन्दी में भी उससे एक अक्षर कम नहीं है। यदि आप यह प्रश्न करें कि हिन्दी में भी क्या अलंकार शास्त्र तथा विचार-प्रकाशन के अन्य विज्ञान हैं तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में भी वह किसी तरह न्यून नहीं है। जिस किसी व्यक्ति ने इन तीनों भाषाओं को अधिकृत कर लिया है वह यह कह सकता है कि मैं इस सम्बन्ध में कुछ भी गलत तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बात नहीं कर रहा हूँ।"

यहाँ अलबरूनी[1] ने जो कुछ कहा है उससे हमें कहीं अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है। उसने ऐसा लिखा है मानों बोलचाल की भाषा के रूप में सम्पूर्ण भारत में एक ही भाषा प्रचलित थी, यद्यपि निःसन्देह उसकी जानकारी अच्छी थी। दूसरी

१. इलियट, वही पृष्ठ ५५६

बात यह है कि उसने दो बोलियों के साथ सात भारतीय आर्य भाषाओं एवं तीन प्रमुख द्रविड़ भाषाओं की पूरी सूची प्रस्तुत की है।

अबुल फजल

यद्यपि अबुल फज़ल विदेशी नहीं था, फिर भी इसी विषय के सम्बन्ध में उसने "आइने अकबरी"[1] में जो कुछ लिखा है उसे मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। भारत में पैदा होने के बावजूद उसने इस विषय में हिन्दू दृष्टिकोण से विचार नहीं किया है —

"हिन्दुस्तान के विस्तृत भू-भाग में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं। इनमें पर्याप्त अन्तर है तथा ये परस्पर बोधगम्य भी नहीं हैं। भाषा के वे रूप जो बोधगम्यता की दृष्टि से एक दूसरे से पृथक हैं, इस प्रकार हैं—दिल्ली की बोली (पश्चिमी-हिन्दी), बंगाल (बँगला), मुल्तान (लहँदा), मारवाड़ (पश्चिमी-राजस्थानी), गुजरात (गुजराती), तेलंगाना (तेलुगू), मरहट्टा (मराठी), कर्नाटिक (कन्नड़), सिन्द (सिन्धी), शाल का अफगान (पश्तो), बलूचिस्तान (बलूची), तथा कश्मीर (कश्मीरी)।"

यद्यपि इसमें कतिपय प्रमुख नामों यथा तमिल का उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी इस स्थान पर एक प्रकार से पूरी सूची उपलब्ध है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि यह केवल सूची मात्र ही है और इसमें कुछ अधिक बातों का जिक्र नहीं है। मुझे यहाँ की भाषाओं के सम्बन्ध में किसी भी प्राच्य लेखक द्वारा लिखित, समस्त अथवा पृथक रूप से, कोई भी अन्य विवरण उपलब्ध नहीं हुआ।[2]

१. जारेट कृत अनुवाद, ३, पृ० ११९.

२. भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में यूरोपीय विवरणों की ओर ध्यान देने से पूर्व, अफ़गानों में प्रचलित एक अन्य और सबसे पहले के भाषा सर्वेक्षण के सम्बन्ध में एक मनोरंजक गल्प उद्धृत किया जाता है। अफ़गानों की पश्तो भाषा कर्ण-कटु कही गयी है। ऐसा कहा जाता है कि राजा सोलोमन ने एक बार अपने वजीर आसफ़ को संसार भर में बोली जानेवाली भाषाओं के नमूने इकट्ठा करने को भेजा। वजीर अपना कार्य पूरा करके लौटा। भरे दरबार में प्रत्येक भाषा के वाक्यों का अनुवाचन करते हुए वह पश्तो पर पहुँचा। वह थोड़ी देर के लिए रुका और एक बर्तन में कंकड़ रखके उसको हिलाया और फिर बोला कि इससे जो ध्वनि निकलती है वह अफ़गानी (पश्तो) के अतिनिकट की है। यह स्पष्ट है कि सर्वबुद्धि सम्पन्न सोलोमन भी भविष्य में डेनियल जान्स द्वारा आविष्कृत अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद की प्रणाली का अनुमान न कर सका।

टेरी

जहाँ तक मुझे जानकारी है, आधुनिक भारतीय भाषाओं के विषय में जो सबसे प्रारम्भिक विवरण यूरोप में मिलता है वह एडवर्ड टेरी द्वारा लिखित पूर्वी द्वीप-समूह की यात्रा (वाएज टु द ईस्ट इंडीज) नामक पुस्तक में उपलब्ध है। यह पुस्तक सन् १६५५ ईसवी में प्रकाशित हुई थी। इसमें यह बतलाया गया है कि "हिन्दुस्तान देश की ग्राम्य (बोलचाल की) भाषा का फारसी तथा अरबी से अधिक साम्य है किन्तु उच्चारण में यह अधिक सरल तथा प्रिय प्रतीत होती है। यह एक ऐसी भाषा है जिसमें प्रवाह है तथा थोड़े शब्दों में इसमें अनेक बातों को प्रकट करने की शक्ति है।² हमारी ही तरह बायीं से दाहिनी ओर लिखते तथा पढ़ते हैं। उन दिनों के कतिपय अंग्रेज व्यापारी निश्चित रूप से प्रवाह के साथ हिन्दोस्तानी बोल सकते थे।³ मुगल दरबार में जिस समय

१. आगिल्वी के 'एशिया' से उद्धृत, नीचे देखो। जो कुछ यहाँ कहा गया है वह सर्वेक्षण के अन्य खण्डों और मेरी अन्य कृतियों में भी मिलेगा। विभिन्न वाक्यों को यहाँ एक सामान्य विचार के रूप में रखा गया है।

२. कई पीढ़ियों पूर्व से हिन्दुस्तानी की इसी रूप में बहुत प्रशंसा है; किन्तु वास्तव में यह इस प्रशंसा की पात्र नहीं। इस सम्बन्ध में कलकत्ता हाई-कोर्ट के प्रथम अंग्रेज जज की एक कहानी प्रसिद्ध है। मृत्यु दण्ड देते समय उसने अंग्रेजी में उसके अपराध की गुरुता के विषय में, अपराधी के पिता के दुःख के सम्बन्ध में तथा यदि वह अपने किये पर पश्चात्ताप नहीं करता तो दूसरे संसार में उसकी क्या गति होगी, इस सम्बन्ध में कहा। किन्तु इसका हिन्दी में केवल छः शब्दों में ही अनुवाद इस प्रकार हुआ 'जाओ, बदज़ात, फाँसी का हुक्म हुआ।' इसे सुनकर इस अंग्रेज जज ने इस भारतीय भाषा की विचित्र संक्षिप्तता की बड़ी प्रशंसा की।

३. "हाब्सन-जाब्सन"—देखो हिन्दुस्तानी—यहाँ टाम-कोरियट के सम्बन्ध में निम्नलिखित कहानी दी गयी है। यह कहानी 'टेरी' के विवरण से ली गयी है। घटना की तिथि १६१६ ई० है—"इसके पश्चात् उन्होंने (श्री टाम कोरियट ने) इन्दोस्तान अथवा गँवारी भाषा में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली। श्री राजदूत महोदय (श्री कोरियट) के निवासगृह में एक ऐसी स्वतंत्र भाषिणी महिला थी, जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक डाँट डपट और हो हल्ला किया करती थी। एक दिन उन्होंने (श्री राजदूत महोदय ने) उसे उसी की भाषा में डाँटा और आठ बजते-बजते उसकी ऐसी गति बना दी कि वह एक शब्द भी न बोल सकी।"

सर टामस रो ने टामस कोरियट को उपस्थित किया था, उस समय कोरियट ने शाहंशाह को फारसी में सम्बोधित किया था।

फ्रेयर

इसी प्रकार फ्रेयर[1] (सन् १६७३ ई०) अपने पूर्वी भारत तथा फारस के नये विवरण (न्यू एकाउण्ट आव ईस्ट इण्डिया एण्ड पर्शिया) में लिखते हैं "यहाँ अदालत की भाषा फारसी है किन्तु सामान्य भाषा इन्दोस्तान (हिन्दुस्तानी) है। (इसे लिखने के लिये कोई विशेष लिपि नहीं है किन्तु लिखित भाषा 'बनिया' कहलाती है) यह भारत की अन्य बोलियों की भाँति फारसी तथा स्लाव का सम्मिश्रण है।

पिट्रो डिला वैले

टेरी तथा फ्रेयर से पूर्व, उत्तर-भारत की प्रमुख लिपि, नागरी के भी उल्लेख मिलते हैं। प्रसिद्ध यात्री पिट्रो डिला वैले[2] (सन् १६२३ ई०) ने इसे "एक प्राचीन-लिपि" की संज्ञा दी है जो विद्वानों को ज्ञात थी और जिसका प्रयोग ब्राह्मण लोग किया करते थे। अन्य ग्राम्य लिपियों से इसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए वे इसे 'नागरी' कहा करते थे।

हेनरिक राथ

फिर, फादर (बड़े पादरी) हेनरिक राथ जो आगरा के 'जेसुइट कालेज' के सन् १६५३ से लेकर १६६८ तक सदस्य भी रह चुके थे, सन् १६६४ ई० में, रोम में, अथनाशियस किर्चर से मिले थे। उन्होंने वहाँ उसी लिपि के अनेक नमूने किर्चर को दिये थे, जो बाद में, सन् १६६७ ईसवी में, उनके "चाइना इलस्ट्राटा" में प्रकाशित हुए थे। इनमें से एक लैटिन में लिखित ईश्वर की प्रार्थना का नागरी लिप्यन्तर था। हम आगे देखेंगे कि अनेक वर्षों तक लोग इसे वास्तविक संस्कृत का नमूना समझते रहे।

१. इसके लिए भी देखो "हाब्सन-जाब्सन"—५०, सी०।

२. बिअगिग, ३, ५७, यह उद्धरण डलगैडो कृत 'ग्लासेरिओ लुसो एशियाटिको' से लिया गया है, यहाँ देखो 'देवनागरिको'।

ओगिल्बी का 'एशिया'

अब हम ओगिल्वी के 'एशिया' पर दृष्टिपात करते हैं। इसका पूरा शीर्षक 'एशिया' प्रथम भाग है और इसके साथ यह विवरण दिया हुआ है—

"इसमें फारस तथा उसके कई प्रदेशों का यथातथ्य वर्णन है; इसमें महान् मुगल के विस्तृत साम्राज्य, भारत के अन्य कई भागों, राज्यों, क्षेत्रों एवं उनके नगरों, कस्बों तथा महत्वपूर्ण स्थानों के नाम एवं वर्णन भी है। इसमें यहाँ के निवासियों की विभिन्न रीतियों, आचरणों, धर्मों एवं भाषाओं का भी वर्णन है; इसमें देश की सरकारों, व्यापार के तरीकों, एवं प्रत्येक देश के पौधों और पशुओं के सम्बन्ध में भी लिखा गया है। इसकी सामग्री प्रामाणिक लेखकों की कृतियों से संकलित एवं अनूदित की गयी है तथा बाद के नवीन विचारों एवं अनुभवों को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है; इसमें उपयुक्त टिप्पणियाँ, विशिष्ट मानचित्र तथा स्थापत्य सम्बन्धी चित्र भी दिये गये हैं; इसके प्रणेता महामहिम सम्राट के विश्व-वृत्तांत-लेखक, भौगोलिक मुद्रक एवं ज्ञानाचार्य श्री जान ओगिल्वी है। यह पुस्तक लंदन के व्हाइट फ्रायर में, लेखक के घर पर ही सन् १६७३ ई० में प्रकाशित हुई थी।"

इसके लेखक अंकल ओगिल्बी थे जिनका उल्लेख ड्राइडन की कृति 'मैकफ्लैकनो' तथा पोप कृत 'डंसियड' में उपलब्ध है। ओगिल्बी, बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। ये कवि, वर्जिल एवं होमर की कृतियों के अनुवादक, नाटककार तथा भूगोलवेत्ता थे। आपने अपनी इस बृहदाकार कृति को विभिन्न रोचक सामग्रियों से विभूषित किया है। आप ताड़पत्र पर लोहे की शलाका से खुरच कर लिखने की दक्षिण-भारतीय प्रणाली से परिचित थे (पृष्ठ १२९–१३४)। आधुनिक उड़िया तथा अन्य दक्षिण भारतीय लिपियों के वृत्ताकार अक्षरों की आकृति का मूल उद्गम वस्तुतः यही प्रणाली है। वे आगे लिखते हैं—

"जहाँ तक भारत के लोगों की भाषा का सम्बन्ध है, यह केवल सामान्य रूप से, मूरों तथा मुसलमानों की भाषा से भिन्न है, लेकिन उनमें भी स्वतः विभिन्न बोलियाँ हैं। उनकी सभी भाषाओं में ऐसी कोई भी भाषा नहीं है जो मलय (जिसका आगे विस्तृत वर्णन किया जायगा) से अधिक प्रचलित हो। अतः इस स्थान पर उनके कुछ प्रमुख शब्दों का अँग्रेजी में अनुवाद करना अनुचित न होगा।

डेले वैले के अनुसार भारत के सभी प्रदेशों में एक ही भाषा है, यद्यपि उनके अक्षर विचित्र हैं। विभिन्न प्रदेशों के लोग एक दूसरे की भाषा समझ तो लेते हैं, फिर भी लिपियाँ भिन्न हैं।

शिक्षित वर्ग अथवा ब्राह्मणों की भाषा एवं अक्षरों को किर्चर ने 'नागर' कहा है। नागर अक्षर पवित्र माने जाते हैं और उनका उपयोग ब्राह्मण परिवार एवं जाति के लोग उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार यूरोप के शिक्षित वर्ग के लोग लैटिन का प्रयोग करते हैं।

उनके अक्षर स्पष्ट तथा बड़े होते हैं और अधिक स्थान घेरते हैं। वे सूरत के बनिये व्यापारियों द्वारा व्यवहृत अक्षरों से भिन्न हैं।"

तत्पश्चात् वे ऊपर के समान ही टेरी का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं,

"भारत तथा मुगल राजाओं के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले देशों में भारतीय भाषा की अपेक्षा फारसी अधिक प्रचलित है, क्योंकि सामान्यतः दरबार के अमीर-उमरा लोग इसका उपयोग करते हैं और यह सभी सार्वजनिक कार्यों एवं लिखावट में प्रयुक्त होती है। चूँकि मुगल राजकुमारों द्वारा, सर्वप्रथम फारसी तातार तथा समरकन्द से लायी गयी है अतएव इस सम्बन्ध में किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

एक अन्य लेखक, पेरूशी के अनुसार, असभ्य मुसलमान तुर्की भाषा का व्यवहार करते हैं लेकिन वे इसे उतने प्रवाह के साथ नहीं बोल पाते जितने जन्मजात तुर्क। पढ़े-लिखे लोग तथा मुसलमान धर्मगुरु अरबी का प्रयोग करते हैं जिसमें अलकुरान तथा अन्य पुस्तकों की रचना हुई है।

लेकिन किसी भी भाषा का उतना व्यापक विस्तार तथा उपयोग नहीं है जितना मलय का। मलय भाषा का उद्गम-स्थान मलक्का नगर है। सुंडा के समीप स्थित सभी द्वीपों एवं देशों में यह बोली जाती है। व्यापारी लोग इस भाषा का प्रमुख रूप से उपयोग करते हैं।

लिनशाट का कहना है कि विभिन्न राष्ट्रों के लोगों ने जो नगर-निर्माण कला में दक्ष थे तथा जो मलक्का में बस गये थे, इस मलय भाषा को सभी भारतीय भाषाओं से अद्वितीय बनाया। इस भाषा में सभी अन्य पड़ोसी देशों की भाषाओं की अपेक्षा अधिक मधुर शब्द तथा विचार-प्रकाशन की स्वस्थ पद्धति है जो इसे सम्पूर्ण भारत की भाषाओं में अधिक अच्छी, उपयोगी, हृदयग्राही तथा सुगमता से सीखने योग्य बनाती है। पड़ोसी देशों से यहाँ व्यापार के लिए आनेवाला प्रत्येक व्यापारी भी इस भाषा को अवश्य सीख लेता है।"

मलय के भारत की राष्ट्रभाषा होने की असाधारण चर्चा, औगिल्बी तथा उसके बाद भी बहुत समय तक, व्यापक रूप से प्रचलित रही। स्पष्ट रूप से इस भ्रम का

कारण यह था कि डचपूर्वी द्वीप समूह को भारत मान लिया गया था। विलकिन्स ने चेम्बरलेन की "सीलोज" नामक पुस्तक के आमुख में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि उन्हें बंगला भाषा में ईश्वर की प्रार्थना (लार्ड्स प्रेयर) का पाठ उपलब्ध न हो सका क्योंकि यह भाषा लुप्तप्राय हो रही थी और उसका स्थान मलय भाषा ग्रहण कर रही थी। यही कारण है कि उन्होंने बंगला के स्थान पर भ्रष्ट बंगलाक्षरों में मलय पाठ दिया है। यही मलय-बंगला नमूना सन् १७४८ में लिखित फिट्ज "स्प्राखमेस्टर" में उपलब्ध है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय मलय भाषा के सम्बन्ध में लोगों की कैसी विचारधारा थी।

अन्द्रियस् मूलर

हेनरिकस वान रीड टाट ड्राकेन्स्टीन कृत "भारत के मलाबार के उद्यान" (होर-टस इंडिकस मालाबारिकस, १६७८) तथा शतरंज विषय पर टामस हाइड की कृति "बादशाह के खेल का इतिहास" (१६९४) पर दृष्टिपात करने के पश्चात्, जिनमें नागरी वर्णमाला के नमूने दिये गये हैं, हम अब अन्द्रियस मूलर की "ईश-प्रार्थना" (लार्ड्स प्रेयर) संबंधी पाठ के संग्रह पर आते हैं। यह टामस लुडेकेन के छद्म नाम से लिखा गया है तथा बर्लिन में सन् १६८० में प्रकाशित हुआ था।[1] इसका पूरा शीर्षक इस प्रकार है—

> प्रार्थनाओं की प्रार्थना एवं प्रार्थनाओं में श्रेष्ठतम पवित्र प्रार्थना, शत प्रतिशत प्रामाणिक, इसका पाठ पूर्व पाठों से अधिक शुद्ध है तथा इसे पहले के संग्रहों से न लेकर उन विश्वस्त लेखकों की कृतियों से संग्रह किया गया है जो भाषा के सम्बन्ध में वास्तव में अधिकारी हैं। इसके सम्पादक बारनिमस हैगियस हैं तथा इसका पुनः सम्पादन टामस लुडकेन ने किया है। रंगियन प्रेस से सन् १६८० में इसका प्रकाशन हुआ है।

इसमें बारनिमस हैगियस जिसका एक नकाशिाए के रूप में जिक्र किया गया है स्वतः मूलर का दूसरा नाम है। इस संग्रह में राथ कृत 'पैटरनोस्टर' को मूल संस्कृत रूप में पुनर्मुद्रित किया गया था और इसे मूल लैटिन का लिप्यन्तर नहीं बतलाया गया था।

१. उन दिनों 'लार्ड्स प्रेयर' के इस प्रकार के संकलन बहुधा हुआ करते थे। फ्रिट्ज ने अपने स्प्राख मेस्टर में सन् १७४८ के पूर्व कम से कम पचपन ऐसे संकलनों का उल्लेख किया है। वास्तव में ये तुलनात्मक भाषाशास्त्र के अध्ययन के प्रथम सोपान थे।

कैपुचिन फ्रांसिसकस एम० तुरोनेंसिस के लेक्सिकन लिंगुआ हिन्दोस्तानिका (१७०४), जान केटलर के हिन्दुस्तानी भाषा के व्याकरण एवं शब्दकोष (ग्रैमर एण्ड वाकेबुलरी आफ लिंगुआ हिन्दोस्तानिका) (लगभग १७१५), जिगेनबाल्ग एवं बेस्ची के तमिल व्याकरणों (क्रमशः १७१६ तथा १७२८) में भारतीय भाषाओं के छिटपुट विवरणों पर विस्तृत रूप से प्रकाश न डालते हुए अब हम अपनी रायल सोसाइटी के एक सदस्य जान चेम्बरलेन की "सिलोज" पुस्तक में (एमस्टर्डम १७१५) 'ईश-प्रार्थना' (लार्ड्स प्रेयर) के रूपान्तर सम्बन्धी संकलन की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख कर रहे हैं।

चेम्बरलेन का सीलोज

इसकी भूमिका काप्टिक भाषा के विद्वान् डेविड विलकिन्स ने लिखी है, जिन्होंने स्वतः इस कार्य में सक्रिय रूप से योग दिया है। हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि पुस्तक में जहाँ एक ओर मलय भाषा के भारत में प्रचलित होने की गलती का समर्थन किया गया है वहाँ उसमें राथ के "पैटरनोस्टर" का उद्धरण भी प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसकी भाषा को संस्कृत नहीं कहा गया है और इस प्रकार इस सम्बन्ध में मूलर ने जो गलती की थी वह नहीं होने पायी है।

फ्रिट्ज का स्प्राखमेस्टर

यहाँ पर हम काल-क्रम के हिसाब से किये गये उस अन्तिम प्रयत्न पर विचार करेंगे जिसमें केवल "ईश-प्रार्थना" (लॉर्ड्स प्रेयर) के रूपान्तरों को संकलित कर भाषा की तुलना की गयी थी। यह जान फेडरिक फ्रिट्ज का 'स्प्राखमेस्टर' है जो सन् १७४८ में लीइपजिग में प्रकाशित हुआ था और जिसकी भूमिका प्रसिद्ध भारतीय धर्म-प्रचारक शुल्ज ने लिखी थी। इसके मुख-पृष्ठ पर इस प्रकार का उल्लेख है—यह पूर्वी तथा पश्चिमी भाषा का शिक्षक है। इसमें उच्चारण सहित एक सौ वर्ण (अक्षर) दिये गये हैं। इस प्रकार यह यूरोप, एशिया, अफ्रीका एवं अमेरिका के लोगों के लिए लाभदायक है। इसमें विभिन्न भाषाओं तथा विभिन्न देशों में प्रचलित अंकों का चार्ट भी दिया गया है जिसकी सहायता से इन सबको केवल एक बार देखकर ही समझा जा सकता है। विशेष रूप से इसमें ईश-प्रार्थना (Lords-Prayer) के रूप २०० भाषाओं एवं बोलियों में एवं इन भाषाओं के अक्षरों में भौगोलिक क्रम से सजाकर रखे हुए हैं। इन्हें परम विख्यात विद्वानों से संगृहीत किया गया है

और इनके ताम्रपत्र भी बनाये गये हैं। यह लाइपजिक से क्रिश्चियन फ्रेडरिक ग्रेसनर द्वारा सन् १७४८ में प्रकाशित किया जा रहा है।[1]

फिट्ज की पुस्तक अपने पूर्ववर्ती चेम्बरलेन की पुस्तक से काफी अच्छी है। इसमें विभिन्न वर्ण-मालाओं के साथ १७२ पृष्ठ हैं जिनमें भारत की भी अनेक वर्ण-मालाएं शामिल हैं। ५६ पृष्ठों की तालिका में प्रथम १० अंकों को दिखाया गया है और १२८ पृष्ठों में "ईश-प्रार्थना" (लार्ड्स प्रेयर) के रूपान्तरों से संबंधित अनेक पट्टिकाएं हैं। भारतीय वर्णमालाओं में, इसमें 'बंगला', 'तमिल', 'बर्मी', 'ग्रंथ', 'तेलुगु', 'सिंहली' तथा नागरी लिपियों की व्याख्या की गयी है। भारतीय भाषा सम्बन्धी रूपान्तरों में लैटिन (नागराक्षरों में), संस्कृत, हिन्दुस्तानी, गुजराती, मराठी, कोंकणी, सिंहली, मलय (बंगलाक्षरों में), तमिल, तेलुगु, कन्नड तथा बर्मी हैं। इन विभिन्न रूपान्तरों में से कुछ को विभिन्न नामों के अन्तर्गत रखा गया है। परिशिष्ट के रूप में लेखक ने "पिता", 'स्वर्ग', 'पृथ्वी' तथा 'रोटी' शब्दों की इन भाषाओं में तुलनात्मक तालिकाएं प्रस्तुत की हैं। अपने समय में 'स्प्राखमेस्टर' एक अत्यधिक प्रशंसनीय कृति थी जो वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखी गयी थी।

लाक्रोज

मातुरिन वेस्सिए लाक्रोज सन् १६६१ ईसवी में नान्टे में पैदा हुए थे और सन् १६९७ में बर्लिन के एलेक्टर के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हुए थे। उनकी मृत्यु उसी नगर में सन् १७३९ में हुई थी। इस प्रसिद्ध विद्वान का कार्य-क्षेत्र बहुमुखी था। वे प्राच्य

१. Oriental and occidental language teacher which contains not only 100 alphabets with their pronunciation, being thus useful among most European, Asiatic, African and American peoples and nations. Also some polyglotic tables of different languages and numbers to be understood at a glance, particularly also the Lord's prayer in 200 languages and dialects with their respective script and reading arranged according to a geographical order, collected from the most trustworthy authorities and provided with important copper plate about them, Liepsig, to be had of Christian friedrich Gessnern 1748.

विद्या के ज्ञाता थे और यूरोप के अनेक विद्वानों से उनका बहुत पत्र-व्यवहार भी चलता रहता था। ये पत्र लाइपजिग में, सन् १७४२-४६ में लैटिन भाषा के तीन भागों में प्रकाशित हुए थे। ये बाजार में आज भी मिलते हैं। सन् १७१४ ई० में विलिकन्स ने चेम्बरलेन के "सीलोज" को तैयार करने में सहायता प्रदान करने के लिए इनक पास पत्र लिखा। इस प्रार्थना ने लाक्रोज को चेम्बरलेन से लम्बे पत्र-व्यवहार करने की प्रेरणा प्रदान की।[1] इन पत्रों में भाषा के अध्ययन सम्बन्धी सामान्य प्रश्नों तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की अनुपयोगिता के निराकरण विषयक बातों का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् उन्होंने इन पत्रों में संक्षिप्त रूप में उन विभिन्न भाषाओं के आपसी संबंधों का जिक्र किया है जिनकी उन्हें जानकारी थी। भारत की भाषाओं के बारे में आप लिखते हैं "मुझे इस देश की वर्ण-मालाओं के बारे में बहुत ही कम कहना है। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि ये संस्कृत से निकली हैं[2] जो फारस अथवा असीरिया की प्राचीन सेमेटिक वर्णमालाओं का मूल रूप है और जिसका उपयोग ब्राह्मण किया करते हैं। इन ब्राह्मणों से अन्य भारतीय जातियों ने उनके अन्ध विश्वासों को ग्रहण

१. देखो, थिसारेस एपिस्टोलिकस ला क्रोजियानस्, ३, ७८ तथा उसके आगे।

२. इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत के लिए हंस्कृत शब्द किर्चर के चाइना इलस्ट्राटा से लिया गया है। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। वहाँ पर इस शब्द की अखरौटी भी इसी रूप में है। लाक्रोज ने प्राचीनतम भारतीय लिपि की उत्पत्ति असीरिया की लिपि से बतायी है। (असीरिया की कीलक-मुख लिपि उन दिनों अज्ञात थी, अतएव उसकी ओर क्रोज का इशारा नहीं है, अपितु फोनेशिया लिपि की ओर है) वास्तव में जिस बात को आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन ने आज मूर्त रूप दिया है, उसे उसने अपनी दिव्य दृष्टि से उस युग में ही देख लिया था। आगे चल कर वह लिखता है कि भारत के लोगों ने लिपि के सम्बन्ध में वही काम किया है जो ग्रीक लोगों ने किया था। फोनेशिया की लिपि दायें से बायें लिखी जाती थी। किन्तु भारतीय लोगों ने उसे बदलकर बायें से दाहिने कर दिया है। जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि उस युग में लाक्रोज के सामने न तो अशोक के शिलालेख ही थे और न विचार करने के लिए मुबाइट प्रस्तर ही था, तब भी अनुमान से नहीं अपितु तर्क के द्वारा वह इस परिणाम पर पहुँच गया तब हम इस महान फ्रेन्च विद्वान के वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा भविष्य द्रष्टा होने की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

किया और साका[1] भी उन्हीं लोगों में से थे जिन्होंने पूर्व की जनता को अपने मिथ्या धर्मों के बन्धन में आबद्ध किया और स्वयं भी उन्हीं अन्धविश्वासों में पले। इस प्रकार ब्राह्मणों, मालाबार की जनता, सिंहली, स्यामी तथा जावा यहाँ तक कि बाली[2] की भाषा की भी जो लाओस, पेगू, कम्बोडिया तथा स्याम की पवित्र बोली है, वर्णमालाओं का क्रम समान ही है।[3] दक्षिण भारत की भाषाओं के बारे में लाक्रोज को जानकारी प्राप्त कराने वाले मुख्य व्यक्ति ट्रानक्वेबार स्थित डेनिश धर्मसंघ के जीगनबैल्ग को लिखे गये पत्रों का जिक्र करते हुए अब हम लाक्रोज के उस विस्तृत पत्र-व्यवहार का उल्लेख करेंगे जो उन्होंने थियोफिलस सीजफ्रेड बायर के साथ किया था।

बायर

बायर उस समय लाइपजिग में निवास कर रहे थे किन्तु बाद में वे पेट्रोग्राड चले गये। उनके प्रारम्भिक पत्रों में भारतीय लोगों के सम्बन्ध की कुछ ही बातें हैं क्योंकि उनमें मुख्यतः तांगु, मंगोलियन तथा चीनी भाषा का उल्लेख है। इसमें मार्च सन् १७१७ में एक मनोरंजक अनुच्छेद (पैराग्राफ) आया है जिसमें बायर ने लाक्रोज के उस सिद्धान्त की आलोचना की है जो ब्राह्मण वर्णमाला के उद्गम के सम्बन्ध में है।[4] इस प्रारम्भिक पत्र-व्यवहार में जिस एकमात्र भाषा का जिक्र किया गया है वह बंगला है।[5] संभवतः यूरोप में प्रकाशित पत्र में बंगला वर्णमाला का यह प्रथम उल्लेख है।

सेन्टपीटर्सबर्ग अकादमी

पीटर महान ने फ्रान्सीसी अकादमी के आधार पर सेण्टपीटर्सबर्ग में शाही विज्ञान अकादमी का शिलान्यास किया और सन् १७२५ ई० में सम्राज्ञी कैथेराइन ने उसका औपचारिक रूप से उद्घाटन किया। इस समारोह में सम्मिलित होने के लिए यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान् जिनमें बायर भी थे, आमंत्रित किये गये थे। पीटर द्वितीय ने इसकी

१. शाक्य अर्थात् बुद्ध।
२. स्याम के लोग "पाली" का उच्चारण इस रूप में करते हैं।
३. ये वाक्य उद्धरण नहीं हैं, अपितु लाक्रोज के कथन के संक्षिप्त रूप हैं।
४. थ् एपिस्टाफिका लाक्रोज १, १६
५. एपिस्टाफिका लाक्रोज १, २३; ३, २८

स्थायी आधार पर स्थापना की। सन् १७२८ ई० में, सन् १७२६ ई० से सम्बन्धित इसकी कार्यवाहियों का विवरण दो भागों में प्रकाशित हुआ जिसका प्राप्त होना अब मुश्किल है। सन् १७४१ में अकादमी में आग लग जाने के कारण करीब करीब सभी पुस्तकें नष्ट हो गयीं।

मेसर्सशिमिट्

सन् १७२७ में, डैनियल मेसर्सशिमिट् जिन्हें महान पीटर ने साइबेरिया की खोज करने का कार्य-भार सौंपा था, अपने साथ अन्य अमूल्य वस्तुओं के अतिरिक्त एक शिलालेख तथा चीनी में मुद्रित एक पुस्तक लेकर पेट्रोग्राड वापस आये। ये चीजें बायर को दे दी गयीं और उन्होंने इनका वर्णन अपनी विवरण-पुस्तक के तीसरे तथा चौथे भाग में किया है। शिलालेख में दो छोटी पंक्तियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक दो **तिब्बती-लिपियों** में है। वे यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

चित्र १

तिब्बती लिपि

बायर ने अपनी पुस्तक की सहायता से, जिसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा तथा अपने मंचू भाषा के ज्ञान के आधार पर इसे इस प्रकार पढ़ा—"ओंग मनि पधं चुम् ची"।[1] किन्तु वे इसका अर्थ स्पष्ट न कर सके। उन्होंने कहा है कि मेसर्स शिमिट् ने मुझसे कहा है कि यह तुंगत्स (तिब्बती) लोगों में प्रचलित आम प्रार्थनाओं में से एक है जिसका अर्थ यह है कि "ईश्वर हम पर दया करें।" प्रसिद्ध बौद्ध मंत्र "ओम् मणि पद्मं हुम" का ऊपर का अनुवाद यद्यपि अशुद्ध है तथापि इससे यूरोप में भारतीय-भाषाओं के अध्ययन के प्रथम प्रयास का सूत्रपात होता है। इसके बाद कई

१. इसका उच्चारण संघर्षी च की तरह होता है।

वर्षों तक, यूरोपीय विद्वान् चीनी तथा तिब्बती के माध्यम से उत्तर भारत की भाषाओं के अध्ययन में संलग्न रहे।

मेसर्सशिमिट् ने दूसरी जिस महत्वपूर्ण वस्तु की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है वह आठ पृष्ठों की पुस्तिका है जो चीन में मुद्रित हुई थी। इसे इन अन्वेषकों के

चित्र २—मंचूलिपि, बायर, १७२८

रोजेटा पत्थर के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसमें समानान्तर रेखाओं में तिब्बती लान्तशा लिपि दी गयी है। इसके साथ ही साधारण तिब्बती एवं मंचू लिपि

का एक रूप भी अनुलिपि रूप में दिया गया है।[1] बायर ने मंचू-लिपि को मंगोलियन लिपि कहा है। इसके पहले के पृष्ठ में इसके डेढ़ पृष्ठों का चित्र दिया जा रहा है— बायर का प्रथम कार्य, यथा सम्भव, तिब्बती लिपि को सामने लाना था। यह सरल भी था क्योंकि वे इस भाषा से आंशिक रूप में परिचित भी थे और उनके पास अनेक तिब्बती छात्र एवं पुस्तकें थीं। तत्पश्चात् इस तथा अन्य नमूनों की सहायता से आप मंचू लिपि के रूप सामने लाये और अन्ततोगत्वा इन दोनों की सहायता से आप लान्तशा लिपि के उद्धार में सफल हुए। वास्तव में लान्तशा अलंकृत नागरी लिपि ही थी। पिछली पट्टिका में 'ओम् मणि पद्मे हुं' की अनुलिपि उन्होंने जिस रूप में निर्धारित की है, वह भी मैंने दे दी है। यह ध्यान देने योग्य है कि यह प्रतिलिपि निर्दोष नहीं है किन्तु प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण यह प्रशंसनीय अवश्य है।[2]

शुल्ट्ज

इस प्रकार लान्तशा वर्णमाला का कार्य समाप्त करने के पश्चात् बायर ने उसकी एक प्रतिलिपि ट्रानक्वेबार स्थित धर्मप्रचारक शुल्ट्ज को भेजी और उसे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि उन अक्षरों को उत्तरी भारत के ब्राह्मण पढ़ सकते हैं।[3] शुल्ट्ज ने जो नमूने प्रस्तुत किये हैं उनसे यह प्रकट होता है कि स्वतः उसे उस समय तक संस्कृत अथवा किसी भी अन्य भारतीय आर्य भाषा का अधिक ज्ञान न था। उसने 'बनारस' के लिए "काशा" अथवा "भनारेसे" और नागरी अक्षर के लिए "आषरा:" "नाघरी:" लिखा है। उसने तीन वर्णमालाओं यथा 'नागरी', 'बलबन्दु', तथा 'अकार-नागरी' का उल्लेख तथा उनका नमूना पेश किया है। शुल्ट्ज की भाँति ही, जो इन्हें नहीं पढ़ सका था, ये अंत में बायर के पास भेजी गयीं। 'बलबन्दु' से उसका तात्पर्य मराठी

१. एक पृष्ठ में वहाँ दो पंक्तियाँ थीं। किन्तु चूंकि तीन पंक्तियों में साधारणतया सभी वर्ण आ जाते हैं, अतएव मैंने बायर का अनुगमन करते हुए इसका डेढ़ पृष्ठों का चित्र दिया है।

२. प्रो० जचारिए ने इस सम्बन्ध में हमारा ध्यान इससे पूर्व के एक और विवरण की ओर आकर्षित किया है। यह किर्चर कृत चाइना इलस्ट्रेटा (१६६७) के पृष्ठ ७ पर दिया गया है। किर्चर ने इसकी अनुलिपि "ओ मनिपे मि हुँ" के रूप में की है और उसने इसका अर्थ.............दिया है।

३. 'ब्राम्रनेस् एक्सट्रेनेओस् एट् पेरेग्रिनोस्'।

से था किन्तु ये तीनों लिपियाँ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखित "नागरी" ही थीं। शुल्ट्ज ने इनके उच्चारण-स्थानों का भी उल्लेख किया है। यह नीचे दिया जा रहा है[1]—

इ, का उच्चारण जीभ को तनिक दाहिनी ओर करके किया जाता है।

ई, का उच्चारण जीभ को तनिक बायीं ओर करके होता है।

उ, के उच्चारण में जीभ को मुह से सीधे आगे बढ़ाना पड़ता है।

ऊ, के उच्चारण में उ की अपेक्षा दुगुनी शक्ति लगती है।

ड, के उच्चारण में जीभ ऊपरी तालु का स्पर्श करती है और ध्वनि-स्फोट के समय 'ह' सुनाई पड़ता है।

स्पष्ट रूप से मूर्द्धन्य वर्णों के उच्चारण में जितनी कठिनाई हमें है उतनी ही हमारे पूर्वजों को भी थी और अनेक नौसिखुओं के लिए "अर्द्धचेतनावस्था की भाषा" में अब भी परेशानी होती होगी।

बायर ने यह बताया है कि किस प्रकार बाडेन नामक एक कालमक राजदूत ने, जो उस समय पेट्रोग्राड में निवास करता था, उन्हें इस उच्चारण को सीखने में सहायता दी। उसने अंत में मराठी, गुजराती तथा मोर भाषाओं के बारे में भारत से प्राप्त जानकारी का उल्लेख भी किया है। मेरी समझ में अन्तिम नाम से उसका तात्पर्य उर्दू से है, जिसे अंग्रेजों ने बाद को 'मूर' से सम्बोधित किया था। इस बीच वह लाक्रोज से तेजी के साथ पत्र-व्यवहार कर रहा था जिसमें न केवल चीनी पुस्तकों का ही जिक्र किया गया है वरन् उसमें हमें आधुनिक अर्थ में वास्तविक तुलनात्मक भाषाशास्त्र के प्रारम्भिक प्रयत्नों का भी वर्णन मिलता है। उसमें ८ विभिन्न भाषाओं में प्रथम ४ अंकों की तुलना की गयी है।[2] बाद के १० वर्षों तक दोनों मित्र कभी-कभी भारतीय भाषाओं की भी चर्चा कर लिया करते थे और अंत तक लाक्रोज ने भारतीय वर्णमाला के सेमेटिक उद्गम के अपने सिद्धान्त की सत्यता का प्रतिपादन किया है।

इन दिनों—वस्तुतः १६ वीं शताब्दी से ही—दक्षिण भारत डेनिश तथा जेसुइट धर्म-प्रचारकों का कार्य-क्षेत्र था। शुल्ट्ज का एक से अधिक बार जिक्र किया जा चुका है और यदि मैं बेस्ची, गोआ के अंग्रेज टामस स्टेबाओ (स्टेफेन्स) अथवा (ट्रान-

१. कमेन्टरी एकेडेमिए साइन्टियरम् इम्पीरियलिस् पेट्रोपोलिटेनिए ४, (१७२९), २९३ तथा उसके आगे।

२. एपिग्राफिका लाक्रोज १, ५८

क्वेबार के डैनिश धर्मसंघ के) फैब्रिसियस तथा जीगेनबैल्ग के केवल नामों का उल्लेख करने के अतिरिक्त अधिक नहीं कहता तो इसका कारण यह है कि साधारण रूप से भारतीय भाषाओं के अध्ययन के इतिहास से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इन्होंने व्याकरण तथा शब्दकोष लिखे हैं अथवा बाइबिल का एक से अधिक भारत की दक्षिण की भाषाओं में अनुवाद किया है किन्तु इन लोगों का सम्बन्ध सम्यक् रूप में भारतीय भाषाओं के अध्ययन से नहीं रहा है।[1]

बेलिगत्ती

उत्तर भारत में रोमन कैथलिक धर्मप्रचारकों की कार्यप्रणाली कुछ दूसरे ही ढंग की रही है। केपुचिन के धर्म-प्रचारक कसिआनो बेलिगत्ती ने नागरी लिपि के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक "अल्फाबेटम ब्रह्मणिकम सेव् यूनिवर्सिटाइटिस् काशी" (रोम, १७७१) है। यदि इस पुस्तक की जोहन्स क्रिस्टोफोरस अमांडुटियस ने भूमिका न लिखी होती तो यहाँ इसका उल्लेख भी न किया जाता।

अमाडुटियस

उक्त भूमिका में भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित तत्कालीन ज्ञान का अधिकारी विद्वानों के उल्लेखों के साथ पूरा सारांश प्रस्तुत किया गया है। इसमें संस्कृत भाषा को (समसक्रीत लिखा है) विद्वानों की भाषा कहा गया है और तत्पश्चात् "बखा बोली" अथवा बेकाबोली (भाषा बोली) अथवा सामान्य भाषा का, जो काशी विश्वविद्यालय या बनारस में पायी जाती है, उल्लेख किया गया है। इसमें यह भी लिखा गया है कि विभिन्न क्षेत्रों तथा विभिन्न भाषाओं की अपनी लिपियाँ हैं। उसने इन भाषाओं की इस प्रकार गणना की है।—१. बंगलेनिसिस (बंगाली) २. तौरुतियाना (मैथिली), ३. नेपालेनसिस (नेपाली) ४. मराठिका (मराठी) ५. पेगुआना (बर्मी अथवा मोन), ६. सिंगलिया (सिंहली), ७. तेलुगिका (तेलुगु) तथा ८. तमुलिका (तमिल)। यह ग्रन्थ और भी कामों के लिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें 'नागरी' तथा

---

१. इसी कारण यूरोपीय भाषा में अनूदित संस्कृत की प्रथम पुस्तक का मैं यहाँ उल्लेख नहीं करता। इसके लेखक मिशनरी अब्राहम रोगर (१६५१) थे और इस पुस्तक का नाम था 'ओपेन डोर टू हिदेन्डम्'। यह भर्तृहरि के द्वितीय एवं तृतीय शतकों का डच में अनुवाद था।

'कैथी' लिपियों को चल टाइप के रूप में रखा गया है। कदाचित् यूरोप में इनके उपयोग के लिए ऐसा किया गया है।

एबेल का सिम्फोना

भारतीय भाषा-शास्त्र सम्बन्धी अध्ययन के प्रथम चरण की समाप्ति के लिए दो अन्य परवर्ती ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ इवारुस एबेल (१७८२) का 'सिम्फोना' है। यह तमिल, तेलुगु, संस्कृत, मराठी बलबंद (मराठी ही), कन्नड़, हिन्दोस्तानी, कोंकणी, गुजराती तथा पेगुअन (बर्मी) का तुलनात्मक शब्द-समूह है। इसमें मानव शरीर के विभिन्न भागों, स्वर्ग, सूर्य, कतिपय जीवों, मकान, जल, वृक्ष, व्यक्तिवाचक सर्वनामों तथा अंकों आदि से सम्बन्ध रखने वाले ५३ शब्दों का इन भाषाओं में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पालिनस ए० एस० बर्थोलोमियो

द्वितीय पुस्तक अज्ञात लेखक द्वारा लिखित "अल्फाबेटा इन्डिका" है और इसकी भूमिका पालिनस ए० एस० बर्थोलोमियो (रोम १७९१) ने लिखी है।[1] यह चार भारतीय वर्णमालाओं का संकलन है जिनके वर्ण सचल टाइपों द्वारा बैठाये गये हैं। अंत में एडेलुंग कृत "मिथरी डेट्स" (१८०६ तथा परवर्ती वर्षों में) १८ वीं शताब्दी के भाषा सम्बन्धी अध्ययन का सारांश है। यह वस्तुतः प्राचीन तथा नवीन भाषा सम्बन्धी अध्ययन की कड़ी है।

अध्ययन का परिणाम

भारतीय भाषाओं के संबंध में की गयी इस प्रारम्भिक खोज से प्रकट होता है कि १७वीं तथा १८वीं शताब्दियों में काफी परिश्रम के साथ प्राप्त सामग्रियों का संकलन किया गया लेकिन मुश्किल से इनका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सका। वास्तव में इस प्रकार के अध्ययन किये जाने की उस समय आशा भी नहीं की जा सकती थी। इसके लिए तब आवश्यक सामग्रियों का भी जो यत्र-तत्र बिखरी हुई थीं, अभाव

१. इसके पूर्व वर्ष में पौलिनियस ए० एस० बर्थोलोमियो ने संस्कृत के एक व्याकरण का प्रकाशन किया था, जिसका पूरा विवरण इसके मुख पृष्ठ पर लैटिन में दिया गया था।

सा था, जिस कारण अध्ययन संभव न था। इतना होने के बावजूद यह काल ज्ञान के क्षेत्र में इस पुराने विश्वास से काफी आगे बढ़ गया था कि सभी भाषाएँ हेब्रू से निकली हैं। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में पवित्र साहित्यिक भाषा संस्कृत का पता चला और इससे अनुमान के रूप में ऐसा विश्वास प्रकट किया गया कि संस्कृत के अतिरिक्त एक और भी सामान्य बोली जानेवाली भाषा है जिसका सम्पूर्ण महाद्वीप की सामान्य जनता व्यवहार करती है। इस विश्वास से भी आगे बढ़कर लोगों ने यह बड़ी भूल की कि उक्त बोली जानेवाली भाषा 'मलय' है, जो एक प्रकार से राष्ट्र भाषा है और जिसके आगे ग्रामीणों द्वारा व्यवहार में लायी जाने वाली भाषा का लोप होता जा रहा है। इस गलतफहमी तथा इससे उत्पन्न परिणामों को खत्म करने में अनेक वर्ष लगे।

एक से अधिक बोल-चाल की भाषाओं का मौजूद रहना एक दूसरा अनुसंधान था। इसका सर्वप्रथम संबंध लिपियों के संकलन से था। संकलन केवल उत्सुकता वश किया गया था और जिन भाषाओं के लिए व्यवहार होता था उनका उल्लेख तक नहीं किया गया था। लेकिन विभिन्न लिपियों के ज्ञान से विभिन्न बोलियों के वर्तमान रहने का संदेह हुआ जिससे ईश प्रार्थना (लार्ड्स प्रेयर) के विभिन्न अनुवाद संकलित किये जा सके। पहले के अनुवादों में अत्यधिक अशुद्धियाँ थीं किन्तु जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया तैसे तैसे अनुवाद भी पूर्ण शुद्ध होते गये। इनके संकलनों के साथ साथ इनमें भाषाओं की भी तुलना की गयी और इस प्रकार तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के अध्ययन का प्रथम चरण भी आरम्भ हुआ। इसी मौके पर लाक्रोज तथा बायर को प्रसिद्धि मिली। उन्होंने अंकों तथा इसी प्रकार के शब्दों की तुलना पर आधारित भाषाओं का प्रारम्भिक वर्गीकरण करना आरम्भ किया और तिब्बत तथा भारत की वर्णमालाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की खोज निकालने में सफलता प्राप्त की। यह एक ऐसा तथ्य था जो परवर्ती दिनों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने दक्षिण भारत के प्रसिद्ध धर्म-प्रचारकों से पत्र-व्यवहार किया और उनकी सहायता से अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री ढूंढ़ निकाली। वास्तव में उन्हीं के अनुसंधानों पर उस समय की बाद की खोजें आधारित हैं। और उन्हीं की प्रणाली का अनुसरण कर इवारुस एबेल तथा एडेलुंग ने वैज्ञानिक खोज करने में महत्वपूर्ण प्रगति की जो उन्हीं के नामों से सम्बन्धित है। ये बातें बेलिगत्ती की "अल्फाबेटम ब्राह्मणिकम्" पुस्तक की अमाडुटियस द्वारा लिखित भूमिका से स्पष्ट हैं।

उक्त काल के अंत में हम यह देखते हैं कि यूरोपवासियों को प्रमुख भारतीय भाषाओं के नामों तथा सामान्य स्वरूपों का स्पष्ट ज्ञान हो गया था और वहां के विद्वानों

ने एक भाषा की दूसरे से तुलना भी प्रारम्भ कर दी थी। इस प्रकार इस प्राचीन अध्ययन के बाद नवीन अध्ययन का सूत्रपात हुआ। वर्गीकरण के लिए सामग्रियों का संग्रह किया गया तथा उन्हें क्रमिक रूप भी दिया गया लेकिन भाषाओं के सामान्य वर्गीकरण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

सन् १७८६ ई० में सर विलियम जोन्स द्वारा संस्कृत के गम्भीर अध्ययन तथा उसके परिणाम स्वरूप भाषाओं के एक भा-यूरोपीय परिवार के अस्तित्व की स्वीकृति से आधुनिक भाषा-शास्त्र के अध्ययन का सूत्रपात हुआ। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के तृतीय वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा था[1]—"हमें यह ज्ञात है कि मुसलमानों को हिन्दुस्तान अथवा भारत का सीमित ज्ञान था। उन्होंने यहाँ के निवासियों को एक भाषा अथवा एक जीवित बोली बोलते हुए सुना था। इस बोली की रचना-शैली विचित्र थी और इसका विशुद्ध रूप आगरे में तथा काव्यमय रूप मथुरा में प्रचलित था, जिसे सामान्य रूप से ब्रज कहा जाता था। ६ शब्दों में से इस भाषा के ५ शब्द संस्कृत से आये हैं। संस्कृत में धार्मिक तथा विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों की रचना हुई है। इसके व्याकरण का क्रम भी पूर्ण है और, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है, यह किसी साधारण भाषा से संस्कार करके गढ़ी गयी है। लेकिन हिन्दुस्तानी का आधार विशेषतया इसके क्रिया के रूप इन दोनों (संस्कृत तथा ब्रज) से उतने ही भिन्न हैं जितने अरबी फारसी से अथवा जर्मन ग्रीक से। अब विजय का सामान्य प्रभाव यह है कि विजित लोगों की बोल चाल की भाषा अपरिवर्तित रह गयी है अथवा मूल रूप से बहुत कम परिवर्तित हुई है। किन्तु इसमें बहुत से विदेशी शब्द आ गये हैं जैसा कि प्रत्येक देश में होता है। विजेता लोग, जहाँ तक मुझे याद है, प्रायः अपनी बोली को विशुद्ध नहीं रख पाये। जैसे कि तुर्क ग्रीस में एवं सैक्सन लोग ब्रिटेन में अपनी बोलियों को शुद्ध नहीं रख पाये। इस समानता से हमें यह विश्वास करना पड़ता है कि विशुद्ध हिन्दी, चाहे उसका उद्गम तातारीय अथवा चाल्डियन भाषा ही क्यों न हो, उत्तरी भारत में अपने आदि रूप में ही प्रचलित थी, जिसमें दूसरे राज्यों के विजेताओं ने बहुत प्राचीन काल में संस्कृत के शब्द मिश्रित कर दिये थे। क्योंकि इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि वेद की भाषा इस देश के अधिकांश भागों में प्रचलित थी और तब तक प्रचलित थी जब तक कि ब्रह्म धर्म का देश में प्रचार था।"

१. एशियाटिक रिसर्चेज १, ४२२

"संस्कृत भाषा का प्राचीन इतिहास चाहे जो भी हो, इसकी रूपरेखा विचित्र है। यह यूनानी से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा इन दोनों से ही अधिक शिष्ट है। फिर भी जहां तक धातुओं और व्याकरण का सम्बन्ध है, संस्कृत का लैटिन तथा ग्रीक से अत्यधिक साम्य है। यह साम्य आकस्मिक नहीं है, यह वास्तव में इतना अधिक है कि कोई भी भाषा-शास्त्री इनका परीक्षण करते समय इस बात में अविश्वास नहीं प्रकट कर सकता कि ये उस मूल स्रोत से ही उद्भूत हुई हैं जिसका आज अस्तित्व नहीं मिलता। इसी प्रकार अत्यधिक पुष्ट प्रमाणों के अभाव में भी इस कल्पना में कोई कठिनाई नहीं है कि गॉथिक और केल्टिक विभिन्न शैलियों को अपनाती हुई भी संस्कृत से प्रसूत हुई हैं। यदि हम यहाँ फारस की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करें तो स्पष्ट रूप से फारसी भी इसी वर्ग के अन्तर्गत है।"

बॉप

ऊपर केवल भारत की आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार नहीं किया गया है अपितु संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी विचार किया गया है। जहाँ तक भारतीय भाषाओं का सम्बन्ध है, विलियम जोन्स की कल्पना मुख्य रूप से अशुद्ध है। संस्कृत एवं यूरोप की अन्य भाषाओं के सम्बन्ध के विषय में उन्होंने जो कल्पना की थी उसका वैज्ञानिक अध्ययन फ्रैंज़ बॉप ने अपने "यूबेर दास कांजूगेशन्स सिस्टम दर संस्कृत प्राचे. ... ."शीर्षक लेख में किया जो सन् १८१६ में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद ही उनका प्रसिद्ध तुलनात्मक व्याकरण सन् १८३३ में तथा उसके बाद के वर्षों में प्रकाशित हुआ जिसका अंग्रेजी में अनुवाद सन् १८६५ में श्री ई० बी० ईस्टविक ने किया। इस जगह भारोपीय भाषा-शास्त्र के सामान्य इतिहास पर विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है किन्तु यहां पर बॉप के पश्चात् इस शाखा के आज तक के अध्ययन करनेवाले विद्वानों का नामोल्लेख अनुचित न होगा—ये हैं; ग्रिम, पाट, श्लाइखर, ह्विटने, ब्रगमान, डेलब्रुक, मेइए तथा जेसपर्सन।

जहाँ तक भारत की आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान की बात है, हम यह ऊपर देख चुके हैं कि इस समस्या को भी सर विलियम जोन्स ने अपने हाथ में लिया था किन्तु आधुनिक आर्य भाषाओं के सम्बन्ध में बाद में जो अनुसन्धान हुए उनसे यह बात स्पष्ट हो गयी कि इस सम्बन्ध में जोन्स की कल्पना निराधार थी। उन दिनों द्रविड़ भाषाओं की एक विशिष्ट वर्ग की भाषा के रूप में जानकारी नहीं थी किन्तु हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में भूल से जो बातें श्री जोन्स ने कही है, यदि वही बातें वे द्रविड़

भाषा के सम्बन्ध में भी कहते तो आजकल इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में लोगों की जो वास्तविक धारणा है उससे वे बहुत दूर न होते।

करे तथा आधुनिक भाषाएँ

जो हेर, ग्रोन्स द्वारा उठाये गये प्रश्नों के हल खोजनेवाले सर्वप्रथम श्रीरामपुर के मिशनरी (पादरी) लोग थे। विलियम करे नवम्बर सन् १७९३ में भारत आया और नूतन बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट) का बंगला अनुवाद सन् १८०१ में प्रकाशित हुआ। बाद के वर्षों में अन्य भारतीय भाषाओं में उसके अनुवाद प्रकाशित हुए किन्तु सन् १८१६ में करे ने अपनी गलती महसूस की और उसने सूचनार्थ निम्नलिखित पत्र अपने घर भेजा—

"भाषाओं के सम्बन्ध में खोज करते हुए हमें यह पता चला कि जहाँ तक संस्कृत से उद्भूत भाषाओं की संख्या का प्रश्न है, हमारा ज्ञान इस सम्बन्ध में ठीक नहीं है; परन्तु स्थिति यह है कि इस दृष्टि से भारत की करीब करीब खोज नहीं हुई है। हम लोगों को यह ठीक तरह से पता था कि संस्कृत से ८ अथवा ९ भाषाएँ निकली हैं। लेकिन हम लोगों का ऐसा अनुमान था कि संस्कृत भाषा से ही तमिल, कन्नड़, तेलुगु, गुजराती, उड़िया, बंगला, मराठी, पंजाबी तथा हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति हुई है जिनमें से सभी संस्कृत की शाखाएँ हैं और सभी शेष भाषाएं हिन्दी के विविध स्वरूप हैं। वास्तव में इनमें से कतिपय तो साधारण विचार-प्रकाशन के माध्यम से ऊँची नहीं हैं।

"यद्यपि इसी ऊपर के विचार को लेकर हम अपने कार्य की पूर्ति में अग्रसर हुए थे किन्तु अन्ततोगत्वा हमें ये विचार छोड़ने पड़े। इसका पहिला कारण यह है कि कोई कोई भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा प्रत्ययों आदि के सम्बन्ध में हिन्दी से इतनी भिन्न थी कि उसे हिन्दी का रूप अथवा बोली कहना उचित न था। एक बात और है, इनमें से कतिपय भाषाओं के संज्ञा तथा क्रिया सम्बन्धी प्रत्यय केवल हिन्दी से भिन्न ही नहीं मिले अपितु वे हिन्दी की भांति ही पूर्ण भी थे। तब हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें जिस रूप में हिन्दी की बोली कहा जाता है उसी रूप में मराठी अथवा बंगला की बोली भी कहा जा सकता है। वास्तव में हमें यह पता चला है कि यहां बीस से अधिक ऐसी भाषाएँ हैं जिनके शब्द-समूह समान हैं और संस्कृत से उनका सम्बन्ध भी एक रूप में ही है किन्तु उनके प्रत्यय विभिन्न हैं। अतएव उन्हें स्वतन्त्र भाषाएँ माना जा सकता है। इन भाषाओं में हम जयपुरी, ब्रज, उदयपुरी, बीकानेरी, मुलतानी, मारवाड़ी, मागधी, सिन्धी, मैथिली, डब, कच्छी, हाड़वती, कौशली, आदि की गणना कर सकते

हैं। इन भाषाओं का यूरोप के लोगों को नाम भी ज्ञात नहीं है किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के लोग इन्हें स्वतंत्र भाषाएं मानते आ रहे हैं।

"ये भाषाएँ प्रत्ययों और कतिपय शब्दों के सम्बन्ध में परस्पर इतनी भिन्न हैं कि इन्हें बोलियाँ नहीं कहा जा सकता और भारत में कोई एक ऐसी सामान्य भाषा भी नहीं है जिनकी ये बोलियां हो सकें। संस्कृत, जिससे ये सभी भाषाएं प्रसूत हुई हैं, देश में कहीं भी बोल-चाल की भाषा नहीं है। हां, यह बात दूसरी है कि समस्त भारत के पंडित इसे बोलते हैं। संसार की भाषाओं में इसका व्याकरण सबसे अधिक समृद्ध एवं जटिल है किन्तु यह बात इससे प्रसूत विभिन्न भाषाओं के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। इन भाषाओं को हिन्दी की बोली कहना एक दम अनुपयुक्त है जब कि इनमें से कुछ प्रत्ययों के सम्बन्ध में बंगला के तथा अन्य मराठी के अधिक निकट हैं। आधुनिक खोजों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हिन्दी किसी प्रदेश-विशेष की भाषा नहीं है। यह मुसलमानों की दरबारी भाषा होने के कारण उन सभी शहरों एवं नगरों में प्रचलित है जहाँ पर उनका शासन है और इसे देश के प्रत्येक भाग में अंग्रेजों से मिलने जुलनेवाले मुसलमान बोलते हैं। इस प्रकार यह एक ऐसी भाषा है कि औरों की अपेक्षा इसे अधिकांश यूरोप के लोग पहले से सीखते हैं और अनेक यूरोप के निवासियों का ज्ञान इसकी परिधि के बाहर नहीं जा पाता। इसी परिस्थिति के कारण लोग यह समझते हैं कि हिन्दुस्तान के अधिकांश भागों की यही भाषा है किन्तु वास्तविक बात तो यह है कि जहां शहरों में हिन्दी बोली जाती है वहां से २० मील की दूरी की साधारण जनता भी उसे नहीं समझ पाती। यहां के लोग अपनी भाषाएं बोलते हैं। उदाहरण के लिए बंगाल में लोग बंगला बोलते हैं और इसी प्रकार अन्य प्रदेशों के लोग वहां की भाषाएं बोलते हैं। यही कारण है कि जब कम्पनी सरकार के विनियम (कानून) हिन्दुस्तानी में प्रकाशित होते हैं तो विभिन्न प्रदेशों के न्याय-विभाग के लोग यह आपत्ति उपस्थित करते हैं कि उनके प्रदेशों की जनता उन्हें नहीं समझ पाती। यदि इस विचार-धारा का अनुगमन किया गया होता तो यह बात सहज ही विदित हो गयी होती कि यहां विभिन्न प्रदेशों की विभिन्न भाषाएँ हैं, जिनके अधिकांश शब्द समान हैं किन्तु जिनके व्याकरण के रूप तथा प्रत्यय आदि इतने विभिन्न हैं कि बोलते समय उसे पड़ोस के लोग नहीं समझ पाते।"

कैरे का भाषा-सर्वेक्षण

रिपोर्ट में (जिस पर डब्लू० कैरे, जे० मार्शमैन तथा डब्लू० वार्ड के हस्ताक्षर हुए हैं) ऊपर कही गयी बातों के सम्बन्ध में विस्तृत प्रमाण दिये गये हैं। ३३ भारतीय

भाषाओं के ३४ नमूने दिये गये है। प्रत्येक नमूने में सहायक क्रियाओं के वर्तमान तथा भूतकाल के स्वरूप एवं 'ईश-प्रार्थना' (लार्ड्स-प्रेयर) के अनुवाद है। प्रत्येक नमूने पर पृथक् रूप से शब्दशः विचार किया गया है। ऐसा करने में यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि यह बोली के नमूने नहीं है वरन् ये स्वतंत्र भाषा के उदाहरण है। पूरा विवरण इतना लम्बा है कि उसका यहां उद्धरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता लेकिन यह पढ़ने में अत्यधिक रोचक है क्योंकि इसमें भारत की भाषाओं के क्रमबद्ध सर्वेक्षण का प्रथम प्रयत्न किया गया है। इस सिलसिले में यह स्मरण रखना ठीक होगा कि इसकी तिथि सन् १८१६ है और इसके निर्माता कैर, मार्शमैन तथा वार्ड है। जिन भाषाओं के बारे में विचार किया गया है वे इस प्रकार है —संस्कृत, बंगला, हिन्दी, कश्मीरी, डोगरा (डोगरी), वुच (लहँदा), सिन्धी (दक्षिणी सिन्ध), कच्छ, गुजराती, कोंकणी, पंजाबी अथवा सिक्ख, बीकानेरी, मारवाड़ी, जयपुरी, उदयपुरी, हाड़ौती, मालवी, ब्रज, बुन्देलखण्डी, महाराष्ट्री, मागधी (दक्षिण बिहार की भाषा), उत्तर कौशल (अवधी), मैथिली, नेपाली, आसामी, उड़ीसा अथवा उत्कल, तेलुगु, कन्नड़, पश्तो अथवा अफगान, बलूची, खासी, बर्मी।

यह सूची दो बातों में महत्त्वपूर्ण है। प्रथम इससे पता चलता है कि तब तक द्रविड भाषाएं-तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि एक पृथक् परिवार के रूप में नहीं स्वीकृत हुई थी। यह कार्य आगे चलकर हाडसन द्वारा सम्पन्न हुआ। यहां वे संस्कृत के उतनी ही निकट मानी गयी जितनी बंगला अथवा हिन्दी। दूसरी बात यह है कि भाषा तथा बोली में कोई अन्तर नही रखा गया है। एक ओर तो यहां बर्मी, बंगला और पश्तो जैसी समृद्ध भाषाओं की चर्चा की गयी है, दूसरी ओर इनके साथ ही साथ जयपुरी तथा हाड़ौती का उल्लेख किया गया है जो मुश्किल से दो विभिन्न बोलियां है। इन दोनों में उतना भी अन्तर नहीं है जितना सोमरसेट तथा डेवन शायर की बोलियों में। इसका कारण यह है कि कम से कम उत्तरी भारत में अंग्रेजी के "लैंग्वेज" (भाषा) शब्द के लिए और "डाइलेक्ट" (बोली) के लिए पृथक् आशय प्रकट करनेवाले कोई ठीक शब्द नहीं मिलते। सामान्य भारतीय लोग केवल 'बोली' से ही परिचित है। जो भारतीय यूरोपीय ढंग से शिक्षित नहीं है, उनके पास सजातीय बोलियों को किसी सामान्य भाषा शीर्षक के अन्तर्गत रखने के लिए कोई एक शब्द नहीं है। जिस प्रकार हम सोमरसेटशायर और यार्कशायर की बोलियों की चर्चा करते है उस प्रकार की अनेक बोलियों के नाम तो भारतीय लोगों की जबान पर है किन्तु जैसे इन बोलियों का 'अंग्रेजी' भाषा में अन्तर्भाव हो जाता है, उस प्रकार का कोई एक शब्द यहां नहीं है।

कैरे के प्रतिवेदन के पश्चात् भारत की आर्य भाषाओं के सामान्य सम्बन्धों के बारे में पुनः जांच करने का काम काफी समय तक स्थगित कर दिया गया। उसके बाद की स्थापित कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी केवल संस्कृत तथा फारसी भाषाओं के अध्ययन में अत्यधिक व्यस्त रही और आधुनिक भाषाओं के अध्ययन का उसने अधिक कष्ट नहीं किया। यह सत्य है कि अधिक प्रमुख भाषाओं के प्रारम्भिक व्याकरण काफी संख्या में तैयार किये गये हैं किन्तु संगठित रूप से इस प्रकार के अध्ययन का कोई प्रयत्न नहीं हुआ।

बुकनन, लीडेन तथा एन० ब्राउन

दूसरी ओर अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानों का ध्यान आर्येतर भाषाओं की ओर आकर्षित हुआ। इस सम्बन्ध में हिन्द-चीनी बोलियों की ओर लोगों का ध्यान सर्वप्रथम गया। सन् १७९८ में डाक्टर फ्रांसिस बुकनन ने "एशियाटिक रिसर्चेज" (भाग ५) में बर्मा में बोली जानेवाली कतिपय भाषाओं के तुलनात्मक शब्द-संग्रह को प्रकाशित कराया और तीन वर्ष पश्चात् डी० जे० लीडेन ने उसके दसवें भाग में, हिन्द चीनी भाषा तथा साहित्य के बारे में लिखा। फिर सन् १८३७ में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल के छठें भाग में नाथन ब्राउन ने हिन्द चीनी भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसी सम्बन्ध में उसने अन्य लेख भी लिखे जो अमेरिका की 'ओरिएण्टल सोसाइटी' (प्राच्य सभा) की पत्रिका में प्रकाशित हुए।

बी० एच० हागसन्

सन् १८२८ के एशियाटिक रिसर्चेज भाग १६ में हम लोग एक ऐसे व्यक्ति के नाम से अवगत होते हैं जो शेष सभी लोगों से बढ़ चढ़ कर है। उक्त व्यक्ति का नाम ब्रियान हाटन हागसन है, जिसने नेपाल तथा भोट (तिब्बत) के बौद्धों की भाषा, साहित्य तथा धर्म के बारे में एक लेख लिखा है। इसके पश्चात् उसने नेपाल के प्राणिविज्ञान तथा नृविज्ञान के संबन्ध में अनेक लेख लिखे हैं लेकिन १९ वर्ष पश्चात् सन् १८४७ के एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के जर्नल, खण्ड १६ में उसने हिमालयवर्ती बोलियों के 'तुलनात्मक शब्द-समूह' शीर्षक लेख में अपना भाषाशास्त्रीय अध्ययन आरम्भ किया। तत्पश्चात् उसने अनेक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित कराये जिनमें भारत तथा पड़ोसी देशों की करीब करीब प्रत्येक आर्येतर भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की तथा सही सामग्री उपस्थित की गयी है। यहां पर स्थानाभाव के कारण उसके विचारणीय विषय का कोरा सूचीपत्र तक देना संभव नहीं है। इतना कह देना पर्याप्त है कि उसने

भारत तथा पड़ोसी देश में बोली जानेवाली करीब करीब सभी हिन्द-चीनी भाषाओं तथा मुंडा एवं द्रविड़ बोलियों के स्वरूप का तुलनात्मक शब्दसमूह प्रस्तुत किया है। इनकी उसने मध्य एशिया की अनेक भाषाओं से तुलना की है। ऐसा करने का उसका प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण भाषाओं के एक संयुक्त उद्गम की खोज करना था। जहां तक मुझे ज्ञात है, वह प्रथम अंग्रेज था जिसने मध्य तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं के लिए "द्रविड़" शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन उसने इसके अन्तर्गत न केवल खास 'द्रविड़' भाषाओं वरन् मुंडा को भी शामिल किया है जो एक बिलकुल भिन्न परिवार की भाषा है। यह सत्य है कि वह स्वतः खोज की गयी सभी भाषाओं का एक संयुक्त उद्गमन निर्धारित करने के अपने प्रिय सिद्धान्त में असफल हुआ—यह मामला भी विचाराधीन है तथा इस सम्बन्ध में विद्वानों में अभी तक मतभेद है—लेकिन इससे उसके लेखों के मूल्य में किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ती। उसके लेखों में भारत के मूल-निवासियों की भाषाओं के बारे में काफी प्रमाण दिये गये हैं जिसका महत्त्व कभी कम नहीं हो सकता। इसका महत्त्व, क्षेत्र की व्यापकता, विन्यास की स्पष्टता तथा वर्णन के सही होने में निहित है। भारतीय भाषाओं तथा नेपाल की छिटपुट जातियों की भाषाओं के सम्बन्ध में हागसन का अन्तिम लेख सन् १८५८ में सोसाइटी के जर्नल के २७वें भाग में प्रकाशित हुआ था। इस जर्नल से उसका घनिष्ट सम्बन्ध था। इस प्रकार उसके साहित्यिक कार्य ३० वर्षों तक जारी रहे।

हंटर

१० वर्ष के पश्चात् सन् १८६८ में हंटर की भारत तथा एशिया की भाषाओं के तुलनात्मक शब्दकोष से संबंधित पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें कुछ नयी बातों को सम्मिलित कर हागसन के भाषा सम्बन्धी संग्रहों के परिणामों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है ताकि वह छात्रों के लिए सुविधाजनक हो सके।

मैक्समूलर—मुंडा भाषाएं

हागसन के अनुसन्धानों का सर्वप्रथम परिणाम सन् १८५४ में मैक्समूलर द्वारा लिखित वह पत्र था जिसे उन्होंने बंबेलियर को लिखा था। इस पत्र में मूलर ने प्रथम बार,'द्रविड़ भाषाओं से पृथक् परिवार के रूप में' मुंडा के अस्तित्व का उल्लेख एवं उसका नामकरण किया था।

१. उन्होंने स्वयं यह नामकरण किया था और विद्वानों में स्वीकृत परम्परा के अनुसार, अनुसंधानकर्ता को, इस प्रकार के नामकरण का अधिकार है। अन्य विद्वानों

काल्डवेल—द्रविड़ भाषाएँ

इसके दो वर्ष बाद, सन् १८५६ में, बिशप काल्डवेल कृत द्रविड़ अथवा दक्षिणी-परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित हुआ। तभी से दक्षिण भारत की बोलियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य का सूत्रपात हुआ। यह प्रथम अवसर था जब भारतीय भाषाओं के एक विशेष परिवार का अध्ययन एक ऐसे विद्वान् द्वारा सम्पन्न हुआ जो उन भाषाओं के तत्त्व से परिचित होने के साथ-साथ योग्य भाषाशास्त्री भी था।

लोगन—हिन्द चीनी भाषाएँ

इसी समय हिन्द चीनी भाषाओं का भी अध्ययन होने लगा। अथक परिश्रम करनेवाले विद्वान 'लोगन' ने 'इण्डियन आर्कीप्रिलेगो' के जर्नल में अपने कई लेख प्रकाशित कराये, जिनमें बर्मा तथा असम प्रदेश की भाषाओं की तुलना तथा व्याख्या की गयी थी। लोगन का भाषाशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान काल्डवेल के समान न था; यही कारण है कि उसकी कृतियाँ उतनी प्रामाणिक नहीं हैं जितनी पादरी काल्डवेल की। लेकिन उसने जिन भाषाओं का वर्णन किया है उनके सम्बन्ध के बारे में उसने अनेक मौलिक सुझाव पेश किये हैं और परवर्त्ती अनुसन्धानों द्वारा इन सुझावों की पुष्टि भी हुई है (उसकी कृतियाँ मुश्किल से आजकल उपलब्ध हैं)।

से यह आशा की जाती है कि जब तक यह नाम असिद्ध न हो जाय, तब तक वे इस नाम का ही प्रयोग करें। वनस्पति तथा प्राणिशास्त्र में भी यही होता है और भाषाशास्त्र में भी यही होना चाहिए; किन्तु बाद के लेखकों ने इस शिष्टाचार का अतिक्रमण किया तथा इस परिवार का नया नामकरण किया। ये नाम 'कोल' अथवा असंगत नाम 'कोलारियन' हैं। ये नाम केवल भ्रमात्मक ही नहीं हैं, अपितु इसका आधार यह अनुमान है कि इसके बोलने वाले दक्षिण भारत के कोलर स्थान से आये। वास्तव में यह निराधार है। इस सर्वेक्षण में, मैंने सर्वत्र इस परिवार के लिए इसके आविष्कर्ता द्वारा प्रदत्त नाम का ही प्रयोग किया है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इन भाषाओं के बोलनेवालों के लिए संस्कृत साहित्य में भी इसी नाम का प्रयोग, मैक्समूलर के जन्म के शताब्दियों पूर्व, किया गया है। आगे देखो पृ० ६४, की दूसरी टिप्पणी।

फारबेस तथा कुन

फारबेस का बृहत्तर भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण उनकी मृत्यु के बाद सन् १८८१ में प्रकाशित हुआ। यह एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके बाद स्वर्गीय प्रोफेसर अर्नेस्ट कुन ने इस शाखा की भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया और बृहत्तर भारतीय भाषाओं के भाषाशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन की नींव को सुदृढ़ आधार पर रखा।

डब्लू० शिमिट—आस्ट्रो-एशियाटिक आस्ट्रिक

उनसे उन अनेक नये छात्रों को प्रेरणा मिली जो इन दिनों इस सम्बन्ध में कार्य कर रहे हैं। इनमें पेटर डब्लू० शिमिट का नाम अति प्रसिद्ध है। उन्होंने मान-खमेर के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है जो सन् १९०६ में प्रकाशित हुआ था। पेटर शिमिट ने यह सिद्ध किया है कि मान-खमेर भाषाएँ वस्तुतः भारत की मुण्डा भाषाओं तथा इण्डोनेशिया की भाषाओं के बीच की एक कड़ी है। इनमें से प्रथम दो भाषाओं को खासी तथा कोनापुय अन्य बोलियों के साथ सम्मिलित करके शिमिट ने इनका आस्ट्रो-एशियाटिक नामकरण किया है। श्री शिमिट ने इसके आगे भी कार्य किया है। आपने स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित किया है कि इण्डोनेशिया, मलनेशिया तथा पालीनेशिया की भाषाओं का भी एक वर्ग है जिसे आस्ट्रोनेसिक कहना उचित है। इस प्रकार से इण्डोनेशियन भाषाएँ आस्ट्रोएशियाटिक तथा आस्ट्रोनेसिक भाषाओं के बीच के सम्बन्ध को जोड़नेवाली हैं। यह सम्पूर्ण भाषाएँ एक बृहद् भाषा परिवार का निर्माण करती हैं जिसे आस्ट्रिक कहा जा सकता है। यह भाषा-परिवार मध्य-भारत के पर्वतीय भागों से लेकर दक्षिणी अमेरिका के तट से दूर ईस्टर द्वीप तक फैला हुआ है और इसका क्षेत्र भारोपीय बोलियों के क्षेत्र से भी अधिक विस्तृत है।

भारतीय आर्य भाषाएँ

उधर बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी का ध्यान भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन की ओर केन्द्रित हुआ। प्रारम्भ में इसके तत्त्वावधान में कई विशिष्ट भाषाओं अथवा बोलियों के व्याकरण तथा शब्द-समूह सम्बन्धी पुस्तकों का निर्माण हुआ जिनसे हमारा यहाँ प्रयोजन नहीं है।

लीच

किन्तु इस दिशा में मेजर राबर्ट लीच ने जो आश्चर्यजनक प्रारम्भिक कार्य किया उसका उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अथक परिश्रम तथा सूक्ष्म गवेषणा के साथ

उन अनेक भाषाओं के व्याकरण एवं शब्द-समूहों का अध्ययन किया था जो अब तक अछूती रह गयी थीं। सन् १८३८ तथा १८४३ के बीच उन्होंने ब्राहुई, बलोची, पंजाबी, पश्तो, बुंदेली तथा कश्मीरी भाषाओं के व्याकरण का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने ओरमुड़ी, पशै, लगमानी, खोवार, तिराही एवं दीरी के शब्द-समूहों का संकलन प्रस्तुत किया। इनमें से कतिपय भाषाओं के सम्बन्ध में तो आज भी केवल लीच के ग्रंथ ही प्रामाणिक हैं क्योंकि या तो ये भाषाएँ समाप्त हो चुकी हैं अथवा इनके क्षेत्र में किसी अन्य अंग्रेज कर्मचारी को जाने का अवसर ही नहीं मिला है। अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में १९वीं शताब्दी के अन्त में कतिपय ऐसी खोजें अवश्य हुई हैं जो लीच की खोजों से बढ़कर हैं।

सर एर्स्किन पेरी

कैरे की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के सैंतीस वर्ष बाद, बम्बई में भारतीय आर्य-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य पुनः प्रारम्भ हुआ। इसका प्रमाण रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के जर्नल के चौथे भाग में मिलता है। सन् १८५३ के जनवरी के अंक में, बम्बई के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश तथा सोसाइटी के अध्यक्ष सर टॉमस एरस्किन पेरी ने भारत की मुख्य भाषाओं के भौगोलिक विभाजन के सम्बन्ध में अपना एक लेख प्रकाशित कराया। उन्होंने भारत की भाषाओं को दो बड़े वर्गों में विभाजित किया। इनमें से एक था उत्तर में, बाहर से आये हुए आर्यों की भाषा अथवा संस्कृत का वर्ग तथा दूसरा था भारत के दक्षिण में, सुसंस्कृत जातियों की भाषा का वर्ग जिसका प्रतिनिधित्व उसकी सर्वाधिक समृद्ध भाषा तमिल करती है। प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने सात भाषाओं को रखा। ये हैं—हिन्दी, कश्मीरी, बंगला, गुजराती, मराठी, कोंकणी तथा अपनी दस बोलियों सहित उड़िया। पेरी ने पंजाबी, लहंदा (जिसे उन्होंने मुल्तानी कहा है), सिन्धी तथा मारवाड़ी को हिन्दी की बोलियों के रूप में स्वीकार किया है और मैथिली को बंगला की बोली माना है। उनके ऐसा लिखने के बाद, इनमें से कई बोलियों ने तो आज स्वतंत्र भाषाओं का रूप धारण कर लिया है। दक्षिण की भाषाओं को तो उन्होंने तूरानी अथवा तमिल संज्ञा प्रदान की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय उन्हें द्रविड़ शब्द का पता न था जिसका प्रयोग हागसन तथा काल्डवेल, दोनों ने ही सन् १८५६ में किया था। पेरी ने तेलुगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम, तुलु तथा प्रश्नवाचक चिह्न के साथ गोंड़ी का उल्लेख किया है। उन्होंने प्रत्येक भाषा की सामान्य विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है और प्रत्येक के स्वरूप का भी सावधानी से वर्णन किया है। इसके साथ ही उन्होंने इनका एक सुन्दर

भाषासम्बन्धी मानचित्र भी दिया है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने हिन्द-चीनी भाषाओं का बिलकुल ही जिक्र नहीं किया और इसी प्रकार उन्होंने मुण्डा भाषाओं की भी चर्चा नहीं की जिनका पता मैक्समूलर को भी एक वर्ष बाद लग पाया। जिस समय पेरी भारतीय भाषाओं के भौगोलिक विवरण का अध्ययन कर रहे थे उसी समय बम्बई के एक अन्य विद्वान् आर्य तथा द्रविड़ भाषाओं के एक दूसरे पर प्रभाव का अध्ययन कर रहे थे।

स्टेवेन्सन

बम्बई शाखा के रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल के उसी भाग में जे० स्टेवेन्सन का एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था—भारतीय भाषाओं में असंस्कृत अथवा अनार्य भाषाओं के शब्द-समूहों का तुलनात्मक अध्ययन। इस लेख में सर्वप्रथम अत्यधिक सूक्ष्मता के साथ विभिन्न भारतीय आर्य भाषाओं में द्रविड़ शब्दों की स्थिति तथा नृवैज्ञानिक दृष्टि से उनके महत्त्व पर विचार किया गया है। उस समय भाषा-विज्ञान का अध्ययन जिस स्थिति में था उसे देखते हुए यह अनिवार्य था कि स्टेवेन्सन के तुलनात्मक अध्ययन में अनेक भूलें हों किन्तु इतना होने पर भी भारतीय भाषाओं के सामान्य अध्ययन के सम्बन्ध में यह लेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

बीम्स

इसी समय भारत के एक दूसरे भाग में, सन् १८६७ में जान बीम्स नामक एक युवक सिविल सर्विस के अधिकारी ने, जिसने केवल दस वर्ष तक ही नौकरी की थी, "भारतीय भाषाओं की रूपरेखा" शीर्षक के अन्तर्गत इस देश की सभी भाषाओं का संक्षिप्त विवरण उपस्थित करके लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इसके पाँच वर्ष बाद जान बीम्स की प्रसिद्ध कृति का प्रथम भाग "भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन" प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष इसी विषय पर बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में डाक्टर हार्नले का प्रथम लेख प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् १८८० में उनका अपना गौड़ीय भाषाओं के साथ पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाश में आया। तब से ये दोनों सुन्दर कृतियाँ जो अपने रूप में अत्यधिक श्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण हैं भारतीय आर्य भाषाओं के विकास तथा पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में होनेवाले सभी अनुसन्धानों की मुख्य आधारशिला बन गयीं। इस बीच अनेक वर्षों तक विविध भारतीय भाषाओं के व्याकरणों एवं शब्द-समूहों के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। हिन्दुस्तानी, मराठी अथवा बंगला जैसी प्रसिद्ध भाषाओं के सम्बन्ध में तो सैकड़ों

पुस्तकें प्रकाश में आयीं किन्तु इनमें से अधिकांश व्यर्थ थीं और इनके तैयार करने में परिश्रम का केवल अपव्यय किया गया था। इन पुस्तकों के लेखकों में से प्रत्येक लेखक ने अपनी क्षमता के अनुसार अपने पूर्ववर्ती लेखकों का अनुकरण किया, कभी-कभी कुछ अशुद्धियों को भी ठीक किया और कभी कभी उन्हें छोड़ भी दिया, कतिपय नयी अशुद्धियाँ भी कीं, अपनी ओर से नवीन सिद्धान्तों की घोषणा की जो वास्तव में नवीन न थे। इस बीच यदा-कदा कतिपय महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का भी प्रकाशन हुआ। इनमें मोल्सवर्थ कृत मराठी शब्दकोष, ट्रम्प कृत सिन्धी व्याकरण तथा केलाग कृत हिन्दी व्याकरण उल्लेखनीय हैं; किन्तु शेष कृतियों में से अधिकांश बेकार थीं और शायद ही उनकी आवश्यकता थी। अनेक अल्पपरिचित भाषाओं को जिनका अध्ययन परिचित भाषाओं की ही तरह महत्त्वपूर्ण था छोड़ दिया गया। कैरे ने सन् १८५२ ई० में अपना पंजाबी का व्याकरण लिखा। तत्पश्चात् लीच ने इसका संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया। इसके बाद लगभग चालीस वर्षों तक, किसी ने भी, औपचारिक रूप से सिक्खों की इस भाषा का उल्लेख नहीं किया। जब लाखों की संख्या में बोलनेवाले लोगों की भाषाओं की यह दशा थी तो हजारों की संख्या में बोलनेवालों की सैकड़ों छोटी-छोटी भाषाओं के सम्बन्ध में क्या कहा जाय? यही कारण है कि मध्य भारत की पर्वतीय जातियों, पूर्वी बंगाल तथा असम के तिब्बती-बर्मी लोगों की भाषाओं की स्थिति और भी खराब थी। कभी-कभी यहाँ वहाँ इन भाषाओं के व्याकरण तथा शब्द-समूह के सम्बन्ध में कोई उत्साही व्यक्ति कुछ लिख देता था। सरकार अपनी ओर से अपने अधिकारियों को इस सम्बन्ध में कार्य करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करती थी और कतिपय लोगों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया।

सर जार्ज कैम्बेल

सन् १८७४ ई० में बंगाल के तत्कालीन लेफ्टीनेंट गवर्नर, सर जार्ज कैम्बेल ने स्थानीय अधिकारियों द्वारा एकत्र किये हुए शब्द-समूहों के कई संकलनों को प्रकाशित किया। किन्तु इसके अतिरिक्त इस दिशा में बहुत कम कार्य हुआ और विदेशियों की सहायता के बावजूद भी इस कार्य में प्रगति न हो सकी।

रूसियों द्वारा अनुसन्धान-कार्य

अफगानिस्तान की भाषा पश्तो का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण व्याकरण रूसी विद्वान् डोर्न ने लिखा। यद्यपि बाद में अंग्रेजों ने पश्तो के कई व्याकरण लिखे तथापि इसके अध्ययन का कार्य फ्रेंच और जर्मन विद्वानों के हाथ में ही रहा। इसी प्रकार

नेपाल की प्रमुख भाषा नेवारी के एकमात्र व्याकरण तथा उसके शब्द-समूह का अध्ययन भी एक रूसी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु बाहर के विद्वानों की सहायता से भी शासन तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से इन साधारण भाषाओं का जो अध्ययन हुआ वह अति साधारण और नगण्य जैसा था। सच बात तो यह है कि सन् १८७८ तक कोई विद्वान् भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं की सूची तक भी तैयार न कर सका और उस समय लोगों का अनुमान था कि यह संख्या ५०-६० से लेकर २५० तक होगी।

कस्ट

इसी वर्ष डा० कस्ट ने साहस करके इस प्रकार की सूची बनाने का उद्योग किया किन्तु उनकी पुस्तक "पूर्वी द्वीपसमूहों की आधुनिक भाषाएँ" (माडर्न लैंग्वेजेज आँव द ईस्ट इण्डीज) काफी परिश्रम और गम्भीरता के साथ लिखी जाने पर भी उस समय तक उपलब्ध सामग्री का संकलन मात्र थी जो स्वयं अपूर्ण थी। सच बात तो यह है कि डा० कस्ट का कार्य एक प्रकार से प्रयोगात्मक था जिसका प्रमुख उद्देश्य लोगों को भाषासम्बन्धी अध्ययन में प्रवृत्त करने का था।

डा० कस्ट अपने उद्देश्य में सफल हुए और लोगों में भाषा सम्बन्धी अध्ययन के लिए स्फूर्ति आयी। यह पहला अवसर था जब कि सरकार एवं यूरोपीय विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि इस क्षेत्र में कितना अल्प कार्य हुआ है तथा कितना अधिक कार्य करना अभी शेष रह गया है। जनता में इसकी चर्चा हुई और इस सम्बन्ध में लिखा भी गया।

सन् १८८६ की वियेना कांग्रेस

सन् १८८६ में वियेना की ओरियण्टल कांग्रेस में अन्तिम रूप से इस सम्बन्ध में विचार हुआ। डा० कस्ट स्वयं इस कांग्रेस के एक सदस्य थे। सम्मेलन में समवेत विद्वानों ने एक प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार से यह अनुरोध किया कि वह भारत की भाषाओं का विधिवत् सर्वेक्षण कराये।[1] इस प्रस्ताव को सरकार ने सहानुभूतिपूर्वक

१. इस प्रस्ताव के प्रस्तावक डा० बूलर तथा समर्थक प्रो० वेबर थे। शब्दों तथा पत्रों द्वारा इसके समर्थक सर्व श्री बार्थ, बेण्डल, कावेल, कस्ट, ग्रियर्सन, हार्नले, मैक्स-मूलर, मोनियर विलियम्स, रोस्ट, साइस तथा सेनार्ट थे।

स्वीकार तो किया किन्तु आर्थिक कारणों से इस सम्बन्ध में विस्तृत योजना बनाने में देर हुई। सन् १८९४ ई० में यह प्रस्ताव व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत आया और इस सम्बन्ध की प्रारम्भिक विस्तृत योजना पर विचार हुआ। सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि इस सर्वेक्षण की सीमा क्या हो?

भारत का भाषा-सर्वेक्षण

विभिन्न स्थानीय सरकारों से परामर्श के पश्चात् मद्रास तथा बर्मा प्रदेशों एवं हैदराबाद एवं मैसूर राज्यों को इस सर्वेक्षण की सीमा से पृथक् रखने का निर्णय किया गया ताकि इसके अन्तर्गत हमारे भारतीय साम्राज्य की कुल २९ करोड़ ४० लाख जनसंख्या में से २२ करोड़ ४० लाखवाली आबादी का भाग, जिसमें पश्चिम से पूर्व तक बलोचिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमान्त, कश्मीर, पंजाब, बम्बई प्रेसीडेन्सी, राजपूताना एवं मध्य भारत, मध्य प्रदेश तथा बरार, संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध, बिहार एवं उड़ीसा, बंगाल तथा असम[1] प्रदेश सम्मिलित हैं, आ सके।

सर्वेक्षण का आधार

अब सर्वेक्षण के स्वरूप पर विचार होने लगा। कुछ वाद-विवाद के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि यह प्रमुख रूप से विभिन्न भाषाओं के नमूनों का संकलन होगा। एक आदर्श उद्धरण को तुलना के लिए चुन लिया जायगा और इसका सर्वेक्षण के क्षेत्र में बोली जानेवाली प्रत्येक ज्ञात भाषाओं एवं बोलियों में अनुवाद किया जायगा। चूंकि यह नमूना आवश्यक रूप से अनुवाद होगा जिसमें विभिन्न बोलियों तथा भाषाओं के मुहावरों के आने में सन्देह होगा, अतः प्रत्येक भाषा तथा बोली का दूसरा नमूना भी संगृहीत किया जायगा। यह नमूना लोकगीत अथवा विवरणात्मक गद्य का होगा और इसे लोगों के मुख से सुनकर उसी रूप में लिख लिया जायगा। तदुपरान्त इस योजना में एक तीसरा नमूना भी सम्मिलित किया गया, यह उन आदर्श शब्दों एवं परीक्षित वाक्यों की एक सूची थी जो भारत में बहु-प्रचलित थी तथा जिसे सन् १८६६ में सर जॉर्ज

१. मैंने विभिन्न प्रान्तों का नाम आजकल के ही अनुसार रखा है। सन् १८९४ में बिहार तथा उड़ीसा बंगाल प्रान्त के ही भाग थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आजकल बर्मा में भी सर्वेक्षण का कार्य चालू है।

कैम्बेल ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के लिए तैयार किया था।[1] तुलना के उद्देश्य से इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया कि इस सूची को सम्पूर्ण रूप से लिया जाय और ऐसा ही किया भी गया; किन्तु इसके साथ ही इसमें कुछ अधिक शब्द भी जोड़ दिये गये। इस प्रकार इस सर्वेक्षण के आधार ये तीन उदाहरण थे—आदर्श अनुवाद, स्थानीय चुने गये उद्धरण तथा शब्दों एवं वाक्यों की सूची। इसके बाद यह निश्चय किया गया कि प्रथम नमूना बाइबिल के अपव्ययी पुत्र (प्रॉडिगल सन) की कथा होगी। इसमें भारतीय भावना का विचार करके यत्किंचित् परिवर्तन भी कर दिया गया। इस उद्धरण का प्रयोग पहले भी किया जा चुका था और अनुभव से यह विदित हुआ था कि इस कार्य के लिए यह अत्यधिक उपयुक्त था।[2]

इस निर्णय के पश्चात् मुझे भाषासम्बन्धी नमूनों को संकलित करने तथा उन्हें प्रकाशन के लिए सम्पादित करने का कार्यभार सौंपा गया। इस उद्देश्य से विभिन्न स्थानीय अधिकारियों को मुझे आवश्यक सहायता प्रदान करने का आदेश दिया गया और यदि मैं भारतीय सरकार की सेवाओं में काम करनेवाले अपने भाइयों तथा अन्य लोगों के द्वारा, जिनमें यूरोपीय तथा भारतीय धर्मप्रचारक तथा अन्य साधारण लोग भी थे, सहानुभूतिपूर्ण तथा निःसंकोच भाव से प्रदान की गयी सेवाओं के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन नहीं करता तो यह मेरी कृतघ्नता होगी।

भाषाओं की प्रारम्भिक सूची

नमूनों को प्राप्त करने से पूर्व सबसे पहले यह देखना था कि हम किसका नमूना लेने जा रहे हैं। इसके लिए प्रथम कार्य यह था कि सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत उस समय विद्यमान सभी विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों की सूची तैयार की जाय। इसके लिए एक परिपत्र (फ़ार्म) तैयार किया गया जिसे प्रत्येक जिला-अधिकारी तथा राजनीतिक एजेन्टों के पास इस अनुरोध के साथ भेज दिया गया कि वे उक्त परिपत्र में अपने क्षेत्र में बोली जानेवाली प्रत्येक भाषा का नाम तथा उसके बोलनेवालों की संख्या भरकर भेज दें। धीरे-धीरे वे परिपत्र (फ़ार्म) तथा उनमें लिखित नमूने मेरे पास वापस आये

१. जे० ए० एस० बी० खण्ड XXXV भाग II विशेष अंक, पृष्ठ २०१ तथा आगे

२. इसमें तीनों पुरुषों के सर्वनाम, संज्ञा के रूपों को सिद्ध करनेवाले अधिकांश कारक तथा वर्तमान, भूत एवं भविष्यत् काल की क्रियाओं के रूप हैं।

जिन्हें देखकर मैं आश्चर्यचकित हो उठा। इनके अनुसार सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत २३१ भाषाएँ तथा ७७४ बोलियाँ मिली हैं। भाग्यवश जाँच के बाद यह भी पता चला कि विभिन्न प्रदेशों से, इनमें से कतिपय नाम दो बार, तीन बार आ गये थे और सम्भवतः ऐसा भी हुआ कि एक ही भाषा के नमूने विभिन्न नामों से आये। इन सब बातों पर विचार करने के पश्चात् मैं अब यह कह सकता हूँ कि भारतीय साम्राज्य के उस क्षेत्र में, जहाँ यह सर्वेक्षण का कार्य सम्पन्न हुआ, १७९ भाषाएँ तथा ५४४ बोलियाँ प्रचलित हैं। इन सबका सर्वेक्षण के विभिन्न भागों में वर्णन किया गया है। सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्य में १८८ भाषाएँ थीं।[1] जनगणना में बोलियों की संख्या नहीं दी गयी है।

सूचियों का संकलन

भाषासम्बन्धी सूचियों को तैयार करना कोई साधारण कार्य न था और न यह ऐसा काम था जिसे कोई बुद्धिमान् लिपिक (क्लर्क) कर सकता था। प्रत्येक प्रदेश में बोली जानेवाली भाषाओं की सूची की सहायता से समस्त देश के लिए एक सामान्य सूची तैयार करने में जो कठिनाई हुई वह अब समाप्त हुई। विभिन्न सूत्रों से प्राप्त सैकड़ों परिपत्रों में उपलब्ध सामग्री को एक साथ रखने का जिन्हें अनुभव है वे ही इसकी कठिनाई को जान सकते हैं और जिन्हें इस प्रकार का अनुभव नहीं है वे अनुमान कर सकते हैं। सबसे अधिक कठिनाई तो प्रायः स्थानीय सूत्रों से प्राप्त सामग्री को ठीक करने में ही हुई और यह कार्य मुझे करना पड़ा। प्रत्येक अधिकारी अब अपने जिले की प्रमुख भाषा से परिचित था और यदि उसे वहाँ पर्याप्त समय तक रहने का अवसर मिलता तो उसे उस भाषा का व्यावहारिक अनुभव भी हो जाता; लेकिन कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही शिक्षित क्यों न हो, किसी प्रदेश में मुख्य रूप से बोली जानेवाली भाषा के बीच में एक छोटे-से समूह द्वारा व्यवहृत बोली का पता नहीं लगा सकता था। किन्तु इस सम्बन्ध में जब जाँच की गयी तो उसका भी पता लग गया। इसका यहाँ एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। हिमालय-वर्ती एक जिले में, जहाँ की मुख्य भाषा आर्य है, एक ऐसी छोटी बस्ती का पता चला जहाँ के लोग मूलतः तिब्बत से आये थे और वहाँ तिब्बती भाषा भी प्रचलित थी। किसी भी अधिकारी को इसका पता न था।

१. जब बर्मा का सर्वेक्षण समाप्त हो जायगा तो निस्सन्देह ये संख्याएँ भी बढ़ जायँगी।

एक अन्य भाषा के माध्यम से वहाँ के लोगों से सम्पर्क स्थापित किया गया। जिला-अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट में इस भाषा का नाम दर्ज कर दिया। यह नाम एक या दो शब्दों का नहीं था। यह एकाक्षर शब्दों का एक पूरा पृष्ठ था। मैं इसे समझ न सका और न तिब्बती भाषा के जानकार मेरे मित्र ही इसे समझ पाये। वास्तव में वहाँ तिब्बती को अंग्रेजी अक्षरों के द्वारा व्यक्त करने का उद्योग किया गया था और इस लिखनेवाला व्यक्ति तिब्बती भाषा से बिलकुल परिचित न था और उसने जैसा सुना था वैसा ही लिख दिया था। उस भाषा का नाम समझने के प्रयत्न में मैं असफल रहा। अन्त में मैंने जिला-अधिकारी को इस सम्बन्ध में पुनः जाँच करने के लिए लिखा। उत्तर में यह स्पष्टीकरण आया कि एकाक्षर शब्दों में लिखित शब्दसमूह वस्तुतः किसी भाषा का नहीं है अपितु टूटी-फूटी तिब्बती के द्वारा यह आशय प्रकट करने का स्थानीय ढंग है कि 'आप क्या चाहते हैं, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।'

भाषा का स्थानीय नामकरण

दूसरी कठिनाई स्थानीय बोलियों के नाम की थी। जिस प्रकार से एक फ्रेंच प्रहसन का पात्र यह नहीं जानता था कि वह जीवन भर गद्य बोलता रहा, उसी प्रकार एक सामान्य भारतीय ग्रामीण यह नहीं जानता कि जिस बोली को वह बोल रहा है उसका नाम भी है। वह अपने यहाँ से पचास मील की दूरी पर बोली जानेवाली बोली का नाम तो बता सकता है, किन्तु जब उसकी बोली का नाम पूछा जाता है तो वह कह उठता है, "ओह, मेरी बोली का तो कुछ नाम नहीं है, यह तो विशुद्ध भाषा है।" इस प्रकार बहुत सी बोलियों के नाम उनके बोलनेवालों से नहीं प्राप्त हुए अपितु उनके पड़ोसियों के द्वारा बतलाये हुए हैं। कहीं-कहीं तो यह नाम भी विचित्र है। उदाहरणस्वरूप पंजाब के दक्षिण की एक बोली का नाम जंगली है। यह जंगल अथवा बीकानेर की सीमा के मरुस्थल प्रदेश की बोली है। किन्तु जंगली का एक अर्थ असभ्य भी होता है और इस बोली की जाँच करते समय एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जो यह स्वीकार करता कि वह यह बोली बोलता है। जिससे भी पूछा जाता था वह यही कहता था, "हाँ, हम लोग जंगली बोली के सम्बन्ध में जानते हैं किन्तु वह यहाँ नहीं बोली जाती; यहाँ से कुछ दूर आगे बढ़ने पर वह बोली आप को मिलेगी।" आगे बढ़ने पर भी प्रायः यही उत्तर मिलता था और इस बोली के सम्बन्ध में खोज करनेवाला व्यक्ति राजपूताने के रेगिस्तान के उस भाग में पहुँच जाता था, जहाँ कोई बोली नहीं बोली जाती। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय अधिकारियों को बोलियों के नाम तथा उनकी पहचान के सम्बन्ध में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्थानीय सूचियों के आधार पर प्रादेशिक सूचियाँ तैयार की गयीं और तब उन्हें प्रकाशित किया गया। इन्हें भारत की बोलियों एवं भाषाओं की शुद्ध एवं ठीक सूची नहीं कहा जा सकता। इन सूचियों से केवल उस समय की वस्तु-स्थिति एवं तत्कालीन भाषाओं एवं बोलियों के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में सूचना देनेवाले भी स्थानीय अनुभवी अधिकारी ही थे जो भाषाशास्त्र के विशेषज्ञ होने का दावा नहीं कर सकते। सच तो यह है कि यही लोग इस सर्वेक्षण के आधार बने। जब सूचियाँ प्रकाशित हुई तो उन्हें दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया। इनमें पहले वर्ग के अन्तर्गत उन बोलियों को स्थान मिला जो किसी विशेष अंचल में बोली जाती थीं और दूसरे वर्ग में उन्हें रखा गया जिनका व्यवहार इन अंचलों में रहनेवाले विदेशी लोग करते थे। दूसरे वर्ग की बोलियों को बिलकुल छोड़ दिया गया और केवल प्रथम वर्ग पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया।

नमूनों का संग्रह

इसके बाद, प्रत्येक जिलाधिकारी को यह आदेश दिया गया कि वह अपने जिले में व्यवहृत प्रत्येक स्थानीय भाषा के तीन नमूने भेजे। इन नमूनों को तैयार करने में साव-धानी बरतने का भी आदेश दिया गया। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से प्रथम नमूना "अपव्ययी पुत्र की कथा" का अनुवाद था। इस सम्बन्ध में इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि अधिकांश अनुवादक अंग्रेज़ी जाननेवाले न हों। उन्हें सहायता देने के लिए ब्रिटिश तथा विदेशी बाइबिल सोसाइटी के मिशनरियों, स्थानीय मिशनरियों तथा सर्वेक्षण में विशेष रूप से दिलचस्पी रखनेवाले एक या दो सरकारी अधिकारियों की मदद से इस कथा का अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में कराकर संगृहीत किया गया। यह संग्रह सन् १८९७ में "विभिन्न भारतीय भाषाओं में नमूने के अनुवाद" शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। इसके ६५ पाठान्तर थे और इसका मूल उद्देश्य सर्वेक्षण की योजना को कार्यान्वित करने में सहायता देना था। इससे यूरोप के विद्वानों में कुछ समय के लिए उत्सुकता भी पैदा हुई। ऐसा अनुमान किया गया कि जिसे अंग्रेजी का ज्ञान भी नहीं है, उसे भी सर्वेक्षण के लिए नमूना तैयार करते समय इस संग्रह के किसी न किसी पाठ से अपनी भाषा अथवा बोली में अनुवाद करने में सहायता मिल जायगी। बाद के अनुभवों से इसकी पुष्टि भी हुई।

द्वितीय नमूने के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि इसके चुनाव का भार स्थानीय लोगों पर था। लेकिन इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित आदेश दिये गये—(क) यदि कोई स्थानीय लिपि प्रचलित हो तो इस नमूने को उसी में देना

चाहिए। (ख) इसका दूसरा रूप रोमन लिपि में होना चाहिए और प्रत्येक पंक्ति का शब्दशः अनुवाद उसी के नीचे देना चाहिए। इस द्वितीय नमूने का स्वतंत्र अनुवाद अच्छी अंग्रेजी में भी देना था। स्थानीय अधिकारियों को यह भी आदेश दिया गया कि देशी भाषा में अनुवाद करते समय साहित्यिक भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि इस नमूने का मुख्य लक्ष्य यह है कि इसे प्रत्येक अनुवादक की मातृ-भाषा में प्राप्त किया जाय, चाहे वह गँवारू बोली ही क्यों न हो। तीसरे नमूने में आदर्श शब्द एवं वाक्य थे। इन्हें छपे हुए फ़ार्म के रूप में पुस्तकाकार तैयार किया गया था। इनमें खाली स्थानों को भरकर भेजना था।

जब प्रत्येक प्रान्त की भाषाओं की सूची तैयार हो गयी तो भाषाओं एवं बोलियों के नमूने भेजने के लिए परिपत्र भेजे गये। ये नमूने सन् १८९७ में आने शुरू हो गये और सन् १९०० के अन्त तक तो अधिकांश आ भी गये, यद्यपि कतिपय नमूने बाद के वर्षों में भी आते रहे। इनकी जाँच तथा सम्पादन का काम सन् १८९८ में आरम्भ हुआ। सर्वेक्षण का प्रारम्भिक कार्य इस प्रकार भारत में ही सम्पन्न हुआ, किन्तु सन् १८९९ में मैं इंग्लैण्ड वापस चला गया और वहाँ कई वर्षों तक क्रिश्चियाना के डा० कोनो (जो अब प्रोफेसर हो गये हैं) योग्यतापूर्वक मेरी सहायता करते रहे।

नमूनों का सम्पादन

नमूनों का सम्पादन रोचक कार्य था, लेकिन इसमें कुछ अप्रत्याशित कठिनाइयाँ आयीं। कुछ भी प्रकाशित करने से पूर्व, वर्गीकरण की एक सामान्य पद्धति निर्धारित करना आवश्यक था, किन्तु इसके आधारस्वरूप प्राप्त सामग्री का ज्ञान अपूर्ण था। जैसे-जैसे कार्य आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे ऐसे नवीन तथ्य सामने आये जिनके कारण वर्गीकरण में संशोधन आवश्यक हो गया। कभी-कभी तो इस प्रकार के संशोधन बहुत देर से हुए, जिससे प्राप्त ज्ञान के आधार पर सामग्रियों को, उस रूप में सुव्यवस्थित ढंग से नहीं रखा जा सका जिस रूप में, मैं अब रखना चाहता हूँ। यह बात हिन्द-चीनी भाषाओं के सम्बन्ध में खास तौर से हुई। इन भाषाओं का न तो कोई व्याकरण ही उपलब्ध था और न शब्दकोष ही; अतएव मुझे तथा मेरे सहायक को ऐसे मार्ग से चलना पड़ा जिस पर किसी अन्य विद्वान् को चलने का अवसर नहीं मिला था। यहाँ, वर्गीकरण में त्रुटियाँ अनिवार्य थीं; लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि कोई भी बड़ी अशुद्धि नहीं होने पायी। आज मैं कतिपय भाषाओं का वर्गीकरण, इस सर्वेक्षण में प्रकाशित वर्गीकरण से भिन्न ढंग से कर सकता हूँ किन्तु उपलब्ध ज्ञान के आधार पर प्रस्तुत वर्गीकरण में मैं किसी प्रकार के परिवर्तन की जरूरत नहीं समझता।

प्राप्त नमूने संख्या में कितने थे, इसकी मैंने गणना नहीं की। ये कई हजार हैं और इन सभी को प्रकाशित करना भी सम्भव नहीं है। जान-बूझकर अधिक नमूने मँगाये गये थे। यह भी सोचा गया था कि इन नमूनों के सापेक्षिक महत्त्व होंगे, प्रत्येक बोली के कई नमूने प्राप्त होंगे। इनमें से कतिपय सावधानी, कुछ अज्ञता एवं अन्य लापरवाही के साथ तैयार किये गये होंगे। इनमें से कई नमूने तो ऐसे लोगों के मुख से उपलब्ध हुए होंगे जो यह समझने में भी असमर्थ होंगे कि वास्तव में इनकी आवश्यकता क्या है ? इस प्रकार अनेक नमूनों में से महत्त्वपूर्ण नमूने को ही चुनना था और यह कार्य भी सम्पन्न हुआ। हिमालय तथा असम प्रदेश की सीमा की कतिपय अप्रसिद्ध बोलियों के केवल एक-एक ही नमूने प्राप्त हुए। वास्तव में ये ऐसी बोलियाँ थीं जो इसके पूर्व कभी भी लिखित रूप में नहीं आयी थीं, अतएव इनके नमूनों के लिखने में अशुद्धि की आशंका थी। इस सम्बन्ध में हमारे सीमान्त के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं। इन्होंने निरन्तर सहानुभूतिपूर्वक पत्र-व्यवहार कर अनेक सन्देहास्पद बातों का स्पष्टीकरण किया। मुझे सहायता देनेवालों में वे अत्यधिक उत्साही थे। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में लोग इस बात का अनुभव करेंगे कि ये नमूने अधिक अशुद्ध नहीं थे। इनके पूर्ण शुद्ध होने की तो मैं आशा भी नहीं करता। इन नमूनों को शुद्ध रूप देने में कभी-कभी कितनी कठिनाई हुई, इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। हिन्दूकुश पर्वत में हिमपात होने के कारण एक नमूने के संशोधन में छः मास से अधिक समय लग गया। इसका कारण यह था कि चित्राल के राजनीतिक एजेण्ट को पामीर की एक बोली के लिए दुभाषिये की सहायता न प्राप्त हो सकी। फिर, हिन्दूकुश की काफिर बोलियों के बोलनेवालों में से एक बोली के किसी भी प्रतिनिधि से सम्पर्क न स्थापित हो सका। अन्त में काफी खोज के बाद इस बोली के बोलनेवाले एक गड़ेरिये को प्रलोभन देकर उसके निवासस्थान से चित्राल लाया गया। वह बज्र-मूर्ख था और सम्भवतः अत्यधिक भयभीत भी था। वह केवल अपनी मातृभाषा ही जानता था। सौभाग्य से बशगैलनिवासी एक ऐसे शेख मिल गये जो इस गड़ेरिये की भाषा को कुछ-कुछ जानते थे, और साथ ही चित्राली से भी परिचित थे। उनकी सहायता से ही बशगली तथा चित्राली के माध्यम से बाइबिल (के अपव्ययी पुत्र) की कथा का इस बोली में अनुवाद सम्पन्न हो सका। यह अनुवाद पूर्ण रूप से शुद्ध है यह आशा ही व्यर्थ है किन्तु स्थानीय अधिकारियों की सावधानी एवं सहायता से एक पाठ तैयार हो गया। इसमें कई ऐसे वाक्य हैं जिनका मैं पूर्ण रूप से विश्लेषण नहीं कर पाया हूँ किन्तु भाषाविज्ञान द्वारा निर्धारित नियमों के द्वारा इसकी परीक्षा करने पर इसे असफल अनुवाद नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में यह अकेला उदाहरण नहीं था। ऐसी बोली भाषाएँ मिलीं जिनके लिए कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिल सका जो अंग्रेजी के साथ-साथ उनमें से एक को भी जानकार हो। लोग प्रायः यह मानते होंगे कि चटगाँव बन्दरगाह के समीप बोली जानेवाली अधिकांश भाषाओं से हमारे अधिकारीगण परिचित होंगे। फिर भी एक ऐसे अपराध के मामले का उदाहरण हमारे सामने है जिसकी सुनवाई चटगाँव के पर्वतीय प्रदेश में हुई थी। इस मामले में गवाही देनेवालों में एक महिला भी थी जो केवल खमी भाषा जानती थी। इस खमी का अनुवाद म्रू में किया गया। फिर म्रू से उसे अराकानी में तथा अराकानी से उसे स्थानीय बँगला में अनूदित किया गया। इन चार अनुवादों से गुजरने के बाद अन्त में यह गवाही, मजिस्ट्रेट द्वारा अंग्रेजी में दर्ज की गयी। इसमें तत्सम्बन्धी अधिकारी का कुछ दोष नहीं है। भारत में ऐसे कई प्रदेश हैं जहाँ की बोलियों में अत्यधिक वैषम्य है। असम के छोटे प्रदेश में, जहाँ की जनसंख्या साठ लाख पचास हजार के लगभग अथवा लन्दन की जनसंख्या से दस लाख कम है, सन् १९११ की जनगणना के अनुसार, ८१ भाषाएँ बोली जाती थीं। यहाँ की भाषाओं की संख्या और भी अधिक थी किन्तु उनका उल्लेख नहीं हो पाया। मजोफान्टी भी जो अट्ठावन भाषाएँ बोल सकता था, यहाँ आकर घबड़ा जाता।

प्रत्येक बोली की परीक्षा करने के बाद उसके एक अथवा अनेक उदाहरण प्रकाशन के लिए चुन लिये जाते थे। इन नमूनों से ही व्याकरण तथा अन्य विशेषताओं की संक्षिप्त रूपरेखा तैयार की जाती थी और उनके बोलनेवालों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातों का भी उल्लेख किया जाता था। इसके पश्चात् बोलियों का भाषाओं के अन्तर्गत वर्गीकरण किया जाता था और प्रत्येक भाषा के सम्बन्ध में एक विस्तृत भूमिका दी जाती थी, जिसमें उसके बोलनेवालों की संख्या तथा स्वभाव आदि, प्रत्येक बोली की विशेषताएँ तथा अन्य बोलियों से उसका सम्बन्ध, भाषा का प्राचीन इतिहास और अन्य भाषाओं के साथ उसके सम्बन्ध का भी उल्लेख किया जाता था। इसके साथ ही, यदि उस बोली में साहित्य था तो उसका विवरण तथा उसमें उपलब्ध ग्रन्थों की पूर्ण सूची एवं उसके व्याकरण की संक्षिप्त रूपरेखा भी दी जाती थी। ये सभी बातें सर्वेक्षण के अन्य खण्डों में उपलब्ध होंगी। यह भाग तो अन्य खण्डों की भूमिका है।

तथ्यों का संग्रह, सिद्धान्तों का नहीं

सर्वेक्षण के कार्यों को सम्पन्न करते समय इस बात पर सदैव विशेष ध्यान दिया गया कि जो भी परिणाम निकलें वे सिद्धान्त रूप में न हों अपितु वे तथ्यों का संग्रह हों। इसके लिए भाषाओं को किसी न किसी क्रम में रखना पड़ा और तब उनके वर्गीकरण की

आवश्यकता हुई। इसके बाद सिद्धान्तों का सहारा लेकर उनका पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करना पड़ा।[1] यह अनिवार्य था किन्तु इसके आगे इस बात का ध्यान रखा गया कि यह सर्वेक्षण भारतीय भाषाशास्त्र का विश्वकोष न बन जाय। सिद्धान्तों के निर्माण का युग तो इसके बाद आयेगा जब कि इन पंक्तियों के लेखक से बढ़कर योग्य विद्वान् सभी तथ्यों को स्वायत्त करके इस सम्बन्ध में कार्य करेंगे। सच तो यह है कि इसका भी आरम्भ हो गया है। आस्ट्रिक भाषाओं के सम्बन्ध में पेटर शिमिट के कार्यों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वास्तव में मेरे लिए यह प्रसन्नता की बात है कि जूल ब्लाश ने मराठी के अध्ययन तथा प्रो० टर्नर और प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपने गुजराती एवं बँगला के महत्त्वपूर्ण अध्ययनों तथा डा० पाल टेडेस्को ने अपने "आर्य-भाषाओं के इतिहास" सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखने में सर्वेक्षण का पूर्ण रूप से उपयोग किया है। यहाँ पर पेटर शिमिट द्वारा की गयी खोजों के एक दिलचस्प परिणाम की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इसका इस सर्वेक्षण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जैसा कि हमें ज्ञात है, मुण्डा भाषाएँ छोटा नागपुर तथा भारत के मध्य भाग में बोली जाती हैं। यह बात भी सबको ज्ञात है कि इन मुण्डा भाषाओं से सुदूर उत्तर में स्थित हिमालय में व्यवहृत भाषाओं में तिब्बती-बर्मी भाषाओं की विशेषताएँ वर्तमान हैं। किन्तु यहाँ सर्वेक्षण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दार्जिलिंग से लेकर पंजाब तक एक ऐसी विचित्र बोली की पट्टी चली गयी है जिसमें पूर्वस्थित मुण्डा वंश की भाषाओं की विशेषताएँ स्थित हैं किन्तु जिसे बाद में आनेवाले तिब्बती-बर्मी भाषाभाषी लोगों ने दबा दिया है। इस प्रकार के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन काल में पंजाब-स्थित कनवार से लेकर भारत के बाहर प्रशान्त महासागर होते हुए ईस्टर द्वीप तथा न्यूजीलैण्ड तक एक भाषा प्रचलित थी, जिसका अवशेष इन स्थानों की भाषाओं में आज भी वर्तमान है। भाषाविज्ञान तथा नृविज्ञान के पार्थक्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिए और इन तथ्यों को हमें नृविज्ञानियों के हाथ में आगे की खोज के लिए सौंप देना चाहिए।

१. सर्वेक्षण को कम्पोज करने के पूर्व, मोटे तौर पर, इसे विभिन्न खण्डों में विभाजित करने की स्कीम आवश्यक थी। यह कार्य सम्पन्न किया गया, किन्तु उस समय भी मुझे कार्य की सीमा निश्चित रूप से ज्ञात न थी। मुझे बोलियों की संख्या का भी ज्ञान न था। इसी कारण इसके कतिपय खण्डों का आकार बहुत बड़ा हो गया और उन्हें दो या इससे अधिक भागों में बाँटना पड़ा। एक बार जब विविध खण्डों की स्कीम स्वीकृत हो गयी तो इसकी रूपरेखा को परिवर्तित करना अनावश्यक हो गया।

भाषा और बोली

सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने में कठिनाई पड़ी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतन्त्र भाषा है अथवा अन्य किसी भाषा की बोली है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का निर्णय देना, जिसे सब लोग स्वीकार कर लेंगे, कठिन है। भाषा और बोली में प्रायः वही सम्बन्ध है जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है। यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालवार्न पहाड़ी है, किन्तु इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दार्जिलिंग के पहाड़ को, जो ७'५०० फुट ऊँचा है, पहाड़ी और स्नोडन को, जो केवल ३'५०० फुट ऊँचा है, पहाड़ कहते हैं। भाषा और बोली का प्रयोग भी प्रायः इसी प्रकार से शिथिल रूप में होता है। साधारण रूप से हम यह कह सकते हैं कि एक भाषा की विभिन्न बोलियों में समानता होती है और उस भाषा को बोलनेवाले उसे समझ जाते हैं किन्तु अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा को ग्रहण करने के लिए विशेष परिश्रम और अध्ययन की आवश्यकता होती है। वास्तव में यह "सेंचुरी डिक्शनरी" में दी हुई परिभाषा है[1] किन्तु इसके आगे लेखक का कथन है कि यह तात्त्विक अन्तर नहीं है और उत्तर भारत की आर्यभाषाओं के सम्बन्ध में विचार करते समय तो यह परिभाषा पूर्णतया लागू नहीं हो पाती। यदि भाषा और बोली के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हम पारस्परिक बोधगम्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करें तो यह भी ठीक न होगा, क्योंकि बंगाल और पंजाब के बीच थोड़ा बहुत शिक्षित प्रत्येक व्यक्ति दो भाषाएँ समझ लेता है। इस क्षेत्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने घर एवं पड़ोस में स्थानीय बोली का व्यवहार करता है किन्तु अपरिचित व्यक्तियों से वार्तालाप करते समय वह हिन्दी अथवा हिन्दोस्तानी के किसी न किसी रूप का व्यवहार करता है। इसके अतिरिक्त राजपूताना, मध्यभारत तथा गुजरात के विस्तृत क्षेत्रों में दैनिक जीवन में व्यवहृत शब्द एवं शब्द-समूह प्रायः समान हैं। हाँ, उच्चारण में अन्तर अवश्य है। इस प्रकार यह कहा जाता है और सामान्य रूप से लोगों का विश्वास भी यही है कि गंगा के समस्त कोठे में, बंगाल और पंजाब के बीच, अपनी अनेक स्थानीय बोलियों सहित, केवल एकमात्र प्रचलित भाषा हिन्दी ही है। एक दृष्टि से यह ठीक है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सर्वत्र हिन्दी अथवा हिन्दोस्तानी शासन की भाषा है और ग्रामीण स्कूलों में यही शिक्षा का माध्यम भी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस क्षेत्र के लोग द्विभाषाभाषी हैं

१. देखो, इसमें 'लैंग्वेज' शब्द

अतएव व्यवहार में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती और ये लोग नहीं चाहते कि शासन-कार्य के लिए अनेक भाषाएँ स्वीकार कर कठिनाई उत्पन्न की जाय।

यह सब होते हुए भी, तथाकथित हिन्दी की इन बोलियों की जब भाषाशास्त्री परीक्षा करता है और इन्हें समूह के अन्तर्गत लाने अथवा इन्हें वर्गीकृत करने का उद्योग करता है तो इनके मुहावरों तथा गठन में उसे तात्त्विक एवं अत्यधिक अन्तर मिलता है। इनमें से कतिपय बोलियाँ तो अंग्रेजी की भाँति विश्लेषणात्मक हैं किन्तु अन्य जर्मन की भाँति संश्लेषणात्मक हैं। इनमें से कुछ का व्याकरण तो नितान्त सरल है और उनके वाक्यों में, शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध, शब्द रूपों तथा धातुरूपों द्वारा प्रकट नहीं होता अपितु सहायक शब्दों की सहायता से सम्पन्न होता है; किन्तु इनमें कुछ बोलियाँ ऐसी भी हैं जिनका व्याकरण लैटिन से भी अधिक जटिल है और जहाँ क्रिया का रूप केवल कर्ता के अनुसार ही परिवर्तित नहीं होता अपितु कर्म के अनुसार भी बदल जाता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन सभी बोलियों को एक भाषाविशेष की बोली मानना वैसा ही असंगत है जैसा जर्मन को अंग्रेजी की बोली मानना। यही कारण है कि सर्वेक्षण में इन बोलियों को व्याकरणीय गठन के अनुसार विभिन्न समूहों में वर्गीकृत किया गया है और प्रत्येक को भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। ये हैं—विहारी, पूर्वी हिन्दी तथा पश्चिमी हिन्दी। इस वर्गीकरण की भी आलोचना हुई है। उदाहरणस्वरूप सन् १९२१ की जनगणना की रिपोर्ट के लेखक महोदय लिखते हैं[1]—"यदि विहारी भाषा-भाषी गोरखपुर के एक किसान से वार्तालाप किया जाय और पुनः पश्चिमी हिन्दीभाषा-भाषी झाँसी के जंगल में रहनेवाले किसी व्यक्ति से बातचीत की जाय तो दोनों की भाषा में ठीक उतना अन्तर होगा जितना डिवोन तथा एबर्डीन (ब्रिटेन) के कृषकों की भाषा में। यदि आपके लिए एक की भाषा बोधगम्य है तो दूसरे की भाषा भी बोधगम्य होगी।" मुझे स्वयं डिवोन तथा एबर्डीन की बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन का कभी अवसर नहीं प्राप्त हुआ है किन्तु मेरी धारणा है कि इस सम्बन्ध में आलोचना करते समय वास्तविक अन्तर पर ध्यान नहीं दिया गया है। यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि एक शिक्षित व्यक्ति दोनों बोलियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकता है किन्तु वास्तवकि प्रश्न यह है कि जब डिवोन का कृषक सहसा एबर्डीन में स्थानान्तरित कर दिया जायगा तो क्या वह अपने पड़ोसी किसान के साथ तत्काल वार्तालाप का सम्बन्ध स्थापित करने में सफल होगा? मुझे भय है कि इस प्रकार की पारस्परिक बातचीत या विचारविनिमय के लिए पर्याप्त धैर्य

१. रिपोर्ट, अध्याय ९ § ३

आवश्यक होगा और यदि दोनों में यह सम्बन्ध स्थापित भी हो जाय तो उनकी भाषा विचित्र होगी।

इस विवाद के साथ ही "सेंचुरी डिक्शनरी" (शताब्दी-कोश) की परिभाषा पर पुनः विचार करना आवश्यक है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। सच तो यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओं में भेदकरण केवल पारस्परिक वार्तासम्बन्ध पर ही निर्भर नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है। इनमें सर्वप्रथम, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भाषा का व्याकरणीय गठन है। हमारे सॉमरसेट के किसान की भाषा झांसी के जंगल में रहनेवाले किसान के लिए चाहे बोधगम्य हो या न हो, किन्तु इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि उसकी भाषा अत्यधिक संश्लिष्ट है तथा उसके क्रियापदों के रूप लैटिन से भी अधिक जटिल हैं। इसके विपरीत झांसी के जंगल का व्यक्ति एक ऐसी भाषा का व्यवहार करता है जिसका व्याकरण बिलकुल संश्लिष्ट नहीं है। उसके क्रियापदों में केवल एक काल तथा दो कृदन्तों का ही व्यवहार हुआ है और उसमें अन्य कालों का निर्माण कृदन्तों तथा सहायक क्रियाओं के सहयोग से सम्पन्न होता है। दोनों स्थानों के किसानों की भाषा के शब्द-समूह भी समान हो सकते हैं किन्तु एक की भाषा का व्याकरणीय गठन दूसरे से सर्वथा भिन्न है, इस अवस्था में भाषाशास्त्र की दृष्टि से, इन दोनों बोलियों को किसी एक भाषा की बोली कहना अनुपयुक्त है। एक अन्य तथ्य भी इस भेदकरण को प्रभावित करता है। यह जातीयता है। प्रायः अँग्रेजी किसानों को हालैण्ड के लोगों से भाषागत सम्पर्क स्थापित करने में कठिनाई उपस्थित नहीं होती, किन्तु कोई भी इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि डच एवं अंग्रेजी दो पृथक भाषाएं हैं और यह बात उस समय और भी पुष्ट हो जाती है जब इन दोनों जातियों में स्वतंत्र रूप से साहित्य का विकास हुआ है। इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण असमियां भाषा है। आज लोग इसे एक स्वतंत्र भाषा मानते हैं। किन्तु यदि इसके व्याकरणीय रूपों एवं शब्द-समूह पर विचार किया जाय तो इस बात को अस्वीकार करना कठिन होगा कि यह बँगला की एक बोली है। इस विषय में यह निश्चित रूप से साधु बँगला से उसी रूप में सम्बन्धित है जिस रूप में उससे चटगांव की बोलचाल की बँगला। फिर भी इस बात में किसी प्रकार का विवाद नहीं है कि असमियां एक स्वतंत्र भाषा है। यह केवल एक स्वतंत्र जाति की भाषा ही नहीं है जिसका अपना इतिहास है, अपितु इसका सुन्दर साहित्य भी है जो शैली एवं विषय की दृष्टि से साधु बँगला से भिन्न है। इस प्रकार यहाँ हमें एक ऐसी भाषा का उदाहरण प्राप्त हो जाता है जिसमें पारस्परिक बोधगम्यता का अभाव तो नहीं है किन्तु जिसमें जातीयता एवं साहित्य की दृष्टि से अन्तर है।

सर्वेक्षण का सामान्य परिणाम

प्रथम अध्याय

पूर्वकथन

सर्वेक्षण का आधार, १८९१ की जनगणना

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह भाषा-सर्वेक्षण सम्पूर्ण भारत का नहीं है। मद्रास और बर्मा के प्रदेश तथा हैदराबाद एवं मैसूर के राज्य इसकी सीमा से बाहर रहे

चित्र ३—सर्वेक्षण की सीमा.

हैं। साथ में लगे हुए मानचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कौन भाग इसके अन्तर्गत हैं और कौन इसके बाहर। सर्वेक्षण में प्रत्येक भाषा तथा बोली के बोलनेवालों

की संख्या भी दी गयी है। यह अफसोस की बात है कि अन्ततः यह संख्याएँ सन् १८९१ की जनगणना पर आधारित हैं किन्तु इसके अतिरिक्त कोई और व्यावहारिक उपाय भी नहीं था। अनुभव से यह देखा गया है कि इधर ३० वर्षों में जनसंख्या में जो वृद्धि हुई है उसे ध्यान में रखते हुए जब हम सन् १९२१ की जनसंख्या से मिलान करते हैं तो आश्चर्यजनक रूप से हिसाब ठीक बैठ जाता है। सन् १८९१ की जनसंख्या को इस सर्वेक्षण का आधार मानने का कारण यह था कि इसका कार्य सन् १८९४ में प्रारम्भ हुआ। विशेष अवस्थाओं को छोड़कर, प्रायः भारतीय जनगणना की तालिका में केवल भाषाओं के ही नाम रहते हैं; बोलियों की तालिका उसमें नहीं रहती। इसके विपरीत इस भाषा-सर्वेक्षण के लिए प्रत्येक भाषा की सभी बोलियों की जाँच आवश्यक थी और यह कार्य सम्पन्न भी किया गया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस सर्वेक्षण के लिए प्रत्येक स्थान से, वहाँ बोली जानेवाली बोलियों की सूची मँगायी गयी। सन् १८९६ तथा उसके बाद के वर्षों में प्रत्येक क्षेत्र के सरकारी अधिकारी द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। सन् १८९१ की जनगणना के अनुसार स्थानीय सरकारी अधिकारियों को अपने जिले अथवा रियासत की भाषाओं का पूर्ण ज्ञान था। स्थानीय ज्ञान और अपने क्षेत्र की जाँच के उपरान्त अधिकारियों ने अपने क्षेत्र की प्रत्येक भाषा की बोलियों एवं उनके बोलनेवालों की संख्या का भी पता लगाया। प्रत्येक भाषा के अन्तर्गत जितनी भी बोलियाँ थी उन सबके बोलनेवालों की संख्या के जोड़ का उस भाषा की संख्या से मिलान किया गया और इस प्रकार विभिन्न बोलियों के बोलनेवालों की संख्या का अप्रत्यक्ष आधार सन् १८९१ की जनगणना है। इस प्रकार से प्राप्त अंकों के संशोधन एवं उन्हें तालिकाबद्ध करने में लगभग तीन वर्ष लग गये और बाद की जनगणना के आधार पर उन्हें पुनः तालिकाबद्ध करने में अत्यधिक श्रम आवश्यक होता। केवल कतिपय भाषाओं, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की भाषाओं एवं बोलियों के बोलनेवालों की संख्या सन् १९११ की जनगणना के अनुसार दी गयी है, इसके भी विशेष कारण हैं।

सर्वेक्षण के आँकड़े

सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार, भारत की जनसंख्या ३१ करोड़ ६० लाख थी, किन्तु इस सर्वेक्षण में केवल २९ करोड़ लोगों का ही विवरण है। जनसंख्या में अन्तर का एक कारण यह है कि देश के कई क्षेत्र इस सर्वेक्षण की सीमा से बाहर रखे गये। दूसरा कारण जनसंख्या में अभिवृद्धि का भी है। सन् १८९१ में

जनसंख्या २८ करोड़ ७० लाख थी[1], किन्तु सन् १९२१ में यह ३१ करोड़ ६० लाख हो गयी।

भाषाओं एवं बोलियों की संख्या

जब हम सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त संख्या पर विचार करते हैं तो विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों की संख्या ८७२ ठहरती है। यही संख्या परिशिष्ट १ की सूची में भी उपलब्ध है। यहाँ प्रत्येक भाषा एवं बोली के बोलनेवालों की संख्या का सन् १९२१ में उपलब्ध संख्या से मिलान किया गया है किन्तु यहाँ कभी-कभी गणना दुबारा भी हो गयी है। इसमें प्रत्येक भाषा तथा बोली की संख्या अलग-अलग दी गयी है। दुबारा गणनावाली बात का इससे भी पता चल जाता है कि सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार भाषाओं की कुल संख्या १९० है किन्तु बोलियों को छोड़कर इस सर्वेक्षण में उनकी संख्या १७९ है। किसी भी भाषा की बोलियों की गणना करते समय इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि उस भाषा के बोलनेवालों की संख्या का बोलियों की संख्या से तभी ठीक मिलान हो सकेगा जब परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) भाषा को भी एक बोली मानकर अन्य बोलियों के बोलनेवालों की संख्या में उसे जोड़ा जाय। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि भाषा का नाम तो दे दिया गया पर उसकी बोलियों के बोलनेवालों की संख्या का उल्लेख नहीं किया गया। उदाहरणस्वरूप खासी भाषा (सूची नं० ८) तथा इसकी बोलियों को निम्नलिखित क्रम में दिया गया है—खासी, परिनिष्ठित, लिंगम, सिन्टेंग, वार, अनिर्णीत। यहाँ, यदि खासी को हम भाषा की सूची में गिनते हैं तो परिनिष्ठित एवं अनिर्णीत को इस सूची में नहीं सम्मिलित करना चाहिए, अन्यथा एक ही बोली की दो-तीन बार गणना हो जायगी। इस प्रकार ऊपर के उदाहरण में परिनिष्ठित खासी के अतिरिक्त केवल तीन बोलियों की ही गणना की जा सकती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सन् १९२१ की जनगणना में,

१. इस प्रकार सर्वेक्षण के आँकड़े सन् १८९१ की जनसंख्या के आँकड़ों से तीस लाख अधिक हैं। इसका कारण यह है कि यद्यपि भारत का एक बहुत बड़ा भाग इस सर्वेक्षण के क्षेत्र के बाहर था तथापि सर्वेक्षण का क्षेत्र, विशेष रूप से, उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश की ओर कुछ बढ़ गया है। सीमान्त प्रदेश का यह क्षेत्र वस्तुतः जनगणना के क्षेत्र के बाहर था। जहाँ तक सम्भव था, इस क्षेत्र के लिए सन् १९११ की जनगणना के आँकड़े लिये गये।

भाषाओं के सामान्य नामों के अतिरिक्त ४९ बोलियों के नाम, की भी गणना की गयी है। इसके विपरीत सर्वेक्षण में परिनिष्ठित एवं अनिर्णीत १७९ भाषाओं के अतिरिक्त ५४४ बोलियों के नाम दिये गये हैं। इस प्रकार जनगणना में भाषाओं एवं बोलियों की संख्या २३७ (१८८+४९) तथा सर्वेक्षण में ७२३ (१७९+५४४) दी गयी है। इन ७२३ भाषाओं एवं बोलियों का यथासम्भव व्याकरणीय विवरण भी दिया गया है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है (पूरा विवरण परिशिष्ट १ में)—

भाषाओं एवं बोलियों की संख्या

	सर्वेक्षण की संख्या		जनगणना की संख्या	
	भाषाएँ	बोलियाँ	भाषाएँ	बोलियाँ
हिन्द-एशियाई भाषाएँ				
आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाएँ	७	१६	१६	२२
मोनख्मेर शाखा	२	२	१०	
मुण्डा शाखा	५	१४	६	२२
करेन भाषाएँ			२	१६
मान भाषाएँ			२	
स्यामी-चीनी भाषाएँ	३	८	७	
तिब्बती-बर्मी भाषाएँ	११३	८२	११७	१५
तिब्बती-हिमालय शाखा	३२	३१	३०	६
उत्तरी असम शाखा	५		५	
द्राविड़ भाषाएँ	१६	३२	१५	
आर्य भाषाएँ	३८	४०२	२६	९
ईरानीय शाखा	८	३५	३	१
दर्दीय शाखा	१३	२२	४	
भारत-आर्य शाखा	१७	३४५	१९	८
संस्कृत			१	

बाहरी उपशाखा	७	११०	८	३
मध्य उपशाखा	१	१८	१	..
भीतरी उपशाखा	९	२१७	९	५
अनिर्णीत भाषाएँ	२	१९	२	
जोड़	१७९	५४४	१८८	४९

तिब्बती-बर्मी भाषाएँ

यह बात उल्लेखनीय है कि तिब्बती-बर्मी उपशाखा में सबसे अधिक भाषाएँ हैं। इन भाषाओं के शब्द या तो एकाक्षर हैं अथवा एकाक्षर के आधार पर बनते हैं। यही कारण है कि ये अधिक परिवर्तनशील भी हैं। इसके अतिरिक्त जिन क्षेत्रों में सर्वेक्षण कार्य हुआ है, उन क्षेत्रों में इस उपशाखा की भाषाओं के बोलनेवाले लोग पर्वतीय जिलों में रहते हैं। नियमतः प्रत्येक कबीला अपने पड़ोसी से पृथक् रहता है। इसके परिणाम-स्वरूप अति शीघ्र, भाषाएँ बोलियों में विभाजित हो जाती हैं और सरलता से प्रत्येक बोली एक पृथक् भाषा के रूप में विकसित हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि भाषाओं की संख्या अधिक है, पर प्रत्येक भाषा के बोलनेवालों की औसत संख्या १७,००० है जो वास्तव में बहुत थोड़ी है।

भारत-यूरोपीय बोलियाँ

दूसरी ओर भारतीय आर्यभाषाओं की संख्या तो केवल १७ है किन्तु इनके बोलने-वालों की संख्या २२ करोड़ ६० लाख है। यह लोग उत्तर भारत के मैदानों एवं पहाड़ों में बसे हुए हैं। इन १७ परिनिष्ठित भाषाओं की ३४५ बोलियाँ हैं, जो बोलनेवालों की जातीयता एवं रहन-सहन के आधार पर बनी हैं। इस सम्बन्ध में तिब्बती-बर्मी एवं आर्यभाषाओं का असादृश्य उल्लेखनीय है। एकाक्षरीय तिब्बती-बर्मी भाषाएँ अनेक पृथक् भाषाओं में विभाजित हो जाती हैं जो परस्पर बोधगम्य नहीं हैं। इनके समकक्ष आर्यपरिवार की भारत तथा भारत के समीप बोली जानेवाली ईरानीय और दर्दीय भाषाओं का उदाहरण लिया जा सकता है। ये भाषाएँ भी पर्वतीय प्रदेशों में ही प्रचलित हैं किन्तु इनकी एकता बहुत कुछ अक्षुण्ण है। यदि इनमें विभाजन हुआ भी है तो यह विभाजन स्वतन्त्र भाषाओं के रूप में नहीं है अपितु बोधगम्य बोलियों के रूप में है और इनमें व्याकरणीय एकता का अभाव नहीं है। इनके संश्लिष्ट रूप ने

इन्हें सुरक्षित रखा है और पर्वतीय प्रदेशों में प्रचलित होते हुए भी इनकी संख्या २१ है तथा कश्मीर से फारस की सीमा एवं पामीर से अरबसागर तक इनका विस्तार है। उत्तर भारत में तो भारतीय आर्यभाषाओं की संख्या और भी कम है क्योंकि इधर बहुत थोड़े पर्वतीय प्रदेश हैं तथा इनके बोलनेवाले एक दूसरे से पृथक् नहीं हो पाये हैं। यद्यपि यहाँ भी बोलियों की संख्या बहुत है, तथापि मूल पितृभाषा से इनका सहज सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

प्रत्येक भाषा-परिवार के बोलनेवालों की संख्या

यह पहले कहा जा चुका है कि इस सर्वेक्षण में जिन भाषाओं एवं बोलियों का उल्लेख है, उनके बोलनेवालों की संख्या २९ करोड़ है। नीचे प्रत्येक भाषा-समुदाय के बोलनेवालों की संख्या का विवरण दिया जाता है—

	बोलने वालों की संख्या	
	भाषा सर्वेक्षण के अनुसार	सन् १९२१ की जन-गणना के अनुसार
आस्ट्रिक परिवार	३०,५२,०८६	४५,२९,३५१
मन परिवार	...	५९१
करेन परिवार	...	११,१६,०२६
तिब्बती-चीनी परिवार	१२,८८,५१२	१,२८,८५,३६६
द्राविड़ परिवार	५,३०,७३,२६१	६,४१,२८,०५२
भारत-यूरोपीय अथवा भारोपीय परिवार	२३,१९,७४,४०३	२३,२८,५२,८१७
अनिर्णीत	१,०२,६७१	१५,७०८
जोड़	२९,००,८५,८९३	३१,५५,२५,७८१

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऊपर के दोनों जोड़ों में अन्तर का कारण यह है कि भाषा-सर्वेक्षण तथा जन-गणना का क्षेत्र एक ही न था। इसका विस्तृत संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट १ में तथा प्रत्येक भाषा के बोलनेवालों की पूरी संख्या

का विवरण परिशिष्ट १ में उपलब्ध[1] होगा। मोटे तौर पर जिन लोगों की भाषाओं का सर्वेक्षण किया गया उनकी जनसंख्या, सम्पूर्ण यूरोप की जनसंख्या का तीन चौथाई है। इनमें से आस्ट्रिक भाषा-भाषियों की संख्या डेनमार्क की जन-संख्या, तिब्बती-बर्मी की स्विटजरलैण्ड की आधी जनसंख्या, द्रविड़-भाषाभाषियों की यूनाइटेड किंग्डम तथा कनाडा की संयुक्त जन-संख्या एवं भारोपीय वंश के भाषा-भाषियों की संख्या यूनाइटेड किंग्डम, नार्वे, स्वेडन, डेनमार्क, जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रांस, स्पेन, इटली तथा ग्रीस की संयुक्त जनसंख्या के बराबर है।

भाषा-विज्ञान तथा नृ-विज्ञान

भाषाविषयक तथ्यों पर आधारित नृ-विज्ञानसम्बन्धी किसी भी सिद्धान्त का निर्माण करते समय भारत में जितनी सावधानी बरतने की आवश्यकता है उतनी अन्यत्र नहीं। यहाँ ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ कबीलों और जातियों ने अति प्राचीन काल में एक भाषा को छोड़कर दूसरी भाषा को अपना लिया था। मध्य-प्रदेश के नहाल लोग इसके सुन्दर उदाहरण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः ये लोग मुण्डा भाषा-भाषी थे और इनकी भाषा कुर्कू के समान थी। आगे चलकर इन पर द्रविड़ भाषा का प्रभाव पड़ा और ये मिश्रित भाषाभाषी बन गये और इनकी भाषा आधी मुण्डा तथा आधी द्रविड़ हो गयी। इधर इन पर आर्यभाषा का प्रभाव पड़ा है और अब इनकी भाषा बहुत कुछ आर्य होती जा रही है।[2] यदि आज से सौ वर्ष पूर्व की भाषा के अनुसार हम लोग इनके सम्बन्ध में विचार करें तो इन्हें मुण्डा मानना पड़ेगा। आज से दस वर्ष पूर्व तो इन्हें द्रविड़ कहना ही उचित था, किन्तु आज से पचास वर्ष बाद सम्भवतः लोग इन्हें आर्य कहने लगेंगे। भाषा-विज्ञान तथा नृ-विज्ञान के 'अवैध सम्बन्ध' की पर्याप्त आलोचना हुई है। यही कारण है कि इस सर्वेक्षण में जातियों के मूल के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करने के लोभ का मैंने यथासाध्य संवरण किया है। फिर भी जब कभी मुझे ऐसा करना पड़ा है तो मैंने जातियों के मूल-सम्बन्धी उन्हीं

१. परिशिष्ट १ में आँकड़े मोटे हिसाब से दिये गये हैं। इस दशा में यह समझना चाहिए कि ये आँकड़े अनुमानतः ठीक हैं और इनका आधार वास्तविक गणना नहीं है। ये आनुमानिक आँकड़े अनुभवी स्थानीय अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं और जब तक इनके विपरीत कुछ न कहा जाय तब तक ये विश्वसनीय हैं।

२. देखो, खण्ड ४ ।

सिद्धान्तों को दिया है जो प्रसिद्ध नृ-विज्ञानियों द्वारा प्रवर्तित किये गये हैं और इन सिद्धान्तों पर मैंने तभी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जब इन्हें भाषा-शास्त्र का समर्थन प्राप्त हो गया है। केवल एक अवस्था में ही भाषासम्बन्धी तथ्यों के द्वारा जातियों के मूल के सम्बन्ध में परिणाम निकाला जा सकता है। यह अवस्था इस प्रकार है। कभी कभी हम एक अल्पसंख्यक जाति को अपनी लुप्तप्राय भाषा से चिपटे हुए पाते हैं। यह जाति प्रायः ऐसी शक्तिशाली भाषा से घिरी हुई होती है जो आसपास की भाषा के रूपों के स्थान पर अपने रूपों को प्रस्थापित करती जाती है तथा धीरे-धीरे लुप्तप्राय भाषा पर भी अधिकार जमाती जाती है। इस अवस्था में यह कहा जा सकता है कि लुप्तप्राय भाषा उस अल्पसंख्यक जाति की मूल भाषा थी। इससे अल्पसंख्यक जाति के जातीय सम्बन्धों का भी संकेत मिलता है। उदाहरण के लिए राजमहल की पहाड़ियों की भाषा माल्तो को लिया जा सकता है। यह भाषा धीरे-धीरे समाप्त हो रही है और इसके चारों ओर की भाषाएँ इस पर अपना अधिकार जमा रही हैं। यदि इसके सम्बन्ध में और बातें हमें ज्ञात नहीं हैं तो भी हम यह कह सकते हैं कि माल्तो लोग मूलतः द्रविड़ हैं क्योंकि उनकी भाषा द्रविड़परिवार के अन्तर्गत हो जाती है। यह सामान्य सिद्धान्त मुझे सर हर्बर्ट रिज़ले से प्राप्त हुआ था, किन्तु ऊपर नहाल लोगों के सम्बन्ध में हम लोगों का अनुभव दूसरे प्रकार का है, अतएव इस सामान्य सिद्धान्त को भी बहुत सावधानी से बरतने की आवश्यकता है। सम्भवतः नहाल लोग मुण्डा जाति के हैं किन्तु आज उनकी भाषा प्रायः द्रविड़ हो गयी है। उनकी नष्टप्राय भाषा दो ओर से समाप्त हो रही है। सर्वप्रथम तो द्रविड़ भाषा ने इसे दबाना शुरू किया था किन्तु अब धीरे-धीरे आर्यभाषा इस पर अपना प्रभुत्व जमा रही है। यदि हम असावधानी से हर्बर्ट रिज़ले के सिद्धान्त को लागू करें तो इस परिणाम पर पहुँच जायेंगे कि यह जाति मूलतः मुण्डा एवं द्रविड़ का सम्मिश्रण है। सच बात तो यह है कि शक्तिशाली भाषाओं के सम्बन्ध में रिज़ले का ऊपर का सिद्धान्त प्रायः नहीं लागू होता। भारत में भारतीय आर्यभाषाएँ अति शक्तिशाली हैं। ये केवल सभ्य लोगों की ही भाषाएँ नहीं हैं अपितु उच्च वर्ण के लोगों की भी भाषाएँ हैं। ये शक्तिशाली भाषाएँ निरन्तर आदिवासियों—द्रविड़, मुण्डा तथा तिब्बती-बर्मी वंश—की भाषाओं को स्थानच्युत करती जा रही हैं। आज यह कहना ठीक नहीं होगा कि तिब्बती-बर्मी भाषा-भाषी कोच अथवा द्रविड़ भाषा-भाषी गोंड आर्यजाति के हैं, क्योंकि ये आर्य-भाषाओं का व्यवहार करते हैं। बलूचिस्तान के ब्राहुई लोग द्रविड़ भाषा-भाषी हैं लेकिन इनके कई कबीले अपने घरों में ईरानीय शाखा की बलोची भाषा बोलते हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर भारत में खड़िया लोगों के कतिपय कबीले मुण्डा, अन्य द्रविड़

तथा दूसरे आर्यपरिवार की बँगला भाषा बोलते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्टतया समझना आवश्यक है कि कहीं भी इसके विपरीत देखने में नहीं आता और कहीं भी अनार्य भाषा आर्यभाषा पर अधिकार करती हुई दृष्टिगोचर नहीं होती। यही नहीं, कोई आर्य-भाषाभाषी जाति भी अपनी भाषा को छोड़कर किसी अन्य आर्यभाषा को ग्रहण नहीं करती। हमें निरन्तर देश में ऐसे क्षेत्र भी मिलते हैं जो दो भाषाओं की सीमा पर अवस्थित हैं और जहाँ दो भिन्न भाषा-भाषी जातियाँ पास ही पास अपनी भाषाएँ बोलती हैं। उदाहरणस्वरूप सर्वेक्षण करते समय बंगाल के मालदह जिले में ऐसे गाँव भी मिले जहाँ तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। यहाँ विभिन्न भाषा-भाषी लोगों ने पारस्परिक व्यवहार के लिए एक बोधगम्य भाषा का विकास कर लिया है किन्तु जब वे अपने लोगों से मिलते हैं तो अपनी ही भाषा में वार्तालाप करते हैं। भारतीय आर्य-भाषाओं की अपरिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में इस सामान्य सिद्धान्त का केवल एक ही अपवाद है और यह धर्म है। इस्लाम के साथ-साथ उर्दू का प्रसार बहुत दूर तक हो गया है और बंगाल तथा उड़ीसा में भी हमें ऐसे मुसलमान मिलते हैं जिनकी मातृभाषा उर्दू नहीं है किन्तु वे, चाहे कितनी ही भद्दी क्यों न हो, दिल्ली और लखनऊ की भाषा बोलने का प्रयत्न करते हैं।

कबीली बोलियाँ

अब हम कबीली बोलियों पर विचार करना आरम्भ करते हैं। यह एक ऐसा विषय है जिसकी ओर अभी तक लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। यह विषय इस कारण भी जटिल हो गया है कि अक्सर एक जाति के नाम पर ही भाषा का नाम भी पड़ जाता है। इसका यह कारण नहीं है कि वह उस कबीले अथवा जातिविशेष की भाषा है वरन् इसलिए कि वह जिस क्षेत्र में बोली जाती है उस क्षेत्र में उस जाति की विशेष प्रभुता है। उदाहरण के लिए हम १८९१ की जनगणना में वर्णित जटकी अथवा जाट जाति की बोली को ले सकते हैं। यह किसी प्रकार भी केवल जाट जाति की भाषा नहीं है। यह सम्पूर्ण पश्चिमी पंजाब की भाषा है जिसके एक भाग में निश्चित रूप से जाटों की प्रधानता है। इस प्रकार जटकी नाम भ्रामक है। इस भ्रम का एक कारण यह है कि पूर्वी पंजाब के जाट इस बोली को नहीं बोलते। इसी बात को ध्यान में रखकर जटकी के स्थान पर इस सर्वेक्षण में पश्चिमी पंजाबी अथवा लहँदा का व्यवहार किया गया है। इसी तरह मरी के उत्तर तथा पूर्व में अनेक ऐसी बोलियाँ हैं जिनके नाम उनके क्षेत्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। इन पर्वतीय भागों में चिभ नामक एक प्रसिद्ध जाति रहती है। चिभ लोग विभिन्न स्थानों में जहाँ भी जाते हैं वहीं की भाषा बोलने

लगाते हैं किन्तु मरी के उत्तर तथा पूर्व के पर्वतीय प्रदेश की बोली का नाम सिभाली दिया गया। यह नाम इसलिए आपत्तिजनक है कि सिभ लोग कई विभिन्न बोलियों का व्यवहार करते हैं, इसके अतिरिक्त सिभाली के बोलनेवाले केवल सिभ लोग ही नहीं हैं।

जिप्सी भाषाएं

कबीली भाषाओं का एक दूसरा वर्ग है जिन्हें इस सर्वेक्षण में जिप्सी भाषाएँ कहा गया है। ये घुमन्तू जातियों की भाषाएं हैं जो अपने जीविकोपार्जन के उद्देश्य से एक ऐसी बोली का व्यवहार करती हैं जो उस क्षेत्र की बोली से भिन्न होती है जहाँ वे कई पीढ़ियों से विचरण करती आयी हैं। ये कबीली भाषाएँ वास्तविक भाषाएँ भी हो सकती हैं अथवा छद्म-भाषाएं हो सकती हैं, जिनमें स्थानीय भाषा के शब्दों को विकृत करके उसी प्रकार से मिला दिया गया है जिस प्रकार लन्दन के चोर चोर-लैटिन का निर्माण किये हुए हैं।

स्थानान्तरण का बोली पर प्रभाव

अन्त में कबीली बोलियों का एक दूसरा वर्ग भी है जिसमें हम एक ऐसी जाति की बोली पाते हैं जो स्थानान्तरण करके नयी जगह पर चली गयी है और जिसने धीरे धीरे एक नयी भाषा विकसित कर ली है। इस नयी भाषा का आधार तो उस जाति की मातृ-भाषा ही होती है किन्तु उसमें नये स्थान की भाषा का सम्मिश्रण होने से वह विकृत भी हो जाती है। यह स्पष्ट है कि यदि राजपूताने की किसी जाति के कुछ लोग बुन्देली भाषा-भाषी क्षेत्र में चले जायें तथा दूसरे कतिपय लोग मराठी क्षेत्र में स्थानान्तरण कर जायें तो इसका परिणाम यह होगा कि उन दोनों वर्गों की भाषाएँ काफी भिन्न होंगी यद्यपि दोनों का मूलाधार राजस्थानी ही है। मध्य-प्रदेश में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। भारत के अन्य भागों में भी स्थानान्तरण करनेवाली जातियों के अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने यत्किंचित् विकृत रूप में ही अपनी मातृ-भाषा को सुरक्षित रखा है। सम्भवतः इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण गंगा के ऊपरी दोआब में बसे हुए सिन्धी भाषाभाषियों का एक छोटा उपनिवेश है।

भाषा-सीमाएँ

किसी भाषा की अथवा उसके क्षेत्र की सीमा निर्धारित करना साधारण काम नहीं है। सामान्यतः जब तक विशेष रूप से जाति (रेस) एवं संस्कृति में अन्तर न हो या

कोई बड़ा पहाड़ एवं बड़ी नदी[१] प्राकृतिक बाधा उपस्थित न करें तब तक भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे में विलीन होती जाती हैं और उनकी सीमासम्बन्धी रेखाओं को पृथक् करना सरल कार्य नहीं है। जब इस प्रकार की सीमा की चर्चा होती है अथवा नक़शे में उसे प्रदर्शित किया जाता है तो उसे अनिश्चित किन्तु परिस्थितिविशेष को प्रदर्शित करनेवाली रूढ़ प्रणाली के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उस निर्धारित सीमा-रेखा के दोनों ओर सटे हुए ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ की भाषाओं अथवा बोलियों को एक या दूसरे वर्ग में रखा जा सकता है। यहाँ हम प्रायः यह देखते हैं कि दो विभिन्न पर्यवेक्षक एक ही क्षेत्र की भाषा के सम्बन्ध में दो विभिन्न रिपोर्टें पेश करते हैं और दोनों ही ठीक भी हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप सन् १९११ की जन-गणना में, बँगला की सीमा भाषा-सर्वेक्षण द्वारा निर्धारित सीमा से बीस या तीस मील पूर्व दिखायी गयी है, किन्तु मैं निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि सर्वेक्षण के आँकड़े सही हैं और जनगणना के गलत। एक दृष्टिकोण से दोनों ही सही हैं तथा दूसरे दृष्टिकोण से दोनों ही गलत हैं, क्योंकि यह केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रश्न है। जब दो भाषाओं में इस प्रकार का विवाद उत्पन्न हो जाता है तो अनुभव के आधार पर मैं यह देखता हूँ कि सामान्यतः इन भाषाओं में से एक का व्यवहार करनेवाला, विवादग्रस्त भाषा को दूसरे की भाषा समझता है। स्वभावतः वह उस भाषा में से उसके लिए जो अपरिचित तत्त्व हैं उन्हें ग्रहण कर लेता है और परिचित तत्त्वों की वह उपेक्षा करता है। उदाहरण के लिए भटनेर के पास, बोलचाल में पंजाबी तथा राजस्थानी भाषाओं का मिश्रित रूप व्यवहृत होता है। इस भाषा को पंजाबी लोग राजस्थानी तथा राजपूत लोग पंजाबी बतलाते हैं। इस भाषा-सर्वेक्षण के तैयार करते समय मेरी अनुभूति में एक दूसरा उदाहरण भी आया। जिस समय मैं पूर्वी हिन्दी पर काम कर रहा था ठीक उसी समय डा० (अब प्रोफेसर) स्टेन कोनो मराठी पर कार्य

१. जैसा कि सर आरेल स्टाइन ने लिखा है, दो पहाड़ों के बीच के संकीर्ण पथ के कारण जैसी महत्त्वपूर्ण नृ-विज्ञानसम्बन्धी तथा राजनीतिक सीमा बन जाती है वैसी जलविभाजक (वाटरशेड) के कारण नहीं बन पाती। बात यह है कि वाटरशेड को अपेक्षाकृत सरलतया पार किया जा सकता है। किसी भाषा के लिए पर्वतश्रेणियाँ उतनी दुर्लंघनीय नहीं हैं जितना नदी का संकीर्ण पथ। पामीर में भाषासम्बन्धी भिन्नता का कारण पर्वतश्रेणियाँ उतना नहीं हैं जितना दो पर्वतों के बीच का संकीर्ण पथ। देखो, मेरा 'इश्काश्मी', 'जीबकी' तथा 'याजगुलामी', पृ० ४

करते रहे थे। स्वतन्त्र ढंग से काम करते हुए हम दोनों एक ऐसे क्षेत्र में पहुँच गये जहाँ एक विचित्र मिश्रित बोली, हलबी, प्रचलित है। पूर्वी हिन्दी के दृष्टिकोण से विचार करते हुए मैंने इसे मराठी का एक रूप माना, किन्तु इसके प्रतिकूल मराठी का चश्मा लगाकर डा० कोनो ने इसे पूर्वी हिन्दी के रूप में स्वीकार किया। चूँकि अन्तिम निर्णय का अधिकार मेरा था अतएव यह बोली भाषा-सर्वेक्षण के मराठीवाले खण्ड में रखी गयी। किन्तु यदि इसे पूर्वी हिन्दीवाले खण्ड के अन्तर्गत रखा गया होता तो यह गलत न होता।

वे क्षेत्र जहाँ आगे के वक्तव्य लागू होते हैं

सर्वेक्षण के परिणामों के आगे के विवरणों में पूर्णता की दृष्टि से, भारत की उन भाषाओं का भी संक्षेप में उल्लेख करूँगा, जो इसके क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आतीं। ये मुख्य रूप से बर्मा तथा दक्षिण की भाषाएँ हैं। इनमें से प्रथम के सम्बन्ध में एक पृथक् सर्वेक्षण का कार्य चल रहा है और उसके परिणामों के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना मेरा उद्देश्य नहीं है। लेकिन बर्मा की भाषाओं का तिब्बत तथा पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं से घनिष्ठ संबन्ध है। अतएव उन्हें बिलकुल छोड़ देना स्पष्ट रूप से अनुचित होगा। दक्षिण की भाषाएँ द्रविड़ परिवार की हैं और उत्तर भारत में उनकी सजातीय भाषाएँ भी मिलती हैं अतएव उनका भी विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। सर्व-प्रथम मैं आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं का विवरण उपस्थित करूँगा, क्योंकि सम्भवतः ये सबसे प्राचीन भाषाएँ हैं जो आज भी जीवित हैं। तदनन्तर मैं उन भाषाओं का विवरण दूँगा जो इस देश में बाद में आयीं। यह द्रविड़ और हिन्द-चीनी भाषाएँ हैं। अन्त में मैं आर्य-परिवार की भाषाओं का उल्लेख करूँगा जिनके भारत में आगमन के बारे में हम लोग निश्चित रूप से कुछ कह सकते हैं।

दूसरा अध्याय

आस्ट्रिक परिवार

आस्ट्रिक परिवार

सन् १९०६ ई० में ब्रुन्जविक (Brunswick) से पेटर डब्लू० शिमिट (Pater W. Schmidt) द्वारा लिखित एक पुस्तिका प्रकाशित हुई जिसने भाषा-शास्त्र तथा नृ-विज्ञान के अध्येताओं का ध्यान तत्काल आकर्षित किया। मॉन-ख्मेर तथा खासी भाषासम्बन्धी अनुसन्धानों के कारण लेखक को एक योग्य तथा संतुलित भाषा-शास्त्री के रूप में पहले से ही ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। इधर इस कृति में उसने ठोस तथ्यों तथा गम्भीर अध्ययन के आधार पर कतिपय नवीन विचार प्रकट किये थे। श्री शिमिट के इन विचारों की आज तक किसी ने भी गम्भीर आलोचना नहीं की। इस प्रकार पेटर शिमिट ने एक बड़े भाषा-परिवार के अस्तित्व को सिद्ध किया जिसे लोग अभी तक नहीं जानते थे। इस परिवार के बोलनेवालों की संख्या यद्यपि अपेक्षाकृत कम है तथापि इसका विस्तार-क्षेत्र किसी भी अन्य वर्ग की भाषा के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। इसके भाषा-भाषी निकट तथा बृहत्तर भारत में मिलते हैं और इण्डोनेशिया (हिन्देशिया), मैलेनेशिया, पैलेनेशिया होते हुए मैडागास्कर एवं न्यूज़ीलैण्ड तक चले गये हैं। ये भाषाएँ अफ्रीका के समुद्रतट से दूर, मैडागास्कर से लेकर ईस्टर द्वीप तक जो, दक्षिणी अमेरिका के तट से ४० अंश से कम की दूरी पर है, फैली हुई हैं। उत्तर में पंजाब स्थित कनावर तथा दक्षिण में न्यूज़ीलैण्ड तक इनके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। ईस्टर द्वीप के पश्चिम ये टैसमानिया सहित आस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी के एक भाग को छोड़कर सम्पूर्ण प्रशान्त महासागर में विस्तृत हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पेटर शिमिट ने ही इसका नामकरण आस्ट्रिक परिवार किया है। उन्होंने दो उपपरिवारों में इसका विभाजन किया है, यथा—आस्ट्रोनेशियन तथा आस्ट्रोएशियाटिक। इनमें प्रथम के अन्तर्गत मैडागास्कर, इण्डोनेशिया तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों की भाषाएँ आती हैं और द्वितीय के अन्तर्गत निकट तथा बृहत्तर भारत में फैली हुई भाषाएँ आती हैं। नीचे के मानचित्र

में जो पेटर शिमिट की कृति के आधार पर तैयार किया गया है, इन भाषाओं के क्षेत्र दिखलाये गये हैं।

चित्र ४—आस्ट्रिक भाषाओं का क्षेत्र

आस्ट्रोनेशियन—'सलोन'

भारत से, राजनीतिक दृष्टि से, सम्बन्धित एक मात्र आस्ट्रोनेशियन भाषा 'सलोन' है जिसका व्यवहार मरगुई द्वीपसमूहों तथा मलय पठार के समीपवर्ती भागों के समुद्र-तट के निवासी जिप्सी करते हैं। मलय भी इसी क्षेत्र में बोली जाती है। ये भाषाएँ सर्वेक्षण के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आतीं लेकिन नीचे मैं इनके बोलनेवालों की संख्या दे रहा हूँ। यह संख्या सन् १९२१ ई० की जनगणना के आधार पर दी गयी है।

सलोन	सन् १९२१ में बोलनेवालों की संख्या	१,९५१
मलय	” ”	३,६१०
	जोड़	५,५६१

आस्ट्रो-एशियाटिक.

आस्ट्रो-एशियाटिक उपपरिवार की भाषाओं का भारत में अधिक जोर है। सर्वप्रथम इसकी प्रसिद्ध मानख्मेर शाखा है जो बृहत्तर भारत में बोली जाती है। बर्मा —

में इसकी तीन प्रतिनिधि भाषाएँ हैं। इनमें पहली भाषा मॉन है जिसमें प्राचीन साहित्य उपलब्ध है और जो थॉटन तथा अमहर्स्ट में बोली जाती है। दूसरी प्रतिनिधि भाषाएँ पलांग तथा वा हैं जो मॉन की अपेक्षा कम शिष्ट हैं और जिनका व्यवहार उत्तरी बर्मा में होता है। ख्मेर तथा अन्य अनेक छोटी-मोटी भाषाओं का व्यवहार बर्मा की सीमा से दूर हिन्द-चीन में होता है। दूसरी भाषाओं के अन्तर्गत, दो भाषाओं का विशेष

आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाएँ

	सर्वेक्षण के अनुसार	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
मॉन	...	१,८९,२६३
पलांग-वा	...	१,४७,८८९
निकोबारी	...	८,६६२
खासी	१,७७,२९३	२,०४,१०३
मुण्डा-शाखा	२८,७४,७५३	३९,७३,८७३
जोड़	३०,५२,०४६	४५,२३,७९०

रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इनका व्यवहार मलक्का, सकेई तथा सेमांग की जंगली जातियां करती हैं। ख्मेर की भाँति ही ये भी ब्रिटिश भारत की सीमाओं के बाहर बोली जाती हैं। निकोबार की भाषा भी इसी शाखा के अन्तर्गत आती है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह मुण्डा तथा मॉन भाषाओं के बीच की कड़ी है।

खासी

उपर्युक्त भाषाओं में से कोई भी सर्वेक्षण-कार्य की सीमा के अन्तर्गत नहीं आती; किन्तु उत्तर की ओर बढ़ने पर हमें मानख्मेर की खासी भाषा मिलती है जो असम प्रदेश के खासी एवं जयन्तिया पर्वतों में बोली जाती है। इसका विस्तृत विवरण सर्वेक्षण में दिया गया है। इसकी परिनिष्ठित बोली का अक्सर वर्णन मिलता है तथा इसमें थोड़ा-बहुत साहित्य भी है जो स्थानीय मिशनरियों की देन है। खासी अपने निकट की बर्मी तथा भारतीय भाषाओं से, यत्किंचित् पृथक् भाषा है। यह मॉन, निकोबारी तथा मुंडा भाषाओं से पृथक्, स्वतंत्र रूप से विकसित हुई है। मॉन, निकोबारी तथा मुंडा भाषाओं का खासी की अपेक्षा, एक दूसरे से अधिक सम्बन्ध है। अपने

परिनिष्ठित रूप तथा अन्य तीन बोलियों---लिंगम्, सिंटेंग एवं वार---सहित खासी, तिब्बती-बर्मी भाषाओं के समुद्र के बीच, उनसे अछूती रहते हुए, मानख्मेर भाषा के एक द्वीप का निर्माण करती है। लोगन ने सर्वप्रथम इस बात का उल्लेख किया था

खासी

	सर्वेक्षण के आँकड़े
परिनिष्ठित	१,१३,१९०
लिंगम्	१,८५०
सिंटेंग	५१,७४०
वार	७,०००
अनिर्णीत	३,५१३
जोड़	१,७७,२९३

और तत्पश्चात् कुह्न ने अन्ततः यह सिद्ध कर दिया कि खासी तथा मॉन भाषाएँ एक ही वर्ग की हैं। खासी तथा पलांग-वा वर्ग की बोलियों के शब्द-समूहों में समानता होने से एकता का प्रश्न और भी हल हो गया। लेकिन यह समानता केवल शब्द-समूह की ही नहीं है, मॉन तथा ख्मेर भाषाओं के वाक्यों की रचना भी समान ही है। इनकी वाक्य-रचना के विभिन्न अंगों का क्रम भी एक ही है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके बोलनेवालों के विचार का क्रम भी समान है। मॉन तथा इस शाखा की अन्य भाषाओं के समान किन्तु हिन्दी-चीनी भाषाओं के प्रतिकूल, जिनसे यह घिरी हुई है, खासी में सुर[1] का अभाव है। दूसरी ओर अन्य मानख्मेर भाषाओं एवं खासी में यह अन्तर

१. सर्वेक्षण के खण्ड २ पृ० ७ में, मैंने लिखा है कि 'खासी' (वहाँ इसकी अक्षरौटी खास्सी दी गयी है) में सुर (tone) हैं, किन्तु वास्तव में यह भूल थी, क्योंकि उस समय 'सुर' की कोई सन्तोषजनक परिभाषा नहीं मिली थी। खासी के अनेक शब्दों के उच्चारण करते समय, अन्त में, कंठावरोध (glottal check) होता है और इस प्रकार के अवरोध को हिन्द-चीनी भाषाओं में 'आकस्मिक सुर' (abrupt tone) अथवा प्रवेश सुर (entering tone) कहते हैं किन्तु यह कंठावरोध वास्तव में सुर नहीं है। यथार्थ में सुर वहाँ मानना चाहिए जहाँ उच्चारणध्वनि को उदात्त

है कि इसमें पदाश्रित निर्देशक (Article) वर्तमान है किन्तु अन्य भाषाओं में इसका अभाव है। इसके अतिरिक्त इसमें व्याकरणीय 'लिंग' भी मिलता है। इसके आगे के प्रश्नों को नृ-विज्ञानियों के हाथ में ही छोड़ देना उचित है। खासी तथा मॉन जातियों के पारस्परिक रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में पता लगाना भी दिलचस्प बात होगी। इस सम्बन्ध में इस बात का अनुसन्धान भी आवश्यक होगा कि क्या मॉन अथवा पलांग लोगों में भी खासियों की भाँति ही मातृसत्तात्मक समाज के सिद्धान्त ही प्रचलित हैं? जहाँ तक पलांग लोगों का सम्बन्ध है वे अपनी उत्पत्ति एक राजकुमारी से बतलाते हैं, राजकुमार से नहीं।

असम प्रदेश को यहीं छोड़कर अब हम मध्य-भारत की ओर प्रस्थान करते हैं जो मुण्डा भाषाओं का गढ़ है। इनमें प्रमुख खेरवारी है जिसकी अनेक बोलियाँ हैं और जिसका मुख्य स्थान मध्य-भारत पठार का उत्तर-पूर्वी छोर है, लेकिन यह इसके नीचे के मैदानी भागों में भी फैली हुई है और वहाँ भी इसके चिह्न मिलते हैं। इसकी अनेक बोलियाँ हैं जिनमें मुण्डारी तथा संथाली प्रमुख हैं। दूसरी ओर पठार के पश्चिमोत्तर भाग के अंत में मध्य-प्रदेश के पश्चिमी जिलों तथा मेवाड़ में हम एक अन्य मुण्डा भाषा कुर्कू[1] पाते हैं जिसकी मोआसी तथा नहाली, दो बोलियाँ बतलायी जाती हैं, लेकिन जैसा कि ऊपर (पृष्ठ ५१ में) बताया जा चुका है, नहाली में अन्य बोलियों के रूपों का इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि वह बिलकुल समाप्त होने के निकट है। अन्य मुण्डा भाषाएँ कम महत्त्वपूर्ण हैं। ये खेरवारी के आसपास अथवा उसके दक्षिण में बोली जाती हैं। इनमें खड़िया, जुआंङ्, सवर, गदबा प्रमुख हैं। थोड़ा बहुत इन सभी में अन्य भाषाओं का संमिश्रण हुआ है। खड़िया प्रमुख रूप से छोटा नागपुर के राँची जिले में

करना पड़े अथवा जहाँ उच्चारणध्वनि की गति में परिवर्तन हो। इसका आकस्मिक उच्चारण अथवा इसके विपरीत उच्चारण से कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी आस्ट्रो-एशियॅटिक भाषाओं में जिनमें खासी भी सम्मिलित है, कंठावरोध मिलता है, किन्तु यह इन भाषाओं की विशेषता है कि इनमें किसी में भी यथार्थ रूप में सुर नहीं है। सुर वहाँ होता है जहाँ उच्चारणध्वनि के चढ़ाव-उतार के कारण शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। देखो, जे० आर० ए० एस० १९२० पृ० ४५९

१. इसके बोलनेवाले पंचमढ़ी पर्वत के पश्चिम तथा मध्यप्रदेश के बेतूल जिले में रहते हैं। बरार के कुर्कू प्रायः एलिचपुर के मेलघाट तालुके में पाये जाते हैं जो भौगोलिक दृष्टि से बेतूल का ही एक भाग है।

व्यवहृत होती है और इसमें मरणासन्न भाषा के सभी लक्षण विद्यमान हैं। इस पर आर्य-भाषा आरोपित होती जा रही है। इसके व्याकरण की रूपरेखा, एवं इसके शब्द-समूह भी आर्य-भाषा के साँचे में ढलते जा रहे हैं और अब यह विशुद्ध मुण्डा भाषा नहीं

मुण्डा भाषाएँ बोलनेवालों की संख्या

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
खेरवारी	२५,३७,३२८	३५,०३,२१५
संताली	१६,१४,८२२	२२,३३,५७३
मुंडारी	४,०६,५२४	६,२४,५०६
हो	३,८३,१२६	४,४७,८६२
भुमिज	७९,०७८	१,३७,३०९
कोरवा	२०,२२७	२१,६५५
अन्य	३३,५५१	३८,३१०
कुर्कू	१,११,६८८	१,२०,८९३
खड़िया	७२,१७२	१,३७,४७६
जुआङ	१५,६९७	१०,५३१
सवर	१,०२,०३९	१,६४,४४१
गदबा	३५,८३३	३३,०६६
अनिर्णीत		२५१
जोड़	२८,७४,७५३	३९,७३,८७३

रह गयी है। इसकी तुलना प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक से की जा सकती है जिसकी मूल लिपि कठिनाई से पहचानी जाती है। जुआङ की भी ठीक यही दशा है। इसे उड़ीसास्थित केंवझर तथा धेंकनाल रियासतों के जुआङ अथवा पतुआ लोग बोलते हैं। सभ्यता के क्षेत्र में ये सभी मुण्डा जातियों से पीछे हैं। अभी हाल तक इस जाति की स्त्रियाँ बरगद के पत्तों को सीकर भी शरीर का ऊपरी भाग नहीं ढँकती थीं, सिर्फ पत्तियों का एक गुच्छा आगे तथा दूसरा पीछे लटका लेती थीं और यही इनका आवश्यक फ़ैशन था। जब इन्हें जंगल में पशुओं को लाने के लिए जाना पड़ता था अथवा जब ये लकड़ी काटने जाती थीं तो पत्तों के नये गुच्छे धारण कर लेती थीं। इधर उन्हें अधोवस्त्र पहनाने का यत्न किया जा रहा है किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि इसमें कितनी सफलता मिली

है। मुण्डा बोली के सबसे दक्षिणी रूप वे हैं जिन्हें उत्तर-पूर्वी मद्रास के सवर एवं गदबा लोग बोलते हैं। इनमें से प्रथम को प्लिनी के सुआरी तथा द्वितीय को टोलेमी के सबारे नाम से अभिज्ञापित किया गया है। इसी नाम की एक जंगली जाति के दक्षिण में बसने का उल्लेख संस्कृत तथा वैदिक युग में भी मिलता है। इस प्रकार यह नाम अति प्राचीन है। इनकी भाषाएँ अत्यधिक रोचक हैं और इनका उल्लेख सर्वेक्षण के चतुर्थ खण्ड में किया गया है। सर्वेक्षण के इस भाग के प्रकाशन के पश्चात् श्री राममूर्ति ने मद्रास सरकार के लिए इस बोली में कई उत्कृष्ट रीडरें तैयार की हैं। दुर्भाग्यवश ये रीडरें तेलुगु के माध्यम से लिखी गयी हैं अतएव यूरोपीय छात्रों के लिए उपयोगी नहीं हैं।

वर्तमान क्षेत्र से बाहर मुण्डा भाषाओं के अवशेष

मुण्डा शाखा की भाषाओं का व्यवहार, किसी समय आज की अपेक्षा भारत के एक विस्तृत भू-भाग में अवश्य ही किया जाता होगा। दक्षिण तथा, कुछ अंशों तक छोटा नागपुर में ये भाषाएँ द्रविड़ भाषाओं द्वारा तथा उत्तर में आर्य अथवा तिब्बती-बर्मी भाषाओं द्वारा समाप्त की जा रही हैं। फिर भी प्रत्येक दशा में इनके अवशिष्ट चिह्न आज भी वर्तमान हैं। जहाँ तक द्रविड़ भाषाओं का सम्बन्ध है, यह बहुत सम्भव है कि इनमें और विशेषतया तेलुगु में स्वर-संगति के नियम इन्हीं भाषाओं से आये हैं।[1] इसी प्रकार छोटा नागपुर के उत्तर में बिहारी बोलियों के क्रिया के रूपों में जो जटिलता है,[2] उसका भी कारण ये मुण्डा भाषाएँ हैं। एक अन्य रोचक बात यह भी है कि मुण्डा गणना की प्रणाली एक से बीस तक के रूप में है। इसके बोलनेवाले यूरोपीय लोगों की भाँति दस-दस करके नहीं अपितु बीस-बीस करके गिनते हैं, लेकिन उत्तर भारत के कृषकों में भी सामान्यतः यह बीस-बीस करके गणना की ही प्रणाली प्रचलित है। वे पचास के लिए दो बीस दस, तथा साठ के लिए तीन बीस कहते हैं। इसी क्रम से वे आगे भी गणना करते हैं। यह स्वतः प्रचलित प्रणाली भी हो सकती है किन्तु वस्तुतः यह मुण्डा भाषा का ही अवशेष है। उत्तर भारत में बीस के लिए जो कोड़ी या कुड़ी शब्द प्रचलित है वह निश्चित रूप से मुण्डा भाषा का है। हिमालय-वर्ती प्रदेशों में तो मुण्डा भाषा के अवशेष स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। सम्प्रति मुण्डा लोग मध्य भारत के पर्वतीय प्रदेशों में निवास करते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल में

१. देखो खण्ड ४, पृ० २८८ (अंग्रेजी पुस्तक)

२. वही, पृ० १०

ये उत्तर भारत के आर्यावर्त के मैदानों की अपेक्षा हिमालय के जंगलों में अधिक समय तक सुरक्षित रहे होंगे। हिमालय में पूर्वोत्तर असम प्रदेश से लेकर पूर्वोत्तर पंजाब तक अधिकांश लोग तिब्बती-बर्मी भाषाओं के विभिन्न रूपों का व्यवहार करते हैं। इनमें से बहुत भाषाएँ तो अपने शुद्ध रूप में उपलब्ध हैं तथा इनमें तिब्बती-बर्मी भाषाओं के सभी लक्षण विद्यमान हैं। लेकिन दार्जिलिंग, बंगाल के उत्तर और कनावर एवं पंजाब में शिमला के उत्तर प्रदेशों में अनेक छिटपुट जातियाँ हैं जो ऐसी भाषा बोलती हैं जिन्हें इस सर्वेक्षण में 'जटिल सर्वनामीय' के नाम से अभिहित किया गया है। इनमें से अधिकतर भाषाएँ तो उस शाखा की हैं जिन्हें हाग्सन ने 'किरान्ती' कहा है। लेकिन अन्य और भाषाएँ भी हैं जिनका उल्लेख उसने नहीं किया है। ये सभी भाषाएँ तिब्बती-बर्मी अथवा ऐसे वर्ग की हैं जिनका तिब्बती-बर्मी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन सभी भाषाओं में कतिपय ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं जिन्हें मुण्डा स्वीकार न करना असम्भव है। एक बार इस ओर ध्यान आकर्षित किया जा चुका है।[1] इन जटिल सर्वनामीय भाषाओं की संख्या बहुत है। आगे जब हम तिब्बती-बर्मी भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करने लगेंगे तो इनके विषय में और भी विचार प्रकट करेंगे। यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि सम्भवतः इनमें सबसे पश्चिमी कनावरी है जो शिमला के पहाड़ों में बोली जाती है। इसके आगे और पश्चिम में भी कतिपय भाषाएँ हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मुण्डा नामकरण

सन् १८५४ ई० में सर्वप्रथम, स्वर्गीय प्रोफेसर मैक्समूलर ने द्रविड़ भाषाओं से अलग, मुण्डा भाषाओं को एक पृथक् वर्ग की भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की थी। इस बात का उल्लेख उन्होंने तूरानी भाषाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में शेवालियर बन्सेन को लिखे गये एक पत्र में[2] किया था। इस प्रकार इन भाषाओं का नाम मुण्डा पड़ा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विद्वानों द्वारा स्वीकृत यह शीलसम्बन्धी सर्व-

१. देखो, खंड ३ भाग १, पृ० २७३ तथा उसके आगे, ४२७ तथा उसके आगे।

२. यह नाम उपयुक्त है क्योंकि यह संस्कृत साहित्य में भी मिलता है। लोग के अर्थ में मुंडा नाम केवल महाभारत (६, २४१०) में ही नहीं मिलता अपितु यह वायुपुराण (४५,१२३) में भी मिलता है। देखो जर्नल एशियाटिक cciii पृ० २२ में प्रो० सिल्वा लेवी का लेख। पुनः देखो पृ० १४ की टि०

मान्य नियम है कि किसी भी तथ्य के प्रथम अनुसन्धानकर्ता को, चाहे वह नूतन पुष्प का नाम हो अथवा कोई नूतन वर्णित खनिज वस्तु या भाषा हो, उसके नामकरण का अधिकार है और जब तक वह नाम पूर्ण रूप से भ्रामक अथवा अशुद्ध सिद्ध न हो जाय तब तक अन्य विद्वान् एवं छात्र उसी का प्रयोग करते हैं। दुर्भाग्यवश प्रस्तुत विषय में इस शीलसम्बन्धी नियम को मान्यता नहीं प्रदान की गयी। इस नाम के बारह वर्ष बाद ही सर जार्ज कैम्बेल ने निस्सन्देह बिना किसी बुरे उद्देश्य के मैक्समूलर द्वारा प्रदत्त इस नाम को छोड़ दिया और मुण्डा के लिए कोलारियन[1] नाम प्रस्तावित किया। उनके अनुसार मुण्डा जाति का सामान्य कोल नाम कोलर से उत्पन्न हुआ था और इसका सम्बन्ध दक्षिण भारत के मैसूर राज्य में स्थित कोलर ज़िले से था। कैम्बेल के अनुसार कोलर तथा कन्नड़ भाषा के कल्लर (चोर) शब्द एक ही हैं। इस कल्पना के लिए वस्तुतः कुछ भी आधार नहीं है और 'कोलार्य' नाम केवल एक विचित्र काल्पनिक भूल पर ही आधारित नहीं है, अपितु वह इसलिए भी आपत्तिजनक है कि इसका सम्बन्ध आर्यों से भी प्रतीत होता है जो सर्वथा निराधार है।

यह बात लोग स्वीकार करते हैं कि इस परिवार का मैक्समूलर ने जो नामकरण किया है, वर्तमान ज्ञान के आधार पर उससे अच्छा नाम दिया जा सकता है और सुझाव रूप में एक से अधिक ऐसे नाम आये भी हैं, किन्तु जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उस समय केवल दो ही नाम सम्भव थे। सर जार्ज कैम्बेल के प्रमाण पर पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में 'कोलार्य' (कोलारियन) नाम प्रचलित हुआ था, लेकिन स्पष्टतया यह इतना ग़लत और भ्रामक था कि इसे अस्वीकार करने में मुझे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं हुई। इस प्रकार मैंने इस सर्वे में उसी पुराने नाम का व्यवहार किया है जिसे इस वर्ग के लिए सर्वप्रथम, इसके अनुसंधानकर्ता ने प्रयुक्त किया था और जिसे अन्य विद्वानों को भी स्वीकार करना चाहिए था।

मुंडा भाषाओं के सामान्य लक्षण

मुंडा भाषाएँ योगात्मक परिवार की हैं और इस परिवार की विशेषताएँ इनमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। इनकी तुलना एकमात्र तुर्की से ही की जा सकती है। यह पहले कहा जा चुका है कि इस वर्ग की भाषाओं के सर्वप्रथम अन्वेषक मैक्समूलर

१. द एथ्नॉलोजी आव इंडिया, जे० ए० एस० बी०, खं० XXXV (१८६६), भाग २ पूरक अंक, पृ० २८

ही थे। मध्य एशिया की तुर्की भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है उसे नीचे उद्धृत किया जाता है —

"यदि जीवन में कोई व्यावहारिक उपयोग न हो, तो भी तुर्की भाषा के व्याकरण के अध्ययन में विशेष आनन्द आता है। जिस प्रवीण ढंग से इसके अनेक व्याकरणीय रूप गठित हैं, इसकी संज्ञा एवं क्रिया-पदों के रूप में जो सुव्यवस्था है, इसके ढांचे में जो बोधगम्यता एवं स्पष्टता है, उन्हें देखकर उन सभी लोगों का इसकी ओर ध्यान आकृष्ट होगा जिन्हें भाषा के निर्माण में प्रदर्शित मानव-मस्तिष्क की आश्चर्यजनक शक्ति का ज्ञान है।. . .यह ऐसी भाषा है जिसकी रूपरेखा पूर्णतया स्पष्ट है। इसके व्याकरण के आभ्यन्तरिक तत्त्वों का हम उसी रूप से अध्ययन कर सकते हैं, जिस रूप से कांच के बने हुए मधुमक्खी के छत्ते के भीतर की छोटी कोठरियों की बनावट को देख सकते हैं। किसी प्रख्यात प्राच्यविद्याविशारद ने कहा था—'तुर्की भाषा को देखकर यह कल्पना की जा सकती है कि उच्च स्तर के विद्वत्समाज के वादविवाद के फलस्वरूप इसका निर्माण हुआ होगा, किन्तु कोई भी ऐसा समाज वह कार्य सम्पन्न न कर सका जो तातार के घास के मैदान में रहनेवाले मानव ने अपने आश्चर्यजनक प्रकृतिप्रदत्त स्वाभाविक विधान अथवा सहज शक्ति के बल पर कर दिखलाया। तुर्की का सबसे सुन्दर भाग निस्सन्देह रूप से उसका क्रियापद है। ग्रीक तथा संस्कृत की भांति ही, इसमें कई प्रकार (Moods) एवं काल हैं जिनके द्वारा सन्देह, कल्पना, आशा एवं अनुमानसम्बन्धी अति सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित किया जाता है। इन सभी विभिन्न रूपों में क्रियापद अविकृत रहता है तथा पुरुष, वचन, प्रकार एवं काल के कारण इसकी ध्वनि अथवा लय में जो परिवर्तन होता है उसके फलस्वरूप यह संगीत के मुख्य स्वर की भांति प्रतिध्वनित होता है। किन्तु तुर्की क्रियापद में एक ऐसी विशेषता है जो किसी भी आर्यभाषा में उपलब्ध नहीं है। यह है क्रियापदों में कतिपय नये अक्षरों को संयुक्त करके नूतन क्रियापद बनाने की शक्ति। वास्तव में इन अक्षरों के संयोग से, ये नूतन क्रियापद नकारार्थक, णिजन्त, आत्मबोधक अथवा परस्परबोधक बन जाते हैं। क्रिया की रूप-प्रक्रिया में तुर्की क्रियापद बेजोड़ हैं। ये क्रियापद वृक्ष की शाखाओं की भांति हैं जो फूल एवं फल के भार से टूट जाती हैं।[1]"

मुंडा भाषाओं में योगात्मकता

ऊपर तुर्की के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह अक्षरशः मुण्डा भाषाओं के विषय

१. लेक्चर ऑन द सायंस आव लैंग्वेज, १, ३५४ तथा आगे

में भी पूर्ण रूप से लागू होता है। मुण्डा में शब्दनिर्माण के लिए प्रत्यय पर प्रत्यय संयुक्त होते चले जाते हैं। इस प्रकार जो शब्द बनते हैं वे इतने बड़े होते हैं कि किसी भी यूरोपीय के लिए उनका आकार भयानक प्रतीत होगा। किन्तु इस प्रकार से निर्मित शब्द अपने में पूर्ण होते हैं और इस शब्द का प्रत्येक अक्षर पूर्ण अर्थ को द्योतित करने में सहायक होता है। इन प्रत्ययों के उपयोग के सम्बन्ध में सन्थाली से एक उदाहरण लेना पर्याप्त होगा। ''दल्'' शब्द का अर्थ सन्थाली में 'मारना' होता है और इससे 'दल्-ओचो-अकन्त-हेन्-तए-तिञे' एक शब्द बनता है जिसका अर्थ है ''वह जो उनका है जो मेरा है चोट खाते रहने पर भी कार्य जारी रखेगा।'' यदि हम धातु के मध्य में प अक्षर जोड़ दें तो ''दपल्'' शब्द बनेगा और तब मारने की क्रिया पारस्परिक-बोधक हो जायगी और ''दपल्-ओचो-अकन्तहेन्-तए-तिञे'' का अर्थ होगा ''वह जो उनका है जो मेरा है वह लड़ाई में अपने को पिटवाते रहना जारी रखेगा।'' फिर, यदि 'अकन्' के बदले 'अकओ' शब्द रख दिया जाय तो वही लड़ाका व्यक्ति आत्मभाव से युक्त होकर अपने लिए लड़ाई कराता रहेगा। उदाहरणार्थ यदि मेरे दास का पुत्र अपने को किसी झगड़े में फँसा लेगा तो हमें निश्चित रूप से इस प्रकार के शब्दजाल का प्रयोग करना पड़ेगा। केवल साधारण नियमों की सहायता से अनेक जटिल विचारों को प्रकट करने के लिए कितने शब्द बन सकते हैं, इसका अनुमान श्री स्क्रेफसुड द्वारा प्रणीत सन्थाली व्याकरण के 'मारना' क्रिया के रूपों को देखकर ही लगाया जा सकता है। इस व्याकरण में इस क्रिया के अन्यपुरुष एकवचन के विविध रूप १०० पृष्ठों में आ सके।

यहाँ मुण्डा भाषाओं की अन्य विशेषताओं में से निम्नलिखित का उल्लेख भी आवश्यक है। जिस प्रकार हिन्द-चीनी भाषाओं में अन्तिम व्यंजन को अक्सर रोककर अथवा निम्न स्वर करके उच्चरित किया जाता है उसी प्रकार मुण्डा में भी व्यंजन का उच्चारण होता है। चीन के विद्वान् इस प्रकार के उच्चारण को 'आकस्मिक' अथवा 'प्रवेशसुर' कहते हैं। कैन्टन की भाषा में भी व्यंजन का उच्चारण इसी प्रकार होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है आस्ट्रो-एशियाटिक वर्ग की मानख्मेर शाखा की भाषाओं की यह सामान्य विशेषता है।[1] मुण्डा भाषाओं में यद्यपि पुँल्लिग तथा स्त्रीलिंग संज्ञाओं का भेद वर्तमान है तथापि वास्तव में वहाँ दो ही लिंग हैं। इनमें से एक का सम्बन्ध

१. देखो डायरबाल, 'कैण्टनीज मेड इजी वाकेबुलरी', तृतीय संस्करण, भूमिका। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, यद्यपि यह 'प्रवेश सुर' कहा जाता है, तथापि वास्तव में यहाँ सुर का सर्वथा अभाव है।

प्राणिवाचक वस्तुओं से तथा दूसरे का सम्बन्ध अप्राणिवाचक से है। इन भाषाओं में एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन विद्यमान हैं। संज्ञा में अन्यपुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के रूप जोड़ने से ही ये दोनों वचन सम्पन्न होते हैं। व्यक्तिवाचक सर्वनामों के सभी लघु रूप क्रियाओं के प्रत्ययरूप में स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहृत होते हैं। उत्तमपुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के दो-दो रूप होते हैं जिनमें प्रथम सम्बोधित पुरुषयुक्त तथा द्वितीय उससे रहित होता है। जब आप अपने पाचक को आदेश देते हुए यह कहते हैं "हम लोग साढ़े सात बजे भोजन करेंगे" तो हम के लिए 'अले' शब्द का प्रयोग करना पड़ेगा 'अबान' का नहीं। नहीं तो उस भोजन में आप पाचक को भी आमन्त्रित कर देंगे जो हास्यास्पद होगा। मुण्डा भाषाओं में भी अन्य पूर्वीय भाषाओं की भाँति ही सम्बन्धवाचक सर्वनाम के स्थान पर क्रिया के कृदन्तीय रूपों का व्यवहार होता है। उदाहरणस्वरूप इसमें "हिरन जिसे तुमने कल खरीदा" के स्थान पर "कल का तुम्हारे द्वारा खरीदा हुआ हिरन" हो जायगा। केवल (अन्त्य) प्रत्यय के जोड़ने से ही धातुओं के अर्थ में परिवर्तन नहीं हो जाता अपितु मध्य में प्रत्ययों के संयोग से भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण 'द-प-ल्' में हो गया है। मुण्डा वाक्य का स्वरूप आर्य भाषाओं के वाक्यों से बिलकुल भिन्न होता है। यही कारण है कि अंग्रेजी की भाँति इसके वाक्यों को वाक्यांशों में विभाजित करना असम्भव है। आर्य-भाषा की तरह इसमें क्रियापद होता है किन्तु वह केवल एक विचार को ही द्योतित करता है किन्तु उससे किसी कार्य के होने या करने की अधिकारपूर्ण भावना स्पष्ट नहीं होती। मुण्डा व्याकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके क्रियापद में निर्धारक निपात 'अ' को जोड़कर अर्थ में दृढ़ता लायी जाती है। मुण्डा में किसी वाक्य के विभिन्न अंश मिलकर किसी विचार का पहले चित्र बनाते हैं और तब प्रयत्न द्वारा इसे दृढ़ता प्रदान की जाती है। हिन्दी में हम कहते हैं "राम आया", इस विचार को प्रकट करने के लिए सन्थाली भाषाभाषी सर्वप्रथम राम के आ जाने का चित्र अपने सम्मुख लायेगा और तब निर्धारण निपात 'अ' को संयुक्त जोड़कर इस बात की पुष्टि करेगा कि वह चित्र वास्तविक है। इस प्रकार जिस वाक्य द्वारा निश्चयात्मक भाव प्रकट न होगा वहाँ 'अ' निपात का व्यवहार नहीं होगा। उदाहरण-स्वरूप हिन्दी तथा अंग्रेजी में जहाँ संयोजक प्रकार (Subjunctive Mood) एवं इच्छाद्योतक प्रकार (Optative Mood) होंगे वहाँ इसका प्रयोग न होगा। अंग्रेजी और हिन्दी में कृदन्त, तुमन्त और क्रियार्थक संज्ञाओं की सहायता से जिस प्रकार क्रियापद पूर्ण होते हैं उसी प्रकार मुंडा में निर्धारक निपात 'अ' की सहायता से क्रियापद पूर्ण होते हैं।

मुंडा भाषाओं के नाम

जिस प्रकार अनेक असभ्य तथा आंशिक सभ्य जातियों के नामकरण उस जाति के लोग नहीं करते बल्कि उसके आस-पास के लोग करते हैं, उसी प्रकार मुंडा जातियों के नामकरण भी इनके द्वारा नहीं हुए हैं अपितु इनके पड़ोसियों ने इनका नामकरण किया है और इन्हीं नामों को आगे चलकर अन्य लोगों ने अपना लिया है। इनकी अधिकांश जातियाँ अपने को मनुष्यगण (Men) कहती हैं। कोल, कोड़ा, कुर्कू (यह कूर का बहुवचन है) हाड़, हाड़ा, को (बहुवचन रूप) अथवा हो, इसी शब्द (मनुष्यगण Men) के विभिन्न बोलियों में रूप हैं और मुण्डा जातियों के लिए व्यापक रूप से इन्हीं का व्यवहार होता है। भारतीय आर्यों ने तो प्रायः सभी अनार्य जातियों को कोल नाम से अभिहित किया है। संस्कृत में कोल शब्द का अर्थ शूकर होता है यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से कोल की यह व्युत्पत्ति ठीक नहीं है तथापि बहुत लोग इसी को ठीक मान बैठे हैं। गंगा के काँठे के दक्षिण में, जहाँ कोल लोगों के राज्य की अनेक दन्तकथाएँ सुनी जाती हैं, कई पीढ़ियों से मुंडा भाषा का एक वाक्य भी नहीं सुनाई पड़ता। कदाचित् कुली शब्द के तथा एक-दो मुख्य जातियों के मूल में भी यह कोल शब्द ही है, यद्यपि ये जातियाँ संभवतः रोषपूर्वक इसका खण्डन करेंगी।

तीसरा अध्याय

करेन तथा मन

तिब्बती-चीनी भाषाओं के अन्तर्गत आनेवाली भाषाओं का वर्णन करने से पूर्व हमें अन्य दो वर्ग की भाषाओं का संक्षिप्त रूप में उल्लेख करना आवश्यक है। इन भाषाओं का सम्बन्ध भी संदिग्ध है और बर्मा के भाषासर्वेक्षण के पूरा न होने तक इन्हें अस्थायी रूप से स्वतन्त्र परिवारों के रूप में रखा जा रहा है। ये करेन तथा मन परिवार हैं। प्रस्तुत सर्वेक्षण में इनमें से किसी का विवरण नहीं दिया गया।

करेन परिवार

करेन वस्तुत: कई बोलियों का एक ऐसा समूह है जिसका व्यवहार दक्षिणी बर्मा तथा स्याम के समीपवर्ती भागों में फैली हुई इस जाति के लोग करते है।[1] स्वर्गीय प्रो० टेरिन डे लाकोपेरी के अनुसार ये चीनी की पूर्ववर्ती भाषाएँ हैं और इस प्रकार मन भाषाओं से, जिनका विवरण आगे दिया जायगा, ये सम्बन्धित हैं। मुझे भी इन दोनों में एक से अधिक समानताएँ मिली हैं। यह भी सम्भव है कि हिमालय में प्रचलित किरान्ती भाषाओं से भी इनका दूर का सम्बन्ध हो, लेकिन इस प्रश्न को हमें बर्मा के भाषा सर्वेक्षण की खोज के लिए यहीं छोड़ देना चाहिए। जहाँ इतना सन्देह वर्तमान है वहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ लोगों के अनुसार करेन लोगों की गणना दस विस्मृत जातियों में है और यह असम्भव नहीं है कि उन्होंने अपनी कुछ परम्पराएं उत्तरी चीन में उपनिवेशरूप में बसे हुए यहूदियों से प्राप्त की हों। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग, उत्तरी चीन से आवा के समीपवर्ती स्थानों की ओर गये। यहाँ से ये लोग पाँचवीं अथवा छठीं शताब्दी के लगभग दक्षिण की ओर गये और इरावदी, सालविन तथा समुद्रतटवर्ती मेनाम के बीच के पर्वतीय भाग में फैल गये। करेन भाषा के विविध

१. जिस क्षेत्र में करेन भाषा बोली जाती है उसे स्यामी चीनी भाषाओं वाले नक्शे में दिखाया गया है।

रूपों के विवरण उपस्थित करने का कार्य मैं बरमा के भाषा-सर्वेक्षण पर छोड़ देता हूँ। इनकी संख्या बहुत है। इस स्थान पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि इनमें सबसे

करेन

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
स्गा	३,६८,२८२
पो	३,५२,४६६
तांगथू	२,१०,५३५
करेन्नी	३४,४८८
अन्य	१,४८,२५५
जोड़	११,१४,०२६

महत्त्वपूर्ण उत्तर की करेन्नी अथवा लाल करेन, दक्षिण की पो तथा स्गा एवं तांगथू हैं।

मन परिवार

मन परिवार के अन्तर्गत, अस्थायी रूप से वर्गीकृत भाषाएं, मुख्य रूप से चीन तथा हिन्द-चीन में बोली जाती हैं, यद्यपि इसके कुछ बोलनेवाले ब्रिटिश वर्मा में भी जा

मन

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
मिआओ	३९४
याओ	१९७
जोड़	५९१

बसे हैं। मन शब्द चीनी भाषा का है और इसका अर्थ है "दक्षिण के असभ्य लोग"। चीनी लोग इस शब्द का व्यवहार हिन्द-चीन तथा इसके समीपवर्ती चीन की सीमा में

बसे हुए लोगों के लिए करते हैं। इनकी दो जातियों, मिआओं तथा याओ के प्रतिनिधि लोग दक्षिणी शान रियासत की ओर चले गये हैं और उनकी भाषाओं की गणना सन् १९२१ की जनगणना में दर्ज है। इन भाषाओं का भारत से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और इनका विवरण बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण में दिया जायेगा। इससे अधिक विवरण, इस सर्वेक्षण के द्वितीय खण्ड में 'तुलनात्मक शब्द-समूह की भूमिका' के अन्तर्गत दिया जायगा।

चौथा अध्याय

तिब्बती-चीनी परिवार

तिब्बती-चीनी परिवार

आस्ट्रिक को छोड़कर कोई भी भाषा-परिवार इतना बृहत् एवं विस्तृत नहीं है जितना तिब्बती-चीनी। यह परिवार पूर्वी गोलार्ध में, मध्य एशिया से दक्षिण बर्मा तक तथा बाल्टिक के प्रदेश से पेकिंग तक फैला हुआ है। इस विस्तृत भू-भाग में रूपहीन एवं प्रगतिशील अनन्त तिब्बती चीनी भाषाएँ बोली जाती हैं। इनके बोलनेवालों की संख्या आस्ट्रिक तथा भारोपीय परिवार की भाषाओं से भी बहुत अधिक है। इसका क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है और इसके बोलनेवालों की संख्या इतनी अधिक है कि किसी भी विद्वान से इसे पूर्णरूप से अधिकृत करने की आशा नहीं की जा सकती। इनमें से कतिपय भाषाओं, यथा तिब्बती, बर्मी, स्यामी अथवा चीनी की यत्किंचित् अथवा पूर्णरूप से विशेषज्ञों ने खोज की है। अन्य भाषाओं के नमूने के रूप में केवल कतिपय शब्द ही ज्ञात हैं। फिर, दूसरी भाषाओं के हम केवल नाम ही जानते हैं और कुछ के तो हमें नाम भी ज्ञात नहीं हैं।

इनका वर्गीकरण

इन्हें सर्वप्रथम वर्गीकृत करने का प्रयत्न ब्रायन, ह्वाटन तथा हाग्सन ने किया था और इनमें से हाग्सन की कृतियाँ तो वस्तुतः इस प्रकार की समस्त खोजों की आधार-शिला हैं। हाग्सन के पश्चात् उत्साही तथा परिश्रमी लोगन का नाम आता है और बर्मा तथा असम प्रदेशों में भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ कार्य हुआ है उसके लिए हम इस विद्वान के ऋणी हैं। लोगन के बाद मैसन, कुशिंग, फोरबेस अथवा एडकिन्स आये जिन्होंने इस क्षेत्र के एक भाग के सम्बन्ध में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया और हमारे समक्ष नूतन तथ्य प्रस्तुत किये। तदुपरान्त मैक्समूलर, फैडरिक मूलर अथवा टेरि दे लाको पेरी जैसे कतिपय अन्य प्रशिक्षित भाषाशास्त्री इधर आकर्षित हुए जिन्होंने पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा प्रस्तुत की गयी सामग्रियों की जाँच की और उलझे हुए तथ्यों को क्रम में रखा। इसके बाद इन भाषाओं के अध्ययन के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई और यदि हम

अपने अध्ययन के विषय को भारत की भाषाओं तथा उससे सटे हुए पड़ोसी देशों तक ही सीमित रखें तो इस क्षेत्र में म्यूनिख के स्वर्गीय प्रो० कुहन, लाइपजिक के प्रो० कानरेडी, अमेरिका के डा० लाफ़र एवं प्रो० ब्रेडले और इन सबसे बढ़कर फ्रांस के भाषा स्कूल के प्रतिभाशाली विद्वानों तथा फिनोत् के तत्त्वावधान में दूर हनोई में स्थित प्राच्यविभाग के कार्यों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इन विद्वानों के परिश्रम के फलस्वरूप इन भाषाओं के वर्गीकरण का ढाँचा तैयार हो गया है और जिन विद्वानों में इनके मूल्यांकन की क्षमता है उन्होंने इसे स्वीकार भी कर लिया है। इन विद्वानों ने इन विभिन्न किन्तु अत्यधिक पृथक् भाषाओं के ध्वनि सम्बन्धी नियमों को भी अनुसन्धान कर लिया है और इन भाषाओं में सुर की उत्पत्ति सम्बन्धी नियमों को भी खोज निकाला है। इस प्रकार बर्मा के भाषासर्वेक्षण की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी है और जब तक ये पंक्तियाँ प्रकाशित होंगी तब तक उसका कार्य भी बहुत अग्रसर हो गया रहेगा।

वर्गीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त

तुलनात्मक भाषाशास्त्र में जो एक सर्वमान्य स्वीकृत सिद्धान्त है वह यह है कि भाषाओं का वर्गीकरण उनके व्याकरण के अनुसार करना चाहिए। इसके लिए केवल शब्द-समूह का आधार अविश्वसनीय है। यदि हम शब्द-समूह को ध्यान में रखकर परीक्षण करें तो डा० जॉनसन की लैटिन मिश्रित अंग्रेजी को रोमान्स भाषा तथा उर्दू को सेमेटिक अथवा ईरानी के अन्तर्गत रखना पड़ेगा; लेकिन यह सभी लोग जानते हैं कि अंग्रेजी टघूटानिक तथा उर्दू भारतीय आर्य भाषा परिवार के अन्तर्गत आती है। वर्गीकरण सम्बन्धी यह नियम संस्कृत, लैटिन अथवा अंग्रेजी जैसी भाषाओं में तो लागू होता है क्योंकि इनके व्याकरण हैं, लेकिन कठिनाई वहाँ उपस्थित होती है जहाँ हमें ऐसी भाषाओं से सामना करना पड़ता है जिनका आदि-भाषाओं के दृष्टिकोण से कोई व्याकरण नहीं है, जिनके रूपों में न तो संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि के भेद ही वर्तमान हैं और न जिनकी क्रियाओं के रूप ही चलते हैं तथा जिनके शब्द एकाक्षर होते हैं और उनके रूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। अंग्रेजी "शताब्दी कोश" (Century Dictionary) के अनुसार व्याकरण वस्तुतः भाषा के प्रयोग का क्रमबद्ध विवरण है। जहाँ तक इसके तिब्बती-चीनी परिवार वाक्यांशों का सम्बन्ध है, इसमें शब्दों के प्रयोग और रूपों में भेद होता है और इसी प्रकार शब्दों के वाक्य में प्रयोगसम्बन्धी नियम भी होते हैं। इस प्रकार ऊपर के प्रश्न के उत्तर के लिए हमें अपने सिद्धान्त का परित्याग करना पड़ेगा और व्याकरण की परिभाषा से शब्दरूप वाले अंश को हटाकर अपनी परिभाषा को व्यापक बनाना पड़ेगा। इस दशा में

व्याकरण की परिभाषा सामान्य रूप से केवल शब्दों तथा उनके प्रयोग तक ही सीमित रह जायगी। दूसरे शब्दों में हमें शब्द-समूहों के तुलनात्मक अध्ययन पर ज़ोर देने के लिए बाध्य होना पड़ेगा और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस प्रक्रिया से हम पुनः अपने सिद्धान्त पर आ जायँगे। तिब्बती-चीनी भाषाओं को, उनके बोलनेवाले बौद्धों की भाँति ही, कई बार जन्म लेना पड़ा है। यह भी कर्म के प्रवाह में पड़ी हुई हैं। इनके सम्बन्ध में जो हाल में खोजें हुई हैं उनसे स्पष्ट हो गया है कि अपने पूर्व जन्म में ये संश्लिष्ट भाषाएँ थीं तथा इनमें उपसर्गों एवं प्रत्ययों का प्रयोग होता था और यद्यपि इनके उपसर्ग तथा प्रत्यय समाप्त हो गये हैं तथापि इनके शब्द-समूहों, उच्चारणों एवं वाक्य में इनके स्थान के सम्बन्ध में इनका आज भी प्रभाव है। तिब्बती-चीनी शब्दों के इतिहास की तुलना उन बहुसंख्यक पत्थरों से की जा सकती है जिन्हें कोई व्यक्ति समुद्र में उसके विभिन्न तटवर्ती स्थानों में फेंकता है। इनमें से एक पत्थर स्थिर धारा में गिरता है और अपरिवर्तित रहता है, दूसरा कीचड़ में गिरता है और शताब्दियों पश्चात् अपनी ऊपरी सतह को भी इतना मजबूत बना लेता है कि यह बिलकुल ही पता नहीं चलता कि इसके अन्दर क्या है? एक अन्य तूफानी धारा की चट्टानों में गिरता है और धक्के खाते-खाते इस क़दर घिस जाता है कि उसे कोई भूगर्भशास्त्री ही पहचान सकता है। एक और ऐसे स्थान में चला जाता है जहाँ वह मूल का विद्रूप मात्र बन जाता है। और एक अन्य किसी चट्टान में फंसकर तीव्र धारा से जर्जर होकर ऐसा रूप धारण कर लेता है कि केवल चिह्न मात्र ही अवशिष्ट रह जाता है। विद्वानों के परिश्रम एवं धैर्यपूर्वक विश्लेषण के फलस्वरूप कतिपय चीनी शब्दों के परिवर्तित रूपों का पता विभिन्न अवस्थाओं में, लग पाया है। उदाहरणस्वरूप चीनी में घोड़े के लिए "रैंग" तथा "माँ" शब्दों का व्यवहार होता है। बाह्य रूप में इन दोनों शब्दों में अत्यधिक अन्तर है फिर भी प्रो० कोनार्डी ने "माँ" को "रैंग" से प्रसूत शब्द सिद्ध किया है। यद्यपि आज चीनी में मूल "रैंग" का "माँ" रूप ही रह गया है और इसका उच्चारण एक विशेष सुर में होता है।

मूल स्थान

परम्परा तथा तुलनात्मक भाषाशास्त्र, दोनों दृष्टियों से तिब्बती चीनी जाति का मूल स्थान उत्तरी, पश्चिमी चीन में यांगस्ते नदी के ऊपरी भाग तथा ह्वांगहो नदी के बीच में बतलाया जाता है।[1] कालान्तर में तिब्बती चीनी लोग एक के बाद दूसरी

१. देखो E. kuhn 'Ueber Herkunft und Sprache der transgangetischen Volker' pp. 4 and 8—"On the rule and speech of the Transgangetic Peoples"

आक्रमणकारी धाराओं के रूप में भारत तथा असम प्रदेश की ओर बढ़ते गये। ये लोग ब्रह्मपुत्र, चिन्दविन, इरावदी, सालविन, मेनाम तथा मेकांग नदियों के मार्ग से ही आगे बढ़े। इन्होंने इधर के आदिमवासियों को समुद्रतट या पहाड़ों की ओर जाने के लिए बाध्य किया। भाषाशास्त्र के अध्ययन से हमें यह भी पता चलता है कि मूल तिब्बती-चीनी लोगों को इधर निवास करनेवाली आदिम जातियाँ अवश्य मिली होंगी। इनमें से निश्चित रूप से मानख्मेर, सम्भवतः करेनों के पूर्वज तथा हिन्द-चीन की वे जंगली जातियाँ भी रही होंगी जिनकी भाषाओं का वर्गीकरण इन पृष्ठों में मन शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। मानख्मेरों के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। करेन तथा मन भाषाएँ सर्वेक्षण के अन्तर्गत नहीं आतीं लेकिन इनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से बर्मा के सर्वेक्षण में विचार किया जायगा। इस सर्वेक्षण की पूर्णता की दृष्टि से इनके सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों में कुछ लिखा जा चुका है।

दो उपपरिवार

तिब्बती-चीनी परिवार की भाषाओं को सरलतापूर्वक दो उपपरिवारों में विभाजित किया जाता है। ये है—(१) तिब्बती-बर्मी भाषाएँ, (२) स्यामी-चीनी भाषाएँ। इनमें से किसी का पूर्ण विवरण इस सर्वेक्षण में नहीं दिया गया है। करीब-करीब दूसरी भाषा के सभी बोलनेवाले, जिनकी गणना भारतीय जनगणना की रिपोर्ट में दी

तिब्बती-चीनी परिवार

	सर्वेक्षण के अनुसार	सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार
तिब्बती-बर्मी	१९,८०,३०७	१,१९,५९,०११
स्यामी-चीनी	४,२०५	९,२६,३३५
जोड़	१९,८४,५१२	१,२८,८५,३४६

गयी है, बृहत्तर भारत के निवासी हैं। केवल कुछ ही बोलियाँ असम प्रदेश में बोली जाती हैं और उन्हीं का इस सर्वेक्षण में उल्लेख है। जहाँ तक तिब्बती-बर्मी भाषाओं का सम्बन्ध है, इस सर्वेक्षण में लगभग कुल के पाँचवें भाग का ही उल्लेख है। इन भाषाओं के अधिकांश बोलनेवाले बर्मा के निवासी हैं।

तिब्बती-वर्मी दो मुख्य शाखाएँ

तिब्बती-हिमालय शाखा

ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बती-वर्मी भाषाभाषी सर्वप्रथम यांगत्सी तथा ह्वांगहो के ऊपरी भाग में स्थित अपने मूल स्थान से इरावदी तथा चिन्दविन के उत्तर की ओर आये। यहाँ से, सम्भवतः, इनमें से कुछ लोग ब्रह्मपुत्र एवं उत्तर हिमालयवर्ती सांपो नदी की प्रतिकूल धारा की ओर जाकर तिब्बत में बस गये। इनमें से कतिपय लोगों ने जलविभाजक रेखा (वाटर शेड) को पार कर पूर्व में असम प्रदेश से लेकर पश्चिम में पंजाव तक हिमालय की दक्षिण श्रेणियों को अपने अधिकार में कर लिया।

असम-बर्मी शाखा

असम में इसी परिवार के अन्य लोगों से, जो असम घाटी से होकर ब्रह्मपुत्र के निचले भाग में आये थे, इनका सम्पर्क हुआ और ये उनमें घुल-मिल गये। नदी के बड़े मोड़ पर वर्तमान धुबरी शहर के समीप ये जातियाँ दक्षिण की ओर मुड़ीं और इन्होंने सर्वप्रथम गारो पहाड़ियों, तत्पश्चात् आज के टिपरा पर्वत को अधिकृत कर लिया। ऐसा लगता है कि इनमें से कुछ लोग कपिलि की घाटी तथा उत्तर कचार के पर्वतीय प्रदेश की पड़ोस की नदियों को पार कर ऊपर चले गये। लेकिन इसके तथा गारो पहाड़ियों के बीच के जिन्हें आजकल खासी तथा जयंतिया पहाड़ी कहते हैं, पर्वतीय प्रदेशों पर ये अधिकार करने में असफल सिद्ध हुए और यह आज भी प्राचीन मानख्मेर भाषा-भाषियों का स्थान रह गया है। इस तिब्बती-वर्मी दल के अन्य सदस्य असम घाटी के उत्तर में रुक गये और वहाँ से दक्षिण की ओर चले आये। इन लोगों ने नागा पहाड़ियों पर अधिकार कर लिया और यहाँ मिश्रित जातियों के पूर्वज के रूप में बस गये। इनकी भाषा को हम सुविधा की दृष्टि से नागा-वर्ग के नाम से पुकारते हैं। इनमें से कुछ सम्भवतः सीधे पूर्वी नागा प्रदेश में चले गये, लेकिन अन्य लोग दक्षिण से मणिपुर होते हुए पश्चिमी नागा प्रदेश में जा पहुँचे और आज भी उत्तर की ओर इनके प्रस्थान करने के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। इनके अन्य सदस्यगण इरावदी तथा चिन्द-विन के ऊपरी भाग के आसपास ही, जहाँ आज कचिन भाषा बोली जाती है, बस गये और इस प्रदेश को उन्होंने विदेश गमन करनेवालों का केन्द्र बनाया। हम लोगों को निम्नजातियों की बोलियों, यथा, मणिपुर की लूइ भाषाओं तथा उत्तरी बर्मा की कदु, जी, लशि, मैंग्थ, फोन (ह्पोन्) अथवा मारू जैसी छिटफुट बोलियों में स्पष्ट रूप से प्रारम्भ के गमनागमन के चिह्न मिलते हैं। बाद को, फिर भी प्राचीन काल

में ही, मणिपुर के निवासी मणिपुरी ही रहे होंगे क्योंकि उनकी भाषा मेइथेइ न केवल अपने मूलस्थान में, जो आज कोचिन प्रदेश कहा जाता है, बोली जानेवाली भाषा से ही साम्य रखती है वरन् उस भाग के अन्य बाहर से आकर बसे लोगों की भाषा से भी समानता रखती है। इस दल के कुछ लोग चिन्दविन तथा इरावदी के उत्तर की आसपास की भूमि में बस गये और धीरे-धीरे इन नदियों के बहाव की ओर नीचे चलते हुए अथवा एक दूसरे से मिलते हुए या अपने पूर्वज मानख्मेरों के पर्वतीय प्रदेश से पृथक् रहते हुए दक्षिण की ओर रवाना हुए। इसके पूर्व कि इनकी भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन हो, ये लोग पश्चिम की ओर मुड़े और मणिपुर के दक्षिण चिन पहाड़ों में बस गये।[1] यहाँ इनकी जनसंख्या में अभिवृद्धि हुई जिसके कारण इन्हें अनेक समूहों में उत्तर के पहाड़ों की ओर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस स्थानान्तरण में लुशाई लोगों की भूमि, कचार, मणिपुर में तथा नागा पर्वतों तक के उनके दूर के सम्बन्धियों में उपनिवेश रूप में इनके कुछ लोग छूट गये। उनके वंशज, एक दूसरी से भिन्न लगभग तीस भाषाएँ बोलते हैं जिनका पारस्परिक सम्बन्ध है। इन्हें मेइथेई के साथ कुकिचिन वर्ग में स्थान दिया गया है। इनका एक दल यूनन में प्रविष्ट हुआ था। इन लोगों से हमारा तात्कालिक सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनकी भाषा अत्यधिक दिलचस्प है। इनकी भाषा का प्राचीन रूप सि-हिआ कहलाता है। यह कई शताब्दियों से मृतक हो चुकी है किन्तु एक चीनी भाषाशास्त्री ने हम लोगों के लिए इसे सुरक्षित रखा है। उसने इस भाषा का जो विशेष विवरण उपस्थित किया है वह यूरोपीय छात्रों को डा० लाफर कृत तांग-पाओ में मिलता है।[2] सि-हिआ चीन की पश्चिमोत्तर सीमा पर बोली जाती थी और यह एक मात्र वह तिब्बती-बर्मी भाषा है जिससे हम परिचित हैं। इस दल के आधुनिक प्रतिनिधि लोलो लोग हैं। इनमें से अधिकांश लोग यूनन में ही निवास करते हैं किन्तु कतिपय लोलो बोलनेवाली छिटपुट जातियाँ पूर्वी बर्मा में भी मिलती हैं। चिन्दविन-इरावदी समूह की प्रमुख शाखा जो आधुनिक बर्मी लोगों की पूर्वज है, नदियों के मार्ग से आगे बढ़ती गयी और अन्ततोगत्वा उसने समस्त निचले प्रदेश

१. इस सम्बन्ध में दूसरा विचार यह है कि 'कि चिन जाति के लोग बर्मी आक्रमणकारियों की शाखा नहीं थे, अपितु ये मनीपुर की घाटी में बसे हुए मेइथेइ लोगों की शाखा थे। भाषा-साक्ष्य के आधार पर इस सम्बन्ध में जो कुछ सम्भावना पायी जाती है, उसका विवरण यथातथ्य रूप में ऊपर दिया जा चुका है।

२. सेकेण्ड सीरीज खंड XVII सं० १, मार्च १९१५

पर अधिकार करके पागन तथा प्रोम में अपनी राजधानियाँ स्थापित कीं। अन्त में, आधुनिक काल में काचिनों के एक दल ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था, लेकिन उत्तरी बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाने के कारण उनका आगे बढ़ना रुक गया। जो भी घटनाएँ घटती हैं उनका पूर्णरूप से ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसमें से अधिकांश प्रागैतिहासिक काल से संबंधित है। मैंने यहाँ जो कुछ निवेदन करने का यत्न किया है उसका आधार स्थानीय परम्पराओं एवं नृ-विज्ञान तथा भाषाशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि इनमें से कतिपय मान्यताओं का आधार संदिग्ध है और मैंने द्विविधा के साथ ही उन्हें स्वीकार किया है।

स्यामी-चीनी

आगे अब स्यामी-चीनी भाषाओं का विवरण उपस्थित किया जायगा। इनके बोलनेवालों के सम्बन्ध में हमारे पास पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री है। ब्रिटिश भारत में प्रतिनिधिस्वरूप केवल इनका एक ही समूह है और वह है ताई। चीनी भी इसी उपपरिवार की है किन्तु उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कतिपय विशेषज्ञ इस उपपरिवार में करेन को भी सम्मिलित करते हैं किन्तु इसका सम्बन्ध बहुत कुछ संदिग्ध है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है,[1] जब तक बर्मा का भाषा-सर्वेक्षण सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक सन् १९२१ की जनगणना का अनुकरण करते हुए, मैं अस्थायी रूप से करेन को एक पृथक भाषा मानता हूँ।

इतिहास के रंग-मंच पर ताई लोग सर्वप्रथम युन्नन में प्रकट हुए और वहाँ से ये उत्तरी बर्मा में चले आये। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका सबसे प्रारम्भिक दल, उस क्षेत्र में लगभग दो हजार वर्ष पूर्व प्रविष्ट हुआ और इनकी संख्या भी बहुत थोड़ी थी। बाद में, इनके अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आक्रमण निस्सन्देह चीनियों के दबाव से हुए। ताई देशान्तरगमनकारियों का एक बड़ा समूह, छठीं शताब्दी में, दक्षिणी युन्नन के पर्वतीय प्रदेश से श्वेली की घाटी तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्रों में दाखिल हुआ था और इनके आगमन से यह घाटी राजनीतिक शक्ति का केन्द्र हो गयी। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में, उनकी राजधानी उस स्थान पर प्रतिष्ठापित हुई जिसे आज हम मुंग-माऊ कहते हैं। श्वेली से ताई अथवा शाम अथवा (जैसा कि उन्हें बर्मा के लोग पुका-

१. देखो पृ० ७१.

रते हैं) शान लोग, दक्षिण-पूर्व में आज के शान राज्य, उत्तर में वर्तमान खाम्ती क्षेत्र तथा इरावदी के पश्चिम में, इरावदी, निन्दविन तथा असम प्रदेश के बीच के समस्त क्षेत्र में फैल गये। तेरहवीं शताब्दी में उनकी एक जाति आहोम ने आक्रमण कर असम प्रदेश को जीत लिया और अपने नाम पर ही इसका नामकरण भी किया। न केवल परम्पराओं से ही इस बात की पुष्टि होती है कि उत्तरी बर्मा के शान लोग, ताई परिवार के सब से पुराने सदस्य हैं वरन् अन्य शाखाओं के लोगों ने भी इन्हें 'ताई लांग' अथवा 'महान ताई' और अपने को 'ताई नोई' अथवा 'छोटा ताई' कहा है।

ये प्राचीनतम निवासी तथा युन्नन दल के अन्य लोग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़े और अपने सामने से मानख्मेर लोगों को हटाते चले गये। यह क्रिया शनैः शनैः सम्पन्न हुई। आगे चलकर हम देखेंगे कि तिब्बती बर्मी लोगों ने भी इरावदी के कांठे में ठीक यही काम किया। चौदहवीं शताब्दी तक स्यामी अथवा जैसा कि ये लोग अपने को सम्बोधित करते थे, थाई लोग न तो मेनाम के बड़े डेल्टा में बस ही पाये थे और न वे टेनासरिम तथा कम्बोडिआ के मानख्मेर भाषाभाषियों के बीच पच्चर के रूप में ही निवास कर पाये थे। असम की भांति ही स्याम शब्द भी शाम का ही विकृत रूप है।

बर्मा के शान लोग उतने भाग्यशाली न थे। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक उनकी शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और तत्पश्चात् उनका ह्रास होने लगा। स्याम की पुरानी राजधानी अयूथिया की शासन-सत्ता के अन्तर्गत स्याम तथा लाओ पृथक् राज्य के रूप में हो गये। बर्मी तथा चीनी सम्राटों में अक्सर युद्ध हुआ करते थे और इनमें से चीनी सम्राटों के आक्रमण से काफी क्षति हुई। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मा के सम्राट अलोम्फ्रा ने शान के अन्तिम राज्य मोगांग को जीत लिया, किन्तु उधर सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शान का इतिहास बर्मा के इतिहास में अन्तर्भुक्त हो चुका था। यद्यपि शान राज्यों में सदैव अशान्ति, विद्रोह एवं आन्तरिक युद्धों का वातावरण रहा तथापि वे कभी भी अपने को बर्मा की परतंत्रता से मुक्त न कर सके।

हिन्द-चीनी भाषाओं के इतिहास का सारांश

संक्षिप्त रूप में ब्रिटिश भारत से सम्बन्धित भारत-चीनी भाषाओं का इतिहास इस प्रकार है। इधर के सबसे प्राचीन निवासी जिनके बारे में हमें कुछ ज्ञात है सम्भवतः वन्य "मन" जाति के आदि-चीनी पूर्वज हैं जो अब फ्रेंच हिन्द-चीन तथा चीन में पाये जाते हैं। यह सम्भव है कि बर्मा के करेन लोगों से इनका दूर का रिश्ता हो।

दक्षिण में हिन्देशिया (इण्डोनेशिया) से मानख्मेर लोग आये जिन्होंने असम प्रदेश सहित बृहत्तर भारत के विस्तृत भूभाग पर अधिकार कर लिया। बाद में तिब्बती-बर्मी लोगों के हमलों के कारण उन्हें समुद्र के किनारे तक जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। अब उनके प्राचीन निवासस्थान पर इस जाति के कतिपय लोग अज्ञात तथा छिटपुट रूप में मिलते हैं। तिब्बती-बर्मी परिवार की एक शाखा तिब्बत गयी जिसके वंशजों में से कुछ लोग हिमालय की श्रेणी को पार कर उसकी दक्षिणी श्रेणी के ढालुए भाग में बस गये। अन्य लोगों ने ब्रह्मपुत्र नदी के मार्ग का अनुसरण किया और उन्होंने गारो एवं टिपरा की पहाड़ियों को अधिकृत कर लिया। कतिपय अन्य लोग नागा पहाड़ियों, मनीपुर की घाटी तथा चिन्दविन और इरावदी नदी के ऊपरी भाग में बस गये। इस अन्तिम निवासस्थान से उनके दल के दल दक्षिण की ओर बढ़े। मार्ग में चिन पर्वत पर इनका उपनिवेश बन गया। आधुनिक युग में यहाँ से पुनः ये लोग अपने पड़ोस की लुशाई भूमि तथा कचार की ओर गये। इस दल के शेष लोग धीरे धीरे बाध्य होकर इरावदी के निचले काँठे में जा बसे और वहाँ पर एक स्थायी राज्य की स्थापना की। अन्त में तिब्बती-चीनी दल के एक दूसरे वर्ग ताई ने अपर बर्मा के पूर्वी पर्वतीय भागों पर अधिकार कर लिया और ये लोग उत्तर-पश्चिम की ओर फैल गये। इन्होंने ऊपरी प्रदेश के काचिन लोगों को नहीं जीता। ये लोग दक्षिण की ओर भी बढ़े और अपने तथा समुद्र के बीच के मानख्मेर प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। इस दल के सबसे महत्त्वपूर्ण लोग बर्मा के उत्तर तथा दक्षिण जानेवाली पट्टियों, उसके निचले भाग, पश्चिम के मानख्मेर-भाषी क्षेत्र तथा पूर्व में चीन एवं अनामियों के देश में फैल गये। सम्भवतः अनामीभाषी मूलतः ताई भाषाभाषी थे किन्तु वर्तमान समय में इसमें मानख्मेर तथा चीनी का इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि उसका सम्बन्ध निर्धारित करना कठिन एवं संदिग्ध है।

तिब्बती-चीनी भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

मनुष्य की भाषाओं के प्रायः तीन विभाग किये गये हैं। ये हैं—अयोगात्मक, योगात्मक तथा विभक्तिप्रधान। इनमें से प्रथम दो विभागों की विशेषताएँ तिब्बती-चीनी भाषाओं में वर्तमान हैं।

अयोगात्मक भाषाएँ

इन तीनों विभागों में से यह अनुमान करना उचित नहीं है कि भाषा के विकासक्रम में अयोगात्मक अवस्था सबसे प्रारम्भिक है। सभी तिब्बती-चीनी भाषाएँ किसी समय

योगात्मक थीं, लेकिन उनमें से कुछ, उदाहरणस्वरूप चीनी, अब योगात्मक हैं। चीनी भाषा के पुराने उपसर्ग एवं प्रत्यय समाप्त हो चुके हैं और उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। चीनी भाषा का प्रत्येक शब्द चाहे वह किसी समय उपसर्ग अथवा प्रत्यय अथवा दोनों से युक्त हो या न हो, आज एकाक्षर है। यदि उसमें समय, स्थान अथवा अन्य सम्बन्धों के अनुसार कुछ परिवर्तन की अपेक्षा है तो यह उपसर्ग अथवा नवीन प्रत्यय जोड़कर नहीं होता अपितु यह कार्य कोई नया शब्द रखकर सम्पन्न किया जाता है। इस नये शब्द का अपना अर्थ होता है और वह मूल शब्द के साथ किसी रूप में संयुक्त नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ चीनी भाषा में जाने के लिए '\कू' (\K'ü) तथा पूर्णता के भाव को द्योतित करने के लिए '\ल्यो' (\lyao) शब्द व्यवहृत होते हैं। अब यदि किसी चीनी को यह भाव व्यक्त करना है कि 'वह गया' तो वह कहता है—'वह जाते हुए पूर्णता'—ता \ कू \ ल्यो (—t'a \K'ü \lyao)। चीनी भाषा में जो सहायक शब्द मूल में जोड़कर अर्थ-परिवर्तन के लिए प्रयुक्त होते हैं उनमें से भी अनेक शब्द पृथक् शब्द के रूप में अपना महत्त्व खो बैठे हैं और उनका अस्तित्व अब उपसर्गों एवं प्रत्ययों की भाँति ही है। भाषा की यह अवस्था वस्तुतः योगात्मक है जहाँ मूल शब्द में उपसर्ग, अन्त्य प्रत्यय अथवा मध्य प्रत्यय संयुक्त करके सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है और पुनः इन शब्दों को वाक्य में रखकर भाव व्यक्त किया जाता है।

योगात्मक भाषाएँ

प्रकारों एवं अवस्थाओं की दृष्टि से योगात्मक भाषाओं में अत्यधिक विभिन्नता मिलती है। इनमें से कुछ भाषाएँ तो चीनी की भाँति हैं किन्तु कतिपय इतनी जटिल हैं कि उनकी जटिलता का अनुमान करना भी कठिन है।

उदाहरण के लिए ताई भाषा को लिया जा सकता है, जहाँ योगात्मक का सिद्धान्त अयोगात्मक को समाप्तप्राय करते हुए दृष्टिगोचर हो रहा है। उधर तिब्बती बर्मी वर्ग की भाषाओं में अयोगात्मकता समाप्त हो चुकी है और उसके कुछ ही प्रत्ययों के स्वतन्त्र अर्थ भी हैं। ये पूर्ण रूप से योगात्मक भाषाएँ हो चुकी हैं।

विभक्तिप्रधान भाषाएँ

भाषा की एक और अवस्था भी है जिसका चीनी-तिब्बती वर्ग में उदाहरण मिलना दुर्लभ है। इस अवस्था में उपसर्ग तथा प्रत्यय केवल अपना मूल अर्थ ही नहीं खो बैठते अपितु वे मूल शब्द से इस रूप में संयुक्त हो जाते हैं कि उन्हें विश्लेषण के अतिरिक्त

किसी भी प्रकार पृथक् करना कठिन होता है। इन भाषाओं में मूल अथवा धातु-शब्दों में भी परिवर्तन हो जाता है। इस अवस्था को विभक्तिप्रधान अथवा विभक्ति-युक्त अवस्था के नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृत तथा भारोपीय परिवार की अन्य भाषाएँ इसके अच्छे उदाहरण हैं।

भावात्मक तथा मूर्त विचारों की अभिव्यक्ति

आगे बढ़ने से पूर्व वियना के स्वर्गीय प्रोफेसर फ्रेडरिक मूलर की तुलनात्मक भाषाशास्त्र-सम्बन्धी महान कृति से निम्नलिखित उद्धरण देना आवश्यक है—

"जिन तरीकों से मनुष्य के मस्तिष्क में आदिम सामान्य भावनाएँ वनती हैं उनका मानव विचारों के अभिव्यक्तीकरण के रूप में, भाषा के आगे के विकास में अत्यधिक महत्त्व है। वस्तुओं को पूर्णतया मूर्त रूप में देखा जा सकता है अथवा उन्हें विभिन्न भागों में विभक्त करके एवं इन भागों को कतिपय सामान्य विशेषताओं के अनुसार वर्गीकृत करके केवल भावात्मक रूप में देखा जा सकता है। पहली अवस्था में भाषा अन्तर्ज्ञान की अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाती किन्तु दूसरी अवस्था में इसमें भावात्मक विचारों के निर्माण की शक्ति आ जाती है।

"यह सत्य है कि प्रथम वर्ग की भाषाएँ अत्यधिक सुन्दर एवं काव्यात्मक होती हैं। इन भाषाओं के अधिकांश शब्द मूर्त भावनाओं एवं वस्तुओं को प्रत्यक्ष करनेवाले होते हैं किन्तु इनमें सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि इनके द्वारा न तो उच्च विचारों को प्रकट ही किया जा सकता है और न ये अमूर्त एवं भावात्मक विचारों को मुक्त रूप से प्रत्यक्ष ही कर सकती हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति मस्तिष्क को इस रूप में प्रभावित करती है कि वह भावात्मक अथवा अमूर्त उच्च विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हो जाती है।

"संसार में ऐसी अनेक भाषाएँ हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के जानवरों के नामसम्बन्धी शब्द हैं, किन्तु उनमें जानवर के लिए एक शब्द नहीं है। इन भाषाओं में विभिन्न प्रकार से बैठने के लिए अनेक सुन्दर शब्द हैं किन्तु बैठने के भाव को द्योतित करने के लिए एक शब्द नहीं है। इस प्रकार की भाषाओं का स्वस्थ रूप नहीं है और ये वर्गीकृत एवं संयुक्त विचारों के अभिव्यक्तीकरण के लिए अयोग्य हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इनमें उस प्रकार के लघु शब्दों का अभाव है जो विस्तृत अर्थ रखते हुए विचार की प्रक्रिया में उसी प्रकार सहायता कर सकें जिस प्रकार बीजगणित के सूत्र करते हैं। जब हम इन भाषाओं में आधुनिक विचारों को प्रकट करना चाहते हैं अथवा उदाहरण-स्वरूप बाइबिल का अनुवाद करना चाहते हैं तो हमें सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है

कि जिन विचारों को हम केवल अमूर्त रूप में देखते हैं उन्हें ये भाषाएँ वस्तुरूप में देखती हैं।

"इन भाषाओं की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इनमें कोई क्रियावाची शब्द नहीं होते अतएव विचारों की अभिव्यक्ति के लिए केवल संज्ञावाची शब्दों को ही व्यवहृत करना पड़ता है।"[1]

किसी समय तिब्बती-चीनी भाषाएँ ऊपर के वर्ग की ही थीं किन्तु जब इनमें से कतिपय भाषाओं में साहित्य का विकास हुआ तो उन्होंने क्रिया के अभाव की अवस्था को पार किया और अब ये अमूर्त विचारों को प्रकट करने योग्य बन गयी हैं। इन भाषाओं में चीनी-स्यामी तथा तिब्बती की गणना की जा सकती है किन्तु तिब्बती-बर्मी वर्ग की अनेक भाषाएँ, जिनसे यहाँ हम लोगों का सम्बन्ध है, आज भी केवल मूर्त विचारों को प्रकट करनेवाली अवस्था में ही है। इनमें से कई भाषाओं में तो 'मनुष्य' जैसे साधारण विचार को प्रकट करने के लिए भी एक सामान्य शब्द नहीं है और उसके स्थान पर इन्हें अपने निजी कबीलों नाम का प्रयोग करना पड़ता है। वे अंग्रेजों के लिए सिगफो तथा इसी प्रकार अन्य लोगों के लिए मांडो या गारो तथा अल्लुङ्ग या मिकिर शब्दों का व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु उनके यहाँ मनुष्यवाची कोई एक अमूर्त शब्द नहीं है। इसी प्रकार लुशाई में विभिन्न प्रकार की चींटियों के लिए नौ या दस शब्द हैं किन्तु सामान्य रूप से चींटी के लिए कोई एक शब्द नहीं है।

शरीर के अवयवों तथा उसके पारस्परिक सम्बन्धों को द्योतित करनेवाले शब्द प्रायः अमूर्त भावों के ही परिणाम हैं। तिब्बती-बर्मी भाषाओं में पिता, माता तथा हाथ शब्द पृथक् शब्द के रूप में नहीं प्रयुक्त होते किन्तु उनके पूर्व किसी न किसी सर्वनाम, जैसे मेरा पिता, तुम्हारी माता, उसका हाथ, का प्रयोग करना पड़ता है। अधिकांश तिब्बती-बर्मी भाषाओं में इस वाक्य को कि 'हाथ में पाँच अँगुलियाँ होती हैं' शब्दशः अनूदित करना अत्यधिक कठिन होगा। उत्तमपुरुष तथा मध्यमपुरुष सर्वनामों की अपेक्षा अन्यपुरुष सम्बन्धवाचक सर्वनाम का यहाँ अधिक प्रयोग होता है।

१. यहाँ पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन भाषाओं में न संज्ञापद हैं न क्रियापद, अपितु कुछ ऐसे पद हैं जो न तो संज्ञा हैं और न क्रिया। किन्तु ये दोनों के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये पद क्या हैं, इसे द्योतित करने के लिए कोई शब्द नहीं है और मूलर ने इसके लिए यूरोपीय व्याकरण के जो पारिभाषिक शब्द लिये हैं उससे कई विद्वानों को भ्रम ही हुआ है।

अनेक भाषाओं में तो अन्यपुरुष सम्बन्धवाचक सर्वनाम का वास्तविक अर्थ भी लुप्त हो गया है और यह केवल अर्थहीन उपसर्ग के रूप में अमूर्त अर्थ को प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त होता है। मैंने इस प्रयोग का उल्लेख विस्तार से किया है। इससे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि ज्यों ज्यों सभ्यता के विकास के साथ साथ भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग बढ़ता जाता है त्यों त्यों इन्हें अनेक भाषाओं में बड़े साधारण ढंग से निर्मित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया की प्रत्येक अवस्था का प्रमाण हमारे पास है और इसके उदाहरण हिन्दूकुश पर्वत से लेकर चिन पर्वत के विस्तृत भूभाग में मिलते हैं।[1]

इसी प्रकार हिन्द-चीनी भाषा में क्रियापदों की उत्पत्ति भी संज्ञा से ही हुई है। मूर्त से अमूर्त भाव के विकसित होने का यह अच्छा उदाहरण है। तिब्बती-बर्मी का साधारण वाक्य, "मैं जाता हूँ" वस्तुतः 'मेरे जाने को' साकार विचार-रूप है। "मैं गया" में 'जाने' की क्रिया की पूर्णता है। इसी प्रणाली पर तिब्बती-बर्मी भाषा के क्रियापद के रूप चलते हैं। ये रूप 'भावे' अर्थ प्रकट करते हैं। दूसरी ओर "मैं उसे मारता हूँ" वस्तुतः 'मेरे द्वारा मारे जाने' के विचार को द्योतित करता है। इस वाक्य के द्वारा कर्तृ एवं कर्मवाच्य, दोनों का बोध होता है। इससे इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि इन भाषाओं में कर्मवाच्य नहीं होता। सच बात तो यह है कि इनमें वाच्य का सर्वथा अभाव है क्योंकि इनमें वास्तविक क्रियापद होते ही नहीं।

सुर

अधिकांश तिब्बती-चीनी भाषाओं की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें महत्त्वपूर्ण सुर हैं। इस सम्बन्ध में ये मानख्मेर भाषाओं से भिन्न हैं जिनमें सुर का अभाव है। तिब्बती-चीनी भाषाओं की सुर-सम्बन्धी इस विशेषता के कारण कतिपय विद्वानों ने इन्हें बहुसुर (पालिटोनिक) वंश के अन्तर्गत वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण भ्रामक है क्योंकि पश्चिमी तिब्बती भाषा में कोई महत्त्वपूर्ण सुर नहीं है। विभिन्न भाषाओं में इन सुरों की संख्या में भी अन्तर है।

१. योगात्मक भाषाओं में भाववाचक संज्ञाएं इस प्रकार नहीं बनतीं। उदाहरण-स्वरूप कतिपय मेलेशियन भाषाओं में, जहाँ पर इस प्रकार की स्थिति है, एक विशेष प्रत्यय लगाकर विशुद्ध भाव वाचक संज्ञा का निर्माण किया जाता है।

उदाहरणस्वरूप, स्यांगी तथा कैन्टनी भाषा में छै सुर हैं किन्तु बर्मी में केवल दो ही; परन्तु बर्मी में ये सुर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं और इनकी सहायता से ही यह भाषा बोधगम्य है। सुर की प्रमुख विशेषता यह है कि इसे महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। महत्त्वपूर्ण होने से यह तात्पर्य है कि जिस शब्द के साथ इसका प्रयोग होता है उसके अर्थ में परिवर्तन आ जाय। जब हम इन भाषाओं में किसी शब्द को लिखते हैं तो उसके साथ ही उसके सुर को भी किसी चिह्न द्वारा इंगित करना आवश्यक होता है क्योंकि जिन अक्षरों से वह शब्द निर्मित हुआ है उससे कम सुर का महत्त्व नहीं है। दुर्भाग्यवश तिब्बती चीनी भाषाओं को लिखते समय, विभिन्न भाषाओं में इनके सुरों को भिन्न भिन्न ढंगों से द्योतित करते हैं और कतिपय भाषाओं में तो लिखते समय इन चिह्नों का सर्वथा प्रयोग नहीं होता। जहाँ बिना चिह्न द्वारा इन भाषाओं के शब्द लिखे जाते हैं वहाँ इन भाषाओं का आंशिक रूप ही हम लोगों के सम्मुख आता है। यहाँ हम केवल शब्द के आंशिक रूप को ही देख पाते हैं, पूर्ण रूप को नहीं। इसे स्पष्ट करने के लिए स्यामी भाषा से (मा) शब्द का उदाहरण लिया जा सकता है। जब तक इस शब्द के साथ कोई सुर न संयुक्त किया जाय तब तक इसका कुछ भी अर्थ नहीं होता, किन्तु सुरों को संयुक्त करते ही इसके शब्द विभिन्न अर्थ प्रकट करने लगते हैं। यथा—'मा' का अर्थ 'आओ', 'मा' का अर्थ 'तर करना', ो'मा' का अर्थ 'घोड़ा', 'मा' का अर्थ 'सुन्दर', एवं ' मा' का अर्थ 'कुत्ता' होता है। इस प्रकार ो'मा मा–मा' का अर्थ है 'सुन्दर घोड़ा आता है'। किन्तु सुर चिह्न के बिना इसके लगभग आधे दर्जन विभिन्न अर्थ होंगे। बिना सुर के हम यह नहीं कह सकते कि यह घोड़ा था अथवा कुत्ता, जो सुन्दर था या आ रहा था या यह आ रहा था अथवा तर हो रहा था अथवा यह कुत्ते का घोड़ा अथवा कुत्ता घोड़े का था या कुत्ता घोड़े को तर कर रहा था या घोड़ा कुत्ते को तर कर रहा था। सुर वास्तव में श्रौत अथवा ऊँचा नीचा होता है। जब किसी शब्द का उच्चारण उच्च सुर से किया जाता है तो उसका एक अर्थ होता है किन्तु जब निम्न स्वर से वह उच्चारित होता है तो उसका अर्थ भी दूसरा हो जाता है। ऊर्ध्वगामी सुर का एक अर्थ होता है और अधोगामी का दूसरा। अनामी भाषा इसी वर्ग की है और जब ईसाई धर्मप्रचारकों को इसे सर्वप्रथम सुनने का सुअवसर मिला तो उन्होंने इसकी तुलना चिड़ियों की चहचहाहट से की थी। वास्तव में सुर के बलात्मक स्वराघात, दीर्घता अथवा अचानकता, से, जो हम यूरोपीय भाषाओं में पाते हैं, कोई सम्बन्ध नहीं है। इन भाषाओं में सुर प्रत्येक शब्द को प्रभावित करता है और एक शब्दविशेष प्रत्येक दशा में एक ही रूप में प्रभावित होता है। स्यामी भाषा में–'मा' शब्द मृदु-समसुर में उच्चरित होता है और इसका अर्थ 'आओ' होता है। किसी भी वाक्य में यह इसी रूप में उच्चरित

होता है।[1] प्रस्तुत स्थान पर सुरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें विचार नहीं करना है और न अब तक इस सम्बन्ध में अन्तिम रूप से विचार ही किया जा सका है।

यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राचीन काल में किसी शब्द-विशेष का सुर उसके आदि व्यञ्जन पर निर्भर करता था। लैप्सियस ने बहुत पहले इस सम्बन्ध में यही सुझाव दिया था और आगे चलकर प्रोफेसर कोनरैडी ने उसके मत का जोर से समर्थन करते हुए कहा था कि उपसर्गों के लुप्त हो जाने के कारण ही सुर अस्तित्व में आये। द्वि-अक्षर वाले शब्दों में जहाँ पर शब्द, उपसर्ग एवं धातुओं के संयोग से बना था, स्वराघात धातुओं पर ही होता था। स्वभावतः स्वराघातहीन उपसर्ग धीरे धीरे लुप्त हो गये और शब्द के द्वयाक्षर से एकाक्षर में परिवर्तित हो जाने के कारण स्वराघात का लोप हो गया और क्षतिपूरक के रूप में उसका स्थान सुर ने ग्रहण कर लिया। इससे यह पता चलता है कि जहाँ अब भी उपसर्ग प्रयुक्त होते हैं वहाँ सुर की आवश्यकता भी कम है। इस प्रकार चीनी तथा स्यामी में उपसर्गों का अभाव है जिसके परिणामस्वरूप इनमें अनेक सुर हैं किन्तु दूसरी ओर बर्मी में उपसर्गों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग होता है अतएव वहाँ केवल सुर हैं। बर्मी भाषा के अनेक शब्दों में तो महत्त्वपूर्ण सुर का अभाव-सा है। असम तथा अपर बर्मा की तिब्बती-चीनी भाषाओं में, जो बर्मी की भाँति ही विशुद्ध संयोगात्मक हैं, एक प्रकार से सुरों का अभाव है। इनमें हमें मुश्किल से एकाध स्वर सुनाई पड़ते हैं यद्यपि यहाँ इस बात को भी स्वीकार कर लेना आवश्यक है कि प्रशिक्षित पर्यवेक्षकों के न होने के कारण इस सम्बन्ध की हम लोगों की जानकारी भी बहुत कम है।

कण्ठद्वारीय अवरोध तथा अवरुद्ध व्यञ्जन

तिब्बती-चीनी भाषाओं तथा मानख्मेर एवं मुण्डा भाषाओं में उच्चारणसम्बन्धी एक अन्य विशेषता भी होती है जिसे चीनी विद्वान् "प्रवेश सुर" कहते हैं, यद्यपि वास्तविक रूप में यह किसी भी प्रकार का सुर नहीं है।[2] यह सुर किसी शब्द को झटके के साथ रोककर समाप्त करने से उत्पन्न होता है। अस्वीकार के अर्थ में अंग्रेजी "नो" (No) का उच्चारण जिस रूप में होता है उससे इस प्रकार के उच्चारण का अनुमान

१. सुर को इंगित करने की सर्वोत्तम प्रणाली के सम्बन्ध में तुलनात्मक शब्द सूची की भूमिका में इसी खण्ड के भाग दो में विचार किया गया है।

२. पृष्ठ ६० पर पाद-टिप्पणी देखो।

किया जा सकता है। ध्वनिशास्त्र के पारिभाषिक शब्द के बिना इस सुर का ठीक रूप से वर्णन करना कठिन है। यहाँ केवल इस व्याख्या से ही सन्तोष कर लेना उचित होगा कि इस प्रकार से प्रभावित शब्द के अन्त में यदि स्वर हो तो उसमें कण्ठ-द्वारीय अवरोध होगा, किन्तु यदि उसके अन्त में व्यंजन हो तो वह व्यंजन पर-श्रुति रहित होगा। एक भाषा की दूसरी भाषा से तुलना करने पर हम यह पाते हैं कि प्रथम अवस्था दूसरी अवस्था के बाद आती है। इस प्रकार 'अन्तिम व्यञ्जनयुक्त परश्रुति रहित लुशेई का 'मित्' (मि. mit — आँख) शब्द अनुगामी नागा में 'म्हि' (mhi) तथा काचिन में 'मि' (mi) रूप में उच्चरित होता है। ये दोनों उच्चारण वस्तुतः कण्ठद्वारीय अवरोध युक्त हैं।

पदक्रम

शब्द अथवा पद में क्रम का होना वस्तुतः तिब्बती-चीनी भाषाओं की विशेषता नहीं है। एक समय कभी ऐसा भी था जब कि वर्तमान समय की भाँति यह क्रम नहीं था। इन भाषाओं के वाक्यों में पदों का कोई निर्धारित क्रम नहीं होता। उपसर्गों तथा तिङ-प्रत्ययों के लुप्त हो जाने पर इन भाषाओं के वाक्य में एक पद का दूसरे पद से सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए किसी न किसी पद्धति की आवश्यकता थी। अंशतः यह कार्य वाक्यों में पदों का स्थान निर्धारित करके सम्पन्न किया गया था किन्तु विभिन्न भाषासमूहों ने एक ही पद्धति को स्वीकार नहीं किया। प्रत्येक समूह ने अपने पदों या शब्दों को अपने सदस्यों द्वारा व्यवहृत विचारधारा के अनुसार निर्धारित किया और विचारधारा का यह क्रम विभिन्न समूह की भाषाओं में अलग-अलग था। इस प्रकार का अन्तर हमें अनेक पश्चिमी भाषाओं में भी मिलता है। एक सामी भाषा-भाषी सर्वप्रथम कार्य के सम्बन्ध में सोचता है और तदुपरान्त कर्ता के विषय में। इस प्रकार जब उसे कहना होता है कि "जॉन मारता है", तो वह कहता है—"मारता है जॉन"; किन्तु भारोपीय भाषा-भाषी सर्वप्रथम कर्ता के सम्बन्ध में और तदुपरान्त कार्य के विषय में सोचता है और तब वह कहता है कि "जॉन मारता है"। इसी प्रकार वाक्य में शब्दों या पदों के क्रम से किसी भाषा के बोलनेवाले लोगों के दृष्टिकोण का पता चलता है। अरबी भाषा-भाषी सर्वप्रथम कार्य के सम्बन्ध में विचार करता है और कर्ता के विषय में वह उतना नहीं सोचता, किन्तु इसके विपरीत भारोपीय भाषा-भाषी सर्वप्रथम कर्ता के सम्बन्ध में विचार करता है और तत्पश्चात् वह निश्चित करता है कि उसे क्या करना है। मानख्मेर के समान ही स्यामी-चीनी भाषाओं में भी कर्ता, क्रिया, कर्म तथा संज्ञा के बाद विशेषण का प्रयोग होता है। किन्तु तिब्बती-बर्मी भाषाओं

में कर्ता, क्रिया, कर्म के बाद ही प्राय: विशेषण आता है और वहाँ संज्ञा के बाद विशेषण का प्रयोग आवश्यक नहीं है। फिर मानख्मेर तथा निकोबारी भाषाओं के समान ही ताई वर्ग की भाषाओं में सम्बन्धसूचक कारक संज्ञा के बाद आता है किन्तु तिब्बती, बर्मी एवं चीनी भाषाओं में यह संज्ञा के पूर्व आता है।

पिछले पृष्ठों में, मैंने तिब्बती-बर्मी तथा स्यामी-चीनी लोगों तथा उनकी भाषाओं के सम्बन्ध में, जहाँ तक हम लोगों को ऐतिहासिक युग से मालूम है, विचार किया है। अब मैं इन दो उपपरिवारों की भाषाओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालूँगा और इसके लिए तिब्बती-बर्मी से नहीं, वरन् स्यामी-चीनी से प्रारम्भ करना अत्यधिक सुविधा-जनक होगा। स्यामी-चीनी वर्ग भारत के लिए कम महत्त्वपूर्ण है। इस तरह तिब्बती-बर्मी वर्ग की भाषाओं के गहन वर्गीकरण पर विचार करने का मार्ग अधिक प्रशस्त हो जायगा।

पांचवां अध्याय

स्यामी-चीनी उपपरिवार

स्यामी-चीनी उपपरिवार में दो वर्ग हैं—चीनी (सिनिटिक) तथा ताई। इनमें से पहले वर्ग के अन्तर्गत, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है[1], करेन भाषाएँ आती हैं। इन दोनों में से किसी के सम्बन्ध में भी इस सर्वेक्षण में विचार नहीं किया गया है। चीनी कहीं भी ब्रिटिश भारत में नहीं बोली जाती, यद्यपि चीन के निवासी, भारत के

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
चीनी (सिनिटिक वर्ग)		१,२७,५२७
ताई समूह	४,२०५	९,२६,३३५
जोड़	४,२०५	१०,५३,८६२
चीनी सिनिटिक समूह		
चीनी	.	१,२७,५२७

प्रत्येक बड़े शहर में व्यापारी, बढ़ई, चमड़े, बेंत तथा इसी प्रकार के अन्य काम करने वालों के रूप में पाये जाते हैं। रंगून तथा अपर-बरमा में चीनी लोग पर्याप्त संख्या में हैं लेकिन ये सभी अस्थायी निवासी हैं। ये या तो समुद्र-मार्ग से आये हुए व्यापारी हैं या युन्नन से आये हुए अन्य लोग हैं।

ताई वर्ग

ताई जाति, अपनी विभिन्न शाखाओं के रूप में, हिन्द-चीनी प्रायद्वीप में, अन्य सभी जातियों की अपेक्षा विस्तृत भूभाग में बसी हुई है। निश्चित रूप से इनकी संख्या

१. देखो, पृष्ठ ७०

भारत में
स्यामी तथा चीनी भाषाओं के क्षेत्र

पैमाना— १ इंच = १२८ मील

0 १०० २०० ३००

मर्नीपुर

मांडले

मोगांग

चीनी शान

शान

दक्षिणी शान

स्यामी

अनाम
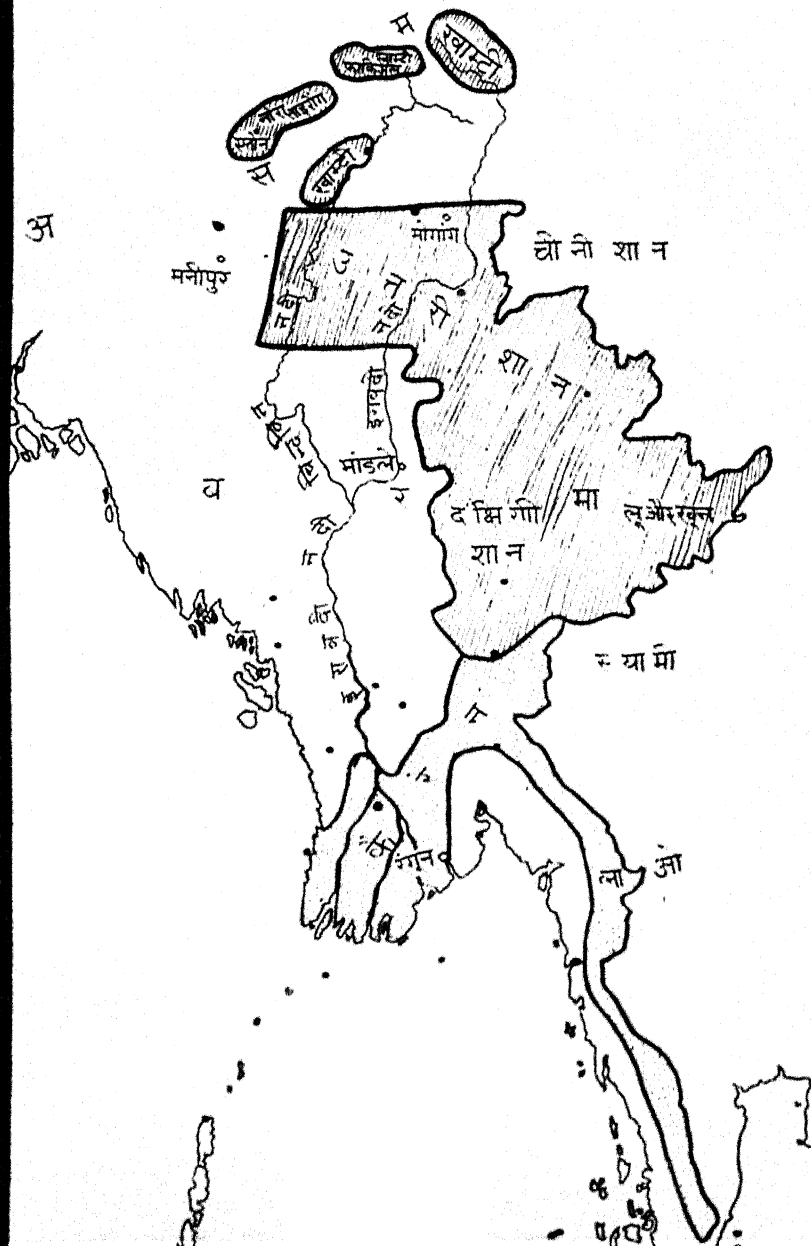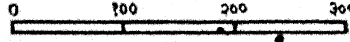
अधिक है। इसके सदस्य असम से लेकर दूरवर्ती चीनस्थित क्वांग-सी प्रदेश तक तथा बंकाक से लेकर युन्नन के भीतरी भागों तक बसे हुए हैं। युन्नन से दक्षिण हिन्द-चीन में, इनके देशान्तरगमन का इतिहास पहले संक्षिप्त रूप में बताया जा चुका है।[1] जिन विभिन्न जातियों से ताई जाति का निर्माण हुआ है, उनकी भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करना अभी शेष है।

जनगणना में ताई वर्ग की सात भाषाओं का उल्लेख किया गया है। ये हैं—स्यामी, लाओ, लू, खुन, डये, शान तथा खाम्टी। इनमें से केवल खाम्टी तथा शान की एक बोली ही इस सर्वेक्षण के क्षेत्र के भीतर आयी है। जनगणना में इनके बोलने वालों की संख्या दी गयी है। अहोम को छोड़कर, जो अब मृतभाषा हो गयी है, अन्य सभी भाषाएँ ब्रिटिश बर्मा में बोली जाती हैं। खाम्टी को छोड़कर अन्य छै बोलियाँ

ताई समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
स्यामी	..	८,७४४
लाओ	..	३,८५१
लू	..	२६,१०८
खुन	..	३३,२१०
डये	..	७४६
शान	२००	८,४३,८१०
आहोम	..	..
खाम्टी	४००५	९,८६६
जोड़	४२०५	९,२६,३३५

सात विभिन्न लिपियों में लिखी जाती हैं। इनकी अनेक उपबोलियाँ हैं। स्यामी लिपि, जिसका आविष्कार सन् ११२५ में हुआ था, अन्य लिपियों से बिलकुल भिन्न है। जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है, यह भाषा मुख्य रूप से बरमा के अमहर्स्ट तथा मरगुई जिलों में बोली जाती है।

१. देखो पृष्ठ ७९

लाओ

स्यामी बोली लाओ, स्याम तथा बरमा में विस्तृत रूप में बोली जाती है। इसके बोलनेवाले उस देश के सीमावर्ती अमहर्स्ट जिले में भी पाये जाते हैं। इसकी अलग वर्णमाला है और यह मोन वर्णमाला के आधार पर बनी है।

लू तथा खुन

लू तथा खुन की भी अपनी वर्णमालाएँ हैं। इनका लाओ से अति निकट का सम्बन्ध है। स्याम की सीमा के ठीक उत्तर से केंगटुंग शान राज्य में बोली जाती हैं। ये स्यामी तथा शान के बीच की बोलियाँ हैं। इसका उपयोग दक्षिणी शान राज्य की कुछ जनता करती है। इस बोली के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है।

शान

शान भाषा मुख्य रूप से सम्पूर्ण शान राज्य में बोली जाती है। इसके अन्तर्गत ब्रिटिश तथा चीनी, दोनों ही शान राज्य आ जाते हैं। उत्तर में यह सीमांत तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तक बोली जाती है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—उत्तरी, दक्षिणी तथा चीनी। अन्तिम बोली की लिपि तनिक भिन्न है। अन्य शान वर्णमालाओं की भाँति यह भी बर्मी-लिपि से ही ली गयी है। 'शान' अथवा 'सान' शब्द वस्तुतः 'श्याम' का बर्मी उच्चारण है। यही शुद्ध रूप है और यही 'असम' के 'सम' में भी वर्तमान है। चूँकि इस सर्वेक्षण में शान राज्य नहीं आता अतएव यहाँ इस वंश की केवल 'एटोन' बोली का नमूना ही दिया गया है। इसके बोलनेवालों की संख्या २०० के लगभग है और ये लोग बाहर से आकर असम में बस गये हैं। इनके सम्बन्ध में आगे पुनः विचार किया जायगा।

आहोम

सन् १२२८ ईसवी में, जब चीन में कुबलाई खाँन अपना शासन स्थापित कर रहा था, अहोम नाम की एक शान जाति आज के असम प्रदेश में प्रविष्ट हुई। यह जाति यहाँ बस गयी और अन्ततोगत्वा उसने इस प्रदेश का नाम 'अहोम' रख दिया। अहोम शब्द वस्तुतः आसाम (असम) का ही एक अन्य उच्चरित रूप है। धीरे-धीरे यह जाति शक्तिशाली होती गयी। सन् १५४० ईसवी में इसकी शक्ति चरम सीमा तक पहुँच गयी और इसने दीमापुर के कचारियों पर विजय प्राप्त की। इस विजय से इस जाति के लोग सम्पूर्ण असम घाटी के स्वामी हो गये और १७ वीं शताब्दी के अन्त तक ये

उत्साह तथा सफलतापूर्वक शासन करते रहे। इसी समय ये हिन्दू धर्म से प्रभावित हुए। इसके बाद ये अपना जातीय गौरव खो बैठे और इनके स्वभाव में भी परिवर्तन आ गया। 'अब ये बर्बर किन्तु शक्तिशाली क्षत्रिय होने के बजाय, ब्राह्मणों के सदृश हो गये जो केवल वाक्शूर होते हैं।' इनकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गयी और असम प्रदेश, जिसे सर्वप्रथम वर्मा के लोगों ने जीता था, अन्ततोगत्वा सन् १८२४ ईसवी में अंग्रेजों द्वारा अपने शासन में मिला लिया गया। अपने पतन के पूर्व से ही अहोम लोग इस हद तक हिन्दूधर्मवादी हो गये थे कि शताब्दियों से उनकी भाषा मृत हो गयी थी और अब इसके जाननेवाले केवल कतिपय ऐसे पुरोहित ही रह गये हैं जिनका आज भी अपनी पुरानी परम्पराओं के प्रति विश्वास है।

यह विचित्र बात है कि असम घाटी पर बहुत समय तक प्रभुत्व रखने पर भी आहोम लोगों ने यहाँ की भाषा को बहुत कम प्रभावित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी संख्या सदैव कम रही। चूंकि विभिन्न भाषाओं को बोलनेवाली जातियों पर उनका शासन था, अतएव शीघ्र ही उन्हें एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता महसूस हुई। यह अहोम अथवा असमिया में से कोई एक ही हो सकती थी। इनमें आर्यभाषा होने के कारण असमिया अधिक शक्तिशाली थी। इसके प्रचार में हिन्दू पुरोहित-वर्ग का भी अधिक हाथ था और इनका तत्कालीन शासकों पर बहुत प्रभाव था। केवल प्रभाव ही पर्याप्त नहीं हो सकता था क्योंकि आगे हम देखेंगे कि मनीपुर में जहाँ हिन्दू धर्म को उत्साह के साथ स्वीकार किया गया, वहाँ जनता ने किस प्रकार अपनी भाषा को कायम रखा, यद्यपि इस भाषा को लिखने के लिए ब्राह्मणों को एक नवीन लिपि का आविष्कार करना पड़ा। यद्यपि असम भाषा पर अहोम लोगों का बहुत कम प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तथापि यहाँ के साहित्य पर इनका प्रभाव स्पष्ट है। वर्तमान समय में प्रयुक्त अहोम शब्दों में से एक 'बुरंजी' शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'मूर्खों के लिए शिक्षा-कोष', किन्तु वास्तव में इसका इतिहास से तात्पर्य है। आज भी प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ 'बुरंजी' ही कहलाते हैं और असमिया साहित्य के लिए ये अभिमान की वस्तु हैं।[1]

जिस समय अलोम्फरा ने मोगांग पर कब्जा किया था, उस समय शान लोग अधिकांश संख्या में, उत्तर की ओर चले गये और चिन्दविन तथा इरावदी के ऊपरी

१. आहोम लोगों की 'बुरंजी' के सम्बन्ध में, देखो सर एडवर्ड गेट कृत हिस्ट्री आफ आसाम, पृष्ठ X तथा उसके आगे (द्वितीय संस्करण)

भाग के विभिन्न स्थानों में बस गये। इरावदी नदी के आस-पास के बृहत् खाम्टी प्रदेश में ये अधिक संख्या में बस गये थे। यहाँ से अपनी जाति के आहोम लोगों द्वारा आमंत्रित होकर ये लोग पूर्वी असम प्रदेश की ओर गये और अपने पूर्वागत भाई-बन्धुओं का यहाँ से उच्छेद कर दिया। यहाँ इन लोगों ने शान से किञ्चित भिन्न बोली को विकसित किया है और इनकी अपनी लिपि भी है।

खाम्टी

	सर्वेक्षण
खाम्टी	२,९३०
फाकिअल	६२५
ताइरांग	१५०
नोरा	३००
जोड़	४,००५

एतोन शान

इसके बाद अन्य शान जातियों के कुछ लोग असम प्रदेश में आये जो फाकिअल, ताईरांग (स्थानीय तुरुंग), नोरा तथा एतोन कहलाते हैं। इनमें से एतोन लोग तो आज भी बर्मी-शान भाषा बोलते हैं और बर्मी लिपि का ही प्रयोग करते हैं। ऐसे दो सौ लोगों की गणना इस सर्वेक्षण में की गयी है। ताई-रोंग लोगों को मार्ग में ही, काचिनों ने दास बना लिया था और अब ये सभी अपने मालिकों की भाषा सिंगफो का प्रयोग करते हैं। इनमें से कुछ लोग फाकिअलों तथा नोरा लोगों के साथ, शान की एक बोली का उपयोग करते हैं जो खाम्टी से यत्किंचित् भिन्न है।

छठाँ अध्याय

तिब्बती-बर्मी उपपरिवार

तिब्वती-वर्मी उपपरिवार की शाखाएँ

हम लोग यह देख चुके हैं कि तिब्वती-वर्मी लोग सर्वप्रथम दो शाखाओं में विभक्त हुए थे। इनमें से एक शाखा तिब्वत में साँपू के काँठे के उत्तर तथा पश्चिम की ओर तथा दूसरी हिमालय के उत्तर असम तथा वर्मा की ओर निवास करने के लिए चली गयी। प्राचीन काल में ही, इस प्रकार के विभाजन से हम स्वभावतः भाषाओं के पार्थक्य की भी आशा करते हैं और वास्तव में ऐसा हुआ भी। भाषाशास्त्रियों ने तिव्वती-बर्मी उपपरिवार को दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित किया है। ये हैं— तिब्वती-हिमालयवर्ती तथा असम-बर्मी अथवा लोहित। इनमें हम एक तृतीय प्रकीर्णक वर्ग को भी सम्मिलित कर रहे हैं। इसे सुविधा की दृष्टि से उत्तर-असम-शाखा

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
तिब्बती हिमालयन	३,९९,७४२	४,४०,२६३
उत्तरी असमिया	३६,९१०	८०,४८२
असम-बर्मी	१५,४३,६५५	१,१४,३८,२६६
जोड़	१९,८०,३०७	१,१९,५९,०११

के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जहाँ तक जानकारी है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तिम शाखा ऊपर की दोनों शाखाओं के बीच की है और इसका प्रयोग उस जाति के लोग करते हैं जिनके पूर्वज विभिन्न समयों में तिब्वती-बर्मी जाति के मूलस्थान से चलकर स्वतंत्र रूप में वहाँ आकर बस गये। आगे यहाँ सर्वेक्षण तथा सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार प्रत्येक शाखा के बोलनेवालों की संख्या का विवरण प्रस्तुत किया गया है। असम-बर्मी शाखा के बोलनेवालों

की जो संख्या सर्वेक्षण में दी गयी है, वह जनगणना की संख्या से बहुत कम है। इसका कारण यह है कि सर्वेक्षण में सम्पूर्ण असम-बर्मी क्षेत्र को नहीं लिया गया है। जनगणना में उत्तरी-असमिया बोलनेवालों की जो अधिक संख्या है, उसका कारण कुछ तो यह है कि कतिपय नवीन क्षेत्रों के सम्मिलित हो जाने से इस क्षेत्र का विस्तार अधिक हो गया है, किन्तु कुछ कारण यह भी है कि पहले की अपेक्षा अब लोग राजनीतिक मामलों में अधिक दिलचस्पी लेने लगे हैं।

तीनों शाखाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

तिब्बती-बर्मी भाषाओं का यह विभाजन उतना सरल नहीं है जितना मालूम पड़ रहा है। इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से इस सर्वेक्षण के तीसरे भाग के प्रथम खण्ड में विचार किया गया है। यहाँ पर व्यापक एवं यथासम्भव सुनिश्चित परिणामों को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा। तिब्बती-हिमालय-शाखा की उत्तर की सर्वाधिक प्रतिनिधि भाषा तिब्बती तथा असम-बर्मी शाखा की, दक्षिण की, सबसे प्रतिनिधि भाषा बर्मी है। इनके बीच में सभी अन्य तिब्बती-बर्मी भाषाएँ आती हैं। इन दोनों छोरों की भाषाएँ दो स्पष्ट भाषावार कड़ियों से मिली हुई हैं। पूर्वी कड़ी के अन्तर्गत काचिन तथा लोलो भाषाएँ आती हैं जो तिब्बती को बर्मी से प्रत्यक्ष रूप से मिलाती हैं। पश्चिमी कड़ी पहले, एक जोड़ कड़ियों के रूप में चलती है और दो विभिन्न क्षेत्रों की ओर विकसित होती है, लेकिन नीचे पहुँचकर अँग्रेजी के वाई (Y) अक्षर की भाँति ये दोनों कड़ियाँ मिल जाती हैं। यह संयुक्त कड़ी, तदनन्तर आगे चलकर पुनः बर्मी में समाप्त हो जाती है। इस वाई (Y) अक्षर का पूर्वी भाग भाषा के विविध स्वरूपों से प्रारम्भ होता है और इससे उत्तर असम शाखा का निर्माण होता है। यह भाग नागा पहाड़ियों की बोलियों से होता हुआ बोडो तथा कुकिचिन वर्ग की भाषाओं तक जाता है और यहाँ यह दूसरे पश्चिमी भाग से जा मिलता है। दूसरा भाग तिब्बत की उन बोलियों से प्रारम्भ होता है जिन्होंने उत्तर से हिमालय को पार कर पर्वतमाला के दक्षिणी भाग पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था। ये भी हमें बोडो तथा कुकिचिन तक ले जाती हैं। तत्पश्चात् संयुक्त पूर्वी तथा पश्चिमी भाग हमें काचिन तथा लोलो के समान बर्मी तक ले जाते हैं। इस तथ्य को मोटे तौर पर निम्नलिखित चित्र में प्रदर्शित किया गया है—
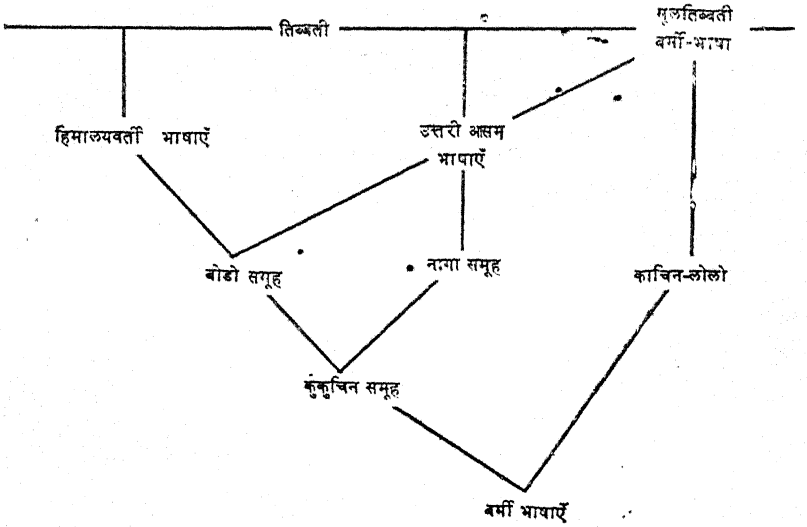
चित्र ८

जिन क्षेत्रों में इन वर्गों की भाषाएँ बोली जाती हैं वे इस अध्याय के प्रारम्भ में लगे मानचित्र में दिखाये गये हैं।

तिब्बती-हिमालयशाखा

तिव्वती-हिमालय-शाखा की भाषाएँ सरलता से तीन वर्गों के अन्तर्गत आ जाती हैं। प्रथम अथवा तिव्वती वर्ग के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिन्हें हम सामान्य रूप से, भारतीय नाम 'भोटिया' से पुकारते हैं और इनमें सबसे अधिक प्रतिनिधि तिव्वती अथवा तिव्वत की भोटिया भाषा है।

इस अन्तिम भाषा से हमारा कोई सम्वन्ध नहीं है क्योंकि सर्वेक्षण के अन्तर्गत मुख्य तिव्वत नहीं आया है, लेकिन सर्वेक्षण में भोटिया के अन्य रूपों को सम्मिलित किया गया है और इन्हें दूसरे दृष्टिकोण से, तिव्वत की वोलियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ये वोलियाँ वाल्टिस्तान तथा लदाख में बोली जाती हैं और इन्होंने हिमालय को पार कर लाहुल, स्पिटी, कनावर, गढ़वाल, कुमायूँ, नेपाल, सिकिम तथा भूटान में प्रवेश किया है। मुख्य तिव्वती भाषा में पुराने प्रत्यय समाप्त हो गये हैं और उसमें सुर (tones) आ गये हैं, लेकिन ज्यों ही, हम पश्चिम दिशा में लदाख तथा वाल्टिस्तान की ओर बढ़ते हैं, त्यों ही हमें भाषा में, अत्यधिक मात्रा में प्रत्यय

मिलने लगते हैं और इसके परिणामस्वरूप, भाषा में पूर्णरूप से सुर का अभाव हो जाता है। परिनिष्ठित तिब्बती भाषा का साहित्य समृद्ध है, किन्तु अन्य बोलियाँ प्रायः विकृत हैं और इनमें लिखित सामग्री का सर्वथा अभाव है।

तिब्बती-हिमालय शाखा

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
तिब्बती वर्ग	२,०५,५०८	२,३१,८८५
असर्वनामीय हिमालयशाखा	१,००,२५६	१,००,५३७
सर्वनामीय हिमालय वर्ग	९३,९३८	१,०७,८४१
योग	३,९९,३६२	४,४०,२६३

तिब्बती वर्ग

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
तिब्बती	७,९६८	८,९९५
बाल्ती तथा पुरिक	१,३०,६३८	१,४८,३६६
लदाखी	२९,८०६	३३,३०२
दां-जोंगका	२०,०००	१०,०९६
ल्होके	५,०३९	१०,५२६
अन्य	११,९३३	२०,६५०
योग	२,०५,५०८	२,३१,८८५

परिनिष्ठित तिब्बती बोलनेवाले कुछ लोग ब्रिटिश भारत में भी मिलते हैं किन्तु यह संयोग की बात है। यहाँ तिब्बती भाषा के सम्बन्ध में अधिक विचार करना अनावश्यक है। तो भी भाषा-शास्त्र तथा साहित्य की दृष्टि से यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और यद्यपि भारत में इसके बोलनेवालों की संख्या बहुत कम है, फिर

भी इस देश से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत से ही तिब्बत को बौद्धधर्म तथा धार्मिक ग्रंथ प्राप्त हुए। स्वतः तिब्बती लिपि का उद्भव भी भारतीय लिपि से ही हुआ है और इसका प्राचीन साहित्य, जो सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है, मुख्य रूप से भारतीय ग्रंथों का अनुवाद है। इन अनूदित पुस्तकों में से अधिकांश के मूल भारत में उपलब्ध नहीं हैं। इन अनुवादों की बदौलत ही साधारण तिब्बती भाषा समृद्धिशाली साहित्यिक भाषा के रूप में परिणत हो गयी और इसमें इतनी शक्ति आ गयी कि इसमें मूल संस्कृत का वैभव शाब्दिक अनुवाद के रूप में ठीक ठीक आ गया।[१]

परिनिष्ठित तिब्बती, मध्यवर्ती तिब्बत के 'यू' तथा 'सांग' प्रदेशों में बोली जाती है। इस देश के अन्य भागों में बोली जानेवाली अनेक बोलियों का उल्लेख इस सर्वेक्षण के तीसरे भाग के प्रथम खण्ड में किया गया है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इसके पूर्वी तथा पश्चिमी, इन दो समूहों की बोलियों पर विचार करना ही पर्याप्त होगा।

ल्होके, डां-जोंगका, शर्पा, कागते, लदाखी

पूर्वी के अन्तर्गत ल्होके, डां-जोंगका, शर्पा तथा कागते एवं कतिपय छोटी-मोटी बोलियाँ आती हैं इनमें से ल्होके भूटान, डां-जोंगका सिक्किम, शर्पा एवं कागते नेपाल तथा अन्य छोटी-मोटी बोलियाँ कुमायूँ तथा गढ़वाल में बोली जाती हैं। लदाख तथा वाल्टिस्तान में पश्चिमी समूह की बोलियाँ प्रचलित हैं। लदाखी का पर्याप्त रूप से अध्ययन हो चुका है और इसका एक शब्द-कोष भी है। श्री फ्राँके तथा लेह में रहनेवाले अन्य ईसाई धर्मप्रचारकों ने इसमें कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

बाल्ती

बाल्ती की अपनी विचित्र लिपि है किन्तु अब इसका प्रयोग नहीं होता। इसमें कतिपय ऐतिहासिक पुस्तकें भी हैं किन्तु इसे साहित्यवाली भाषा नहीं कहा जा सकता। वर्तमान समय में यहाँ इस्लाम-धर्म माननेवालों का निवास होने के कारण यह भाषा भी फारसी लिपि में ही लिखी जाती है। इसी लिपि में बाइबिल का अनुवाद उपलब्ध है। कतिपय अन्य ईसाई धर्मसम्बन्धी पुस्तिकाओं का प्रकाशन भी यहाँ की आधुनिक भाषा में हुआ है।

१. देखो, जाइच्केकृत 'तिब्बतन् डिक्शनरी' की भूमिका, पृ० ४

पुरिक

बाल्ती से सटा हुआ, पूर्व में, इसके तथा लद्दाखी के बीच में पुरिक का क्षेत्र है। बाल्ती तथा पुरिक में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आंकड़ों की दृष्टि से इन दोनों को एक माना गया है और इनके बोलनेवालों की संख्या भी संयुक्त दी गयी है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, बाल्ती तथा लद्दाखी में वे पुराने प्रत्यय सुरक्षित हैं जो अब परिनिष्ठित तिब्बती से लुप्त हो चुके हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन दोनों बोलियों में सुर (tones) का विकास नहीं हो पाया है।

हिमालयवर्ती बोलियाँ

उपर्युक्त बोलियाँ तिब्बती-बर्मी भाषा-समूह की उन बोलियों के रूप हैं जिन्हें तिब्बती अथवा तिब्बत की भोटिया बोलियों के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें से कई बोलियाँ हिमालय के पार अब विस्तृत पर्वतमाला के दक्षिण भाग में बोली जाती हैं। ये बोलियाँ इधर अपेक्षाकृत बाद में आयी होंगी क्योंकि इनके बोलनेवाले आज भी इनका सम्बन्ध तिब्बती से बतलाते हैं। लेकिन इसी उप-परिवार की कतिपय ऐसी पुरानी भाषाएँ भी हैं जिन्होंने तिब्बती भाषा के वर्तमान रूप में प्रतिष्ठित होने के पूर्व ही उत्तर की ओर से हिमालय को पार किया होगा। इन भाषाओं का, जहाँ कि ये आधुनिक युग में प्रतिष्ठित हैं, पृथक् इतिहास भी है। यह तिब्बती से सर्वथा स्वतंत्र है। इन भाषाओं का विकासक्रम भी तिब्बती से भिन्न है, यद्यपि इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तिब्बती से इनका बहुत पुराना सम्बन्ध है। ये भाषाएँ 'हिमालयवर्ती तिब्बती-बर्मी भाषाएँ' कहलाती हैं और इनकी सामान्य विशेषताओं का प्रो० कोनो ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है।[1]

"ये भाषाएँ सम्यक् रूप से तिब्बती-बर्मी हैं, यद्यपि इनमें से अनेक भाषाओं में हम कई ऐसी विशेषताएँ पा सकते हैं जो तिब्बती-बर्मी भाषाओं के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। यहाँ सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं को अभिहित करनेवाले शब्दों में स्पष्ट रूप से भेद है। बड़ी संख्याओं की गणना यहाँ तिब्बती, बर्मी, चीनी, स्यामी आदि की भाँति दाशमिक पद्धति से नहीं होती अपितु बीस-बीस के हिसाब से होती है। पुरुषवाचक सर्वनाम के बहुवचन के साधारण रूपों के साथ-साथ, इन भाषाओं में, द्विवचन के रूप भी मिलते हैं। उत्तमपुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के यहाँ दो-दो रूप मिलते

१. खं० ३ भा० १ पृ० १७९ यत्किंचित् परिवर्तन के साथ

हैं। एक प्रकार के रूप में बोलनेवाला सम्मिलित नहीं होता, किन्तु दूसरे प्रकार के रूप में वह भी सम्मिलित रहता है। अनेक बोलियों में, कर्त्तारूप में, उत्तम, मध्यम तथा अन्यपुरुष का पता, क्रियापदों में अन्तर्भुक्त सर्वनामीय प्रत्ययों से चलता है। ऐसे क्रियापदों के नियमित रूप भी चलते हैं।"

इन विशेषताओं के साथ ऊपर की बोलियों ने अपने विकास के लिए पृथक् मार्ग का अनुसरण किया है और इनके विकास के सिद्धान्त तिब्बती-बर्मी तथा तिब्बती-चीनी भाषाओं के सिद्धान्त से भिन्न हैं। यही कारण है कि इन भाषाओं की पूरी रूपरेखा ही बदल गयी है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इस अवस्था का कारण यह है कि प्राचीन काल में यहाँ भिन्न भाषा बोलनेवाले लोग रहे होंगे और उनकी भाषा का प्रभाव आज की इन भाषाओं एवं बोलियों पर पड़ा होगा। प्राचीन काल के आदिवासी लोग किसी अन्य परिवार की भाषा बोलते होंगे और यहाँ बाद में बसने-वाले लोगों की भाषा में जो परिवर्तन हुए उसका कारण यह होगा कि इनकी भाषा पर आदिवासियों की भाषा का प्रभाव पड़ा होगा और प्राचीन भाषा के नियम एवं सिद्धान्त इन नवीन भाषाओं पर आरोपित हो गये होंगे। विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिमालयवर्ती भाषाएँ जिन बातों में तिब्बती-बर्मी भाषाओं से भिन्न हैं उन बातों में ये मुण्डा भाषाओं से पूर्ण साम्य रखती हैं। अतएव इस बात की सम्भावना प्रतीत होती है कि प्राचीन काल में मुण्डा अथवा उसी से सम्बन्धित कोई अन्य जाति हिमालयप्रदेश में रहती थी और आज यहाँ जो भाषाएँ बोली जाती हैं उन पर उनकी भाषा की छाप है।

ऊपर की गैरतिब्बती-बर्मी विशेषताएँ एक ही अथवा एक ही प्रकार की भाषाओं में नहीं मिलतीं और कतिपय बोलियों में तो इनका सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर, इनमें से कतिपय विशेषताएँ, जैसे उत्तमपुरुष सर्वनाम के बहुबचन के दो रूप, जिनमें से एक वक्तासहित तथा दूसरा वक्तारहित होता है, इस क्षेत्र से बहुत आगे, पश्चिमी तिब्बत की बोलियों तक में मिलती हैं। यदि हम क्रियारूपों को लें तो तिब्बती-बर्मी भाषाओं की मुख्य विशेषता, जिसके कारण हाग्सन ने उन्हें सर्वनामीय एवं असर्वनामीय भाषाओं के रूप में वर्गीकृत किया है,[1] हिमालयवर्ती सभी बोलियों में उपलब्ध होती है। आगे हम हिमालयवर्ती बोलियों के सम्बन्ध में असर्वनामीय एवं सर्वनामीय, इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे।

१. एस्से रिलेटिंग् टु इंडियन सबजेक्ट्स् खं० १, पृ० १०५

सर्वनामीय भाषाओं को भी दो उप-समूहों में विभाजित किया जायगा। इनमें से एक उप-समूह के अन्तर्गत नेपाल की घाटी के पूर्व में बोली जानेवाली अनेक बोलियाँ होंगी तथा दूसरे उप-समूह में वे बोलियाँ होंगी जो कुमायूं तथा उसके और आगे पश्चिम में प्रचलित है।

असर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएं

असर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएं मध्य तथा पूर्वी नेपाल और उसके आगे पूर्व में सिक्किम तथा भूटान में प्रचलित है। चूंकि इनमें से अधिकांश बोलियाँ नेपाल में प्रचलित हैं अतः नीचे जो आंकड़े दिये गये हैं, वे अपूर्ण हैं। इन आंकड़ों में केवल गोरखा सिपाहियों तथा उन नेपालियों की संख्या ही सम्मिलित है जो दार्जिलिंग में आकर बस

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
गुरुंग	..	५,२११
मुर्मि	३६,८८८	३८,५१२
सुन्वार	५,३५६	८,१३२
मंगरी	१६,९७९	२०,५३६
नेवारी	५,९७९	१०,१३४
रोंग या लेप्चा	३४,८९४	२०,५६९
अन्य	७००	१,८४३

गये हैं। इन बोलियों के अधिकांश बोलनेवाले नेपाल में रहते हैं और उनकी संख्या इन आँकड़ों में सम्मिलित नहीं है। दूसरी ओर नेपाल सरकार की कृपा से इन भाषाओं एवं बोलियों में से अधिकांश के नमूने पूर्णरूप में उपलब्ध हैं। यही कारण है कि इन भाषाओं के यहाँ सुन्दर विवरण दिये जा सके हैं, यद्यपि इनके बोलनेवालों की संख्या अज्ञात है।

इन भाषाओं पर मुण्डा जैसी प्राचीन भाषाओं का उतना अधिक प्रभाव नहीं है जितना सर्वनामीय समूह की भाषाओं पर है। फिर भी इन पर मुण्डा भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके पूर्व में बोली जानेवाली तिब्बती एवं बोडो भाषाओं का इन पर जैसे-जैसे प्रभाव पड़ता गया वैसे-वैसे मुण्डा का प्रभाव कम होता गया। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सुन्वार भाषा है। हाग्सन ने जिस समय

इसके सम्बन्ध में लिखा था, उस समय यह सर्वनामीय भाषा थी किन्तु सर्वेक्षण के लिए इधर इसके जो नमूने प्राप्त हुए हैं, उन पर यदि विश्वास किया जाय तो अब यह सर्वनामीय भाषा नहीं रह गयी है। हाग्सन ने अपना निबन्ध सन् १८४७ में लिखा था। उस समय यह सर्वनामीय भाषा थी। इसके लगभग पचास वर्ष बाद यह सर्वेक्षण हुआ। इन पचास वर्षों में ही सुन्वार में यह परिवर्तन हो गया।

यह बात हमें भली भाँति ज्ञात है कि तिब्बती-बर्मी भाषाओं में साहित्य का अभाव है और इस कारण अत्यधिक शीघ्रगति से इनमें परिवर्तन हुआ है। अतएव सुन्वार में थोड़े समय में ही जो परिवर्तन हुआ है उसके कारण हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि आज से दो-तीन शताब्दी पूर्व इन भाषाओं में मुण्डा भाषाओं की विशेषताएँ आज की अपेक्षा अधिक मात्रा में वर्तमान थीं। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि यह सर्वनामीय भाषाएँ बोडोसमूह की भाषाओं से जोड़नेवाली कड़ियाँ हैं। यह बात हमें स्पष्टतया ज्ञात नहीं है कि ये विशेषताएँ इन भाषाओं में नैसर्गिक विकास के फलस्वरूप आयी हैं अथवा इन्होंने उन्हें पड़ोस की भाषाओं से ग्रहण किया है। चाहे जो कुछ हो, इन्हीं जोड़नेवाली कड़ियों ने हिमालयवर्ती भाषाओं को Y अक्षर के, जिसकी चर्चा गत पृष्ठों पर की जा चुकी है, पश्चिमी भाग से मिलाया है।

गुरुंग, मूर्मि, सुन्वार, मंगरी तथा नेवारी बोलियाँ मुख्यतः नेपाल में बोली जाती हैं। इस सर्वे के लिए जो नमूने लिये गये वे दार्जिलिंग तथा पड़ोस में बसे हुए इन भाषाओं के बोलनेवालों से ही उपलब्ध हुए। नेपाल से आकर ये लोग दार्जिलिंग तथा उसके पड़ोस में बस गये हैं। अन्यत्र, ब्रिटिश-भारत में इन भाषाओं के बोलनेवाले मुख्य रूप से गोरखा रेजिमेण्ट में मिलते हैं। इनमें से केवल नेवारी भाषा में कुछ साहित्य है। गोरखा लोगों के आक्रमण से पूर्व नेपाल में नेवार लोगों का ही शासन था। इस जाति का नाम नेवार भी नेपाल का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार सन् १७६९ में नेवार वंश के उच्छेद तक नेवारी नेपाल की राज्यभाषा थी। नेपाल में बौद्ध धर्म का प्रवेश बहुत पहले हुआ था और यद्यपि बौद्ध धर्म के साथ ही साथ पवित्र ग्रन्थों के प्रणयन के लिए संस्कृत का भी प्रवेश हुआ तथापि नेवारी का भी साहित्य में प्रवेश प्राचीन काल में ही हुआ। नेवारी में लिखित पुस्तकें प्रायः नेपाल में प्रचलित बौद्ध धर्मसम्बन्धी ग्रन्थों के अनुवाद तथा भाष्य हैं किन्तु १४वीं शताब्दी से नेवारी में शिलालेख भी लिखे जाने लगे। नेवारी में कोष, व्याकरण तथा नाटक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। नाटकों में तो रंगमंचसम्बन्धी निर्देश भी हैं। नेवारी की प्राचीनतम पुस्तक १४वीं शताब्दी में लिखी गयी। यह सन् १०५६ से सन् १३८८ तक नेपाल की मुख्य ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में है। नेवारी की अपनी लिपि

है। इसका यत्किंचित् अध्ययन जर्मन तथा रूसी विद्वानों ने किया था। केवल हाग्सन ही एक ऐसे अंग्रेज थे जिन्होंने इसकी परीक्षा की थी और उन्होंने भी इसका विशेष अध्ययन नहीं किया था।

इस समूह की दूसरी दिलचस्प भाषा रोंग है। नेपाली लोग इसे लेप्चा कहते हैं। यह सिक्किम की मुख्य भाषा है। इसकी अपनी लिपि है और इसमें लिखित साहित्य भी उपलब्ध है जिसका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है। चूंकि यह दार्जिलिंग के निकट की बोली है अतएव इसने अंग्रेज विद्वानों का भी ध्यान आकर्षित किया है। यूरोपीय आदर्श पर इसके व्याकरण और कोष की रचना भी हुई है।

सर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएं

सर्वनामीय समूह की भाषाओं पर प्राचीन मुण्डा भाषाओं का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। इस समूह की सभी भाषाओं में कर्ता तथा कभी-कभी मुख्य और गौण कर्म को प्रदर्शित करने के लिए इसके क्रियापदों में व्यक्तिवाचक सर्वनाम के लघुरूपों को संयुक्त करने की पद्धति है। जब कभी लिम्बु भाषा-भाषी यह कहना चाहता है कि "मैं उसे मारता हूँ" तो वह "मैं" तथा "उसे" को प्रत्ययरूप में क्रियापद से संयुक्त कर देता है। इस भाषा में 'मारना' के लिए 'हिप्', 'उसे' के लिए 'तु' तथा 'मैं' के लिए 'न्ग्' का प्रयोग होता है। इस प्रकार "मैं उसे मारता हूँ" के लिए इस भाषा में "हिप्तुंग" कहा जायगा। यह पृष्ठ ६७ पर दिये गये ठीक संथाली के उदाहरण के समान है। इस समूह की कतिपय भाषाओं ने तो बीस के हिसाब से गणना करने की मुण्डा पद्धति को भी अपनाया है। केवल दो भाषाएं ऐसी हैं जिनमें दस-दस करके गणना करने की तिब्बती पद्धति प्रचलित है; किन्तु अन्य भाषाओं ने तो भारतीय आर्यभाषा के अंकों को अपनाकर भाषाशास्त्रियों को चक्कर में डाल दिया है। तिब्बती तथा उससे सम्बन्धित भाषाओं में, सर्वनामों को व्यक्त करने की पद्धति जटिल है। यहाँ सर्वनामों के रूप, पद तथा मर्यादानुसार होते हैं और प्रत्येक रूप नम्रता के विभिन्न स्तरों को द्योतित करता है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कतिपय पूर्वीय भाषाओं में "अहंकारयुक्त "मैं" के स्थान पर "विनीत दास" का प्रयोग होता है। परन्तु इन सर्वनामीय भाषाओं में, यद्यपि सर्वनामों के अनेक रूप मिलते हैं तथापि इनके आधार सर्वथा भिन्न हैं। ठीक मुण्डा की भाँति ही यहाँ प्रत्येक (उत्तम, मध्यम तथा अन्य) पुरुष में एक, द्वि तथा बहुवचन के अलग-अलग रूप मिलते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ "मैं" तथा "तू" और "मैं" तथा "वह" के द्विवचन के रूप भिन्न होते हैं और इसी प्रकार "मैं" तथा "तुम" एवं "मैं" और "वे" के बहुवचन के रूप भी अलग-अलग होते हैं। पश्चिम की

कतिपय बोलियों में तो ऐसा प्रतीत होता है मानो मुण्डा से शब्द तक उधार ले लिये गये हैं और अन्तिम व्यञ्जनों के उच्चारण में यहाँ मुण्डा तथा मानख्मेर उच्चारण के अवशेष उपलब्ध होते हैं। इस उच्चारण के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठ ६७ तथा ८७ में लिखा जा चुका है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये सर्वनामीय भाषाएँ दो समूहों में विभक्त हैं। इनमें से एक पूर्वी तथा दूसरा पश्चिमी समूह है। इनके सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है, उससे विदित होता है कि ये दोनों समूह एक-दूसरे से, अपेक्षाकृत बहुत दूर पर स्थित हैं। पूर्वी समूह का क्षेत्र पूर्वी नेपाल एवं उसके पड़ोस का प्रदेश है। इस पड़ोसी प्रदेश को 'किरान्त' नाम से अभिहित किया जाता है।[1] यही कारण है कि हाग्सन ने इनका नामकरण "किरान्ती बोलियाँ" किया है। इस प्रदेश में किरान्त लोग ही रहते हैं और उनमें से कुछ लोगों की ही संख्या ज्ञात है। यह संख्या भी उन लोगों की है जो दार्जिलिंग

पूर्वी सर्वनामीय समूह

धीमाली	राइ या जिम्दार
थामी	वायु
लिम्बू	छेपांग
याखा	कुसूण्ड
खम्बू	थ्रामु
[१६ बोलियों सहित]	थाक्स्य

तथा उसके आस-पास बस गये हैं। इस प्रकार इन बोलियों के बोलनेवालों की संख्या ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। यही कारण है कि ऊपर की सूची में इनका नाम तो दिया गया है किन्तु इनके बोलनेवालों की संख्या नहीं दी गयी है। जो लोग संख्या जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं, वे इस सर्वेक्षण का परिशिष्ट १ देख सकते हैं। वहाँ भी जो संख्या दी गयी हैं वे अपूर्ण ही हैं। इन बोलियों में से कुछ का तो हाग्सन ने अति संक्षिप्त परिचय दिया है किन्तु अन्य बोलियों, विशेषतया धीमाल, वाहिंग (खम्बू बोलियों में से एक) एवं वायु का काफी परिचय दिया है। लिम्बू का तो कर्नल

१. यह नाम संस्कृत साहित्य के कल्पित किरात लोगों का स्मरण दिलाता है। इसी प्रकार याखा नाम से यक्षों का स्मरण हो आता है।

सीनियर ने आधुनिक ढंग का पूर्ण व्याकरण लिखा है, किन्तु अन्य बोलियों के सम्बन्ध में हाग्सन द्वारा संग्रहीत तथा इस सर्वेक्षण में दी हुई सामग्री के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं है।

सर्वनामीय वर्ग के पश्चिमी समूह की भाषाओं के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अधिक है क्योंकि ये सभी ब्रिटिश भारत में बोली जाती हैं। इनमें मुण्डा भाषाओं की वे सभी विशेषताएं वर्तमान हैं जो पूर्वी समूह में उपलब्ध हैं। इधर कनौरी तथा उसकी पड़ोसी बोलियों में अन्तिम व्यञ्जन को रोककर बोला जाता है। इसका उल्लेख

पश्चिमी सर्वनामीय हिमालयवर्ती समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
मंचाटी	२,९९५	..
चम्ब लाहुली	१,३८७	..
बुनन तथा रांगोली	२,९८७	..
कनाशी	९८०	५३९
कनौरी	१३,०९९	२२,०९८
रंगूकस	६१४	..
दरमिया	१,३६१	७
चौडांग्सी	१,४८५	..
ब्यांग्सी	१,५८५	..
जंग्ली	२००	८९
योग	२७,०९३	२२,७३३[1]

पहले भी किया जा चुका है। इन भाषाओं में कनौरी सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसे कनावरी भी कहते हैं और यह शिमला के उत्तर-पूर्व में, साठ या सत्तर मील की दूरी पर कनावर प्रदेश में बोली जाती है। इसका थोड़ा-बहुत अध्ययन हुआ है और इसके व्याकरण

१. इन भाषाओं की जनगणनासम्बन्धी संख्या अपूर्ण है, बहुत सम्भव है कि ये लोग तिब्बती समझ लिये गये हों और उन्हीं के साथ इनकी गणना भी हुई हो।

एवं शब्दसमूह का अध्ययन यूरोपीय विद्वानों एवं उनके प्रोत्साहन से अन्य लोगों ने किया है। बाइबिल का कुछ भाग भी इसमें अनूदित हुआ है। कनाशी विचित्र एकान्तिक भाषा है। यह कनौरी के उत्तर-पश्चित में, कुल्लू घाटी के एक दर्रे की बोली है। यह कई बातों में कनौरी के समान है। चारों ओर आर्यपरिवार की कुल्लुई भाषा से घिरे रहने के कारण इसमें कुल्लुई के अनेक शब्द आ गये हैं किन्तु कनौरी से इसका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। मंचाटी, चम्ब लाहुली, बुनन तथा रंगोली बोलियाँ और आगे उत्तर-पश्चिम में लाहुल, चम्बा तथा काँगड़ा के पर्वतीय प्रदेशों में बोली जाती हैं। लदाखस्थित मिशनरियों ने इनका अध्ययन किया है और मंचाटी तथा बुनन में बाइबिल का अनुवाद भी मिलता है। इस समूह की अन्य भाषाएँ कुमायूं के उत्तर की पर्वतश्रेणी में, पूर्व की ओर बहुत दूर तक बोली जाती हैं। सर्वेक्षण में जो कुछ दिया गया है उसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है और सर्वेक्षण की सामग्री अल्प ही है; किन्तु केवल एक अपवाद को छोड़कर यह सामग्री यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि ये भाषाएँ इसी समूह की हैं। यह अपवाद जंगली बोली है और इस बोली के नमूने प्राप्त करने में सर्वेक्षण को सफलता नहीं मिल सकी है। इसके नाम से ही इसके बोलनेवालों के जंगलीपन का ज्ञान हो जाता है। इसके सम्बन्ध में, निश्चयपूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह बोली तिब्बती-बर्मी उपपरिवार की है। यहाँ अन्य भाषाओं के साथ इसका वर्गीकरण केवल उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण ही किया गया है।

ऊपर के उल्लेखों के साथ-साथ हिमालयवर्ती तिब्बती-बर्मी शाखा की बोलियों का हमारा सर्वेक्षण समाप्त हो जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन भाषाओं एवं बोलियों पर प्राचीन मुण्डा का प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके कारण ही लाहुल, चम्बा तथा कनावर की बोलियों का मध्य भारत की मुण्डा भाषाओं से एवं उनके द्वारा असम प्रदेश की खासी तथा भारत के बाहर की मानख्मेर भाषाओं से सम्बन्ध स्थापित होता है। अन्तिम भाषाओं का सम्बन्ध हमें हिन्द एशिया तथा पॉलिनेशिया होते हुए हमें ईस्टर द्वीप तक ले जाता है। मोटे तौर पर हम आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं को ८०° पूर्व देशान्तर से ११०° पश्चिम देशान्तर तक फैली हुई पाते हैं। इस प्रकार इनके विस्तार का योग १७०° है जो संसार का आधा है। केवल भारोपीय परिवार की भाषाओं को छोड़कर (जिनका आजकल यूरोप से अमेरिका तक प्रसार है) पृथ्वी की अन्य परिवार की भाषाओं की अपेक्षा इस परिवार की भाषाएँ अधिक क्षेत्र-व्यापी हैं।

उत्तरी असमियाँ शाखा

तिब्बती-बर्मी जातियों के निष्क्रमण की गति-विधि पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि सांपू नदी के साथ तिब्बत में प्रवेश करने के उपरान्त इस जाति के कुछ लोग हिमालय को पार कर उसके दक्षिण ढाल की ओर चले गये। इनमें से सबसे अधिक पूर्व की ओर जानेवालों में भूटान तथा टोआंग के निवासी हैं। इनके पूर्व में टोआंग से लेकर असम प्रदेश के सबसे पूर्वी कोने तक तथा उसके भी और आगे ब्रह्मपुत्र के उत्तर के पहाड़ों में चार जातियाँ निवास करती हैं जिनकी भाषाओं का ठीक-ठीक वर्गीकरण संदिग्ध है। पश्चिम से पूर्व की ओर बसी हुई क्रमशः ये जातियाँ

उत्तरी असमियाँ शाखा

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
अक या ह्रुस्सो	२०	३१
अबोर	१७०	१३,३१७
मिरी	३५,५१०	६५,२८९
डफ्ला	९९०	९५९
मिश्मी	२२०	८४६
योग	३६,९१०	८०,४८२

अक, अंगक या ह्रुस्सो, डफ्ला, अबोर-मिरी तथा मिश्मी हैं। इनमें से अधिकांश ब्रिटिश क्षेत्र के बाहर निवास करती हैं, अतएव इनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपूर्ण है और ऊपर की सूची में उनके बोलनेवालों की जो संख्या दी गयी है वह ठीक नहीं है, अपितु यह केवल उन लोगों की है जो ब्रिटिश क्षेत्र में बसे हुए हैं।

अक

अक या अंक लोग, जैसा कि उनके पड़ोसी उन्हें कहते हैं अथवा ह्रुस्सो जैसा कि वे अपने आपको कहते हैं, दरंग के उत्तर के पहाड़ों में, तोवंग और असम के बीच के एक कोने में मिलते हैं। उत्तरी असम की भाषाओं में से, इनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यल्प है। सर्वेक्षण के लिए इस सम्बन्ध में अधिक सामग्री प्राप्त करने के लिए उद्योग किया गया, किन्तु इस विषय में अक जाति के मुखिया ने, जो हमारी सहायता

के लिए आया था, भाषा-ज्ञान देने की अपेक्षा अपने पर्वत को उससे स्वतंत्र रखना ही श्रेयस्कर समझा। वह कार्य-सम्पन्न होने के पूर्व ही गायब हो-गया और इस प्रकार इस सम्बन्ध का हमारा ज्ञान अधूरा रह गया। सन् १८४१ ई० में इसके शब्दों की एक संक्षिप्त सूची श्री राबिन्सन ने उपस्थित की। तदुपरान्त सन् १८६८ तथा सन् १८९६ ई० में श्री हेस्सलमेयर तथा श्री जे० डी० एंडर्सन ने बड़ी एवं पूर्ण शब्दसूचियाँ उपस्थित कीं।[1] बाद की दो सूचियों से पहली सूची सर्वथा भिन्न है। पहली सूची में भ्रष्ट डफ्ला भाषा के ही शब्द आये हैं। हेस्सलमेयर तथा एंडर्सन की अक भाषा निश्चय रूप से तिब्बती-बर्मी है किन्तु उसके ध्वनिसम्बन्धी नियम विचित्र हैं तथा इस शाखा की अन्य भाषाओं से वे अत्यधिक भिन्न हैं। इसके संख्यावाची तथा सर्वनाम शब्दों तक के भी विशेष रूप मिलते हैं किन्तु दूसरी ओर इसके शब्द-समूह का डफ्ला से सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। इस सम्बन्ध का कारण उधार लिये हुए शब्द नहीं प्रतीत होता।

डफ्ला

इन जातियों या डफ्ला लोगों में से बहुत कम ब्रिटिश राज्य के निवासी हैं। अक लोगों के पूर्व में डफ्ला लोग, उनके पूर्व में मिरी लोग और उनके पूर्व में दिहंग नदी के दोनों किनारों पर अबोर लोग रहते हैं।

अबोर-मिरी

यत्किंचित् विभिन्नता के साथ मिरी तथा अबोर लोग एक ही भाषा बोलते हैं और इस भाषा का डफ्ला से अति निकट का सम्बन्ध है। अबोर-मिरी तथा डफ्ला के सम्बन्ध में हमारी पूरी जानकारी है। गत शताब्दी के मध्य भाग में राबिन्सन ने इन दोनों का व्याकरण लिखा था और इनके सम्बन्ध में यदि साधारण उल्लेखों को छोड़ भी दें तो इसके बाद श्री नीडहम ने व्याकरण लिखा था तथा श्री जे० एच० लॉरेन ने पहली भाषा का कोष और श्री हैमिल्टन ने दूसरी का व्याकरण लिखा। हम यह देख चुके हैं कि अक तथा डफ्ला भाषाओं के शब्दसमूहों में पारस्परिक सम्बन्ध है और इस शृंखला के दूसरे छोर पर अबोर का अपनी निकट की भाषा मिश्मी से सम्बन्ध है।

१. सर जार्ज कैम्पबेल ने १८७४ में अक भाषा की शब्दसूची प्रकाशित की थी, इसमें पुनः अन्तर मिलता है।

मिश्मी चुलिकता

मिश्मी लोग सदिया पर्वत के उत्तर में निवास करते हैं। ये चार कबीलों में विभक्त हैं तथा तीन सर्वथा विभिन्न बोलियाँ बोलते हैं। इनमें से सबसे पश्चिम के निवासी मिदु (अथवा राबिन्सन के अनुसार मेदु) या चुलिकता मिश्मी लोग हैं जो दिहंग नदी के कांठे में तथा उससे लगे हुए पर्वत में बस गये हैं। इनके पूर्व में मिथुन या बेबेजिया (बहिष्कृत) मिश्मी लोग रहते हैं। ये लोग एक ही भाषा या बोली बोलते हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यल्प है। मुर कैम्पबेल-द्वारा संगृहीत इनकी शब्दावली की एक अपूर्ण सूची उपलब्ध है। अथक परिश्रम करनेवाले राबिन्सन तक इस भाषा के नमूने प्राप्त करने में असफल रहे। उन्होंने इसके विषय में जो कुछ कहा है, इस प्रकार है—"वे लोग एक विचित्र भाषा बोलते हैं किन्तु इसका पड़ोस में बोली जानेवाली अबोर तथा मिरी से कुछ सम्बन्ध है।"

दिगारू, मीजू

बेबेजिया के पूर्व में दिगारू नदी के उस पार, तोयिंग या दिगारू मिश्मी बोली बोली जाती है। इससे और पूर्व ल्हासा के एक भाग दजयुल की लामा घाटी में मीजू मिश्मी बोली का क्षेत्र है। राबिन्सन ने इन दोनों का व्याकरण एवं शब्दसमूह प्रस्तुत किया है। श्री नीड्हम ने भी दिगारू शब्दावली लिखी है। ये दोनों बोलियाँ या भाषाएँ बहुत भिन्न हैं।

उत्तरी असमशाखा के सम्बन्ध में सामान्य विचार

तिब्बती-बर्मी भाषाओं की उत्तरी असम-शाखा वस्तुतः विविध भाषाओं का आकस्मिक संग्रह मात्र है जिन्हें भाषाशास्त्रीय आधार पर नहीं अपितु भौगोलिक आधार पर वर्गीकृत किया गया है। इनके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से एक ही विचार प्रकट किया जा सकता है और वह भी नकारात्मक है। वह विचार यह है कि इन भाषाओं को न तो तिब्बती-हिमालय और न असम-बर्मी समूहों के रूप में ही वर्गीकृत किया जा सकता है, यद्यपि इन दोनों से इनका सम्बन्ध है। सच तो यह है कि इस भू-भाग में तिब्बती-बर्मी निष्क्रमणकारियों के एक के बाद दूसरे दल आते रहे और यहाँ की भाषा पर अपनी छाप छोड़ते गये। यही कारण है कि तिब्बती-बर्मी भाषाओं की दो अन्य शाखाओं में से किसी न किसी से ये भाषाएँ कई बातों में समानता रखती हैं। मोटे तौर पर ये तिब्बती-हिमालयवर्ती भाषाओं को असम-बर्मी बोडो, नागा, कुकिचिन तथा काचिन भाषाओं से जोड़नेवाली कड़ियाँ हैं।

असम-बर्मी शाखा

तिब्बती-बर्मी भाषाओं की असम-बर्मी शाखा बोलनेवाले लोगों के इतिहास की एक झलक पिछले पृष्ठों में दिखलायी गयी है। यहाँ इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक विवरण उपस्थित किया जायगा। यह शाखा आगे और समूहों में विभक्त हो गयी है। ये हैं—बोडो, नागा, काचिन, कुकिचिन, बर्मा, लोलोमोसो तथा सक या लूई। इनमें से इस सर्वेक्षण में समग्र रूप में केवल दो समूहों, बोडो तथा नागा का ही परीक्षण किया गया है। काचिन, कुकिचिन, सक तथा बर्मा समूहों की भाषाओं का केवल आंशिक

असम-बर्मी शाखा

समूह	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
बोडो	६,१८,६५९	७,१५,६०६
नागा	२,९२,७९९	३,३८,६३४
काचिन	१,९२०	१,५१,१०६
कुकिचिन	५,६७,६२५	७,९६,३१४
बर्मा	६२,६५२	९३,३५,५९५
लोलोमोमो	..	३५,६८६
सक (लूई)	..	२५,१४५
योग	१५,४३,६५५	१,१४,३८,२६६

रूप में परीक्षण हुआ है। क्योंकि इनमें से कतिपय भाषाएँ तो इस सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं किन्तु इन चार समूहों में से अधिकांश की भाषाएँ बर्मा की हैं और उन्हें सर्वेक्षण में बिल्कुल नहीं लिया गया है। अन्त में लोलो-मोसो समूह की भाषाओं का भी सर्वेक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सर्वेक्षण में जो त्रुटि रह गयी है उसकी पूर्ति बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण के बाद आगे होगी और जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक, जहाँ तक यहाँ की भाषाओं का सम्बन्ध है, मैं संक्षेप में उनका उल्लेख करने तथा मौजूदा अपूर्ण ज्ञान के आधार पर उनके किये गये वर्गीकरण को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। यह बहुत सम्भव है कि बर्मी भाषाओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य सम्पन्न हो जाने के बाद इस वर्गीकरण में बहुत बड़ा परिवर्तन करना पड़े। बोडो, नागा तथा कुकिचिन समूह की कतिपय भाषाओं के

सम्बन्ध में हमारे पास पर्याप्त सामग्री है और इनका अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया जायगा। वर्तमान ज्ञान के आधार पर इन सभी समूहों के विषय में यह कहा जा सकता है कि बोडो तथा नागा समूहों का तिब्बती-हिमालयवर्ती भाषाओं से अति निकट का सम्बन्ध है किन्तु कुकिचिन तथा बर्मा-भाषासमूहों की अपनी अलग विशेषताएँ हैं। इन दोनों के बीच में कचिन तथा लोलो-मोसो समूहों की भाषाएँ आती हैं। इनमें से प्रथम भाषा का कुकिचिन से सम्बन्ध है और द्वितीय का बर्मी से। एक (लूई) समूह के विषय में पृथक् विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पर सब से पहले आनेवाले तिब्बती-बर्मी लोगों का प्रभाव है।

असम प्रदेश की अनार्य जातियों में, संख्या तथा महत्त्व की दृष्टि से बोडो तथा बड़ जाति का विशेष स्थान है। भाषासम्बन्धी साक्ष्य के आधार पर यह विदित होता

बोडो समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
काचारी या बोडो	२,७२,२३१	२,७१,६१२
लालुंग	४०,१६०	१०,३८३
दीमा-सा	१८,६८१	११,०४०
गारो	१,३९,७६३	२,१६,११७
कोच	१०,३००	१६,१६५
राभा	३१,३७०	२२,५४५
तिपुरा	१,०५,८५०	१,६३,७२०
चूटिया	३८४	४,११३
मोरान	..	१
योग	६,१८,६५९	७,१५,६९६

है कि किसी समय, खासी तथा जैन्तिया पर्वतों को छोड़कर, जहाँ खासी-भाषा-भाषी निवास करते हैं तथा जो एक अन्य—आस्ट्रोएशियाटिक—परिवार की भाषा है, ये लोग वर्तमान समस्त प्रदेश में, मनीपुर के पश्चिम तथा नागा पर्वतों में फैले हुए थे। खासी पर्वत के उत्तर में, लगभग समस्त ब्रह्मपुत्र के काँठे पर इनका अधिकार है। पश्चिम में इन्होंने गारो पर्वतमाला को अधिकृत किया है। दक्षिण में ये लोग कचार

मैदान तथा उसके आगे वर्तमान टिप्परा के पर्वतीय राज्य में फैले हुए हैं। पूर्व में इनके प्रभाव का क्षेत्र मनीपुर तथा नागा पर्वत की जंगली जातियों तक सीमित था। नागा तथा खासी पर्वतों के बीच, इनकी एक महत्त्वपूर्ण जाति उत्तरी कचार के पर्वतों में बस गयी थी। इसी जाति की एक प्रसिद्ध शाखा, कोच ने अपनी शक्ति बढ़ाकर समस्त उत्तरी बंगाल को, पुर्निया तक, रौंद डाला था।

कई शताब्दियों तक बोडो लोगों को बाहरी आक्रमण का सामना करना पड़ा, सन् १२२८ में, पूर्व से ताई जाति के 'अहोम' लोगों ने आक्रमण करना आरम्भ किया था। उन्होंने ब्रह्मपुत्र के काँठे को अधिकृत कर लिया और जब तक यह प्रदेश ब्रिटिश राज्य में मिला नहीं लिया गया तब तक ये यहाँ शताब्दियों तक शासन करते रहे।

पड़ोस में हमें 'कोच' लोगों का शक्तिशाली राज्य केवल पश्चिमी असमिया प्रदेश तथा 'कूच' या 'कोचबिहार' में मिलता है। पूर्व में बोडो लोग समाप्तप्राय हो गये। इस ओर पर्वतीय प्रदेश के कारण जहाँ ये अपनी स्वतंत्रता अक्षुण्ण भी रख सके हैं वहाँ ये केवल कुछ शतकों की संख्या वाले समूहों में ही मिलते हैं।

दक्षिण से भी बोडो प्रदेश पर आक्रमण हुए। ये आक्रमण भी गत दो शताब्दियों के भीतर ही हुए थे। अपने समान-जातिवाले से दबाये जाने पर पीड़ित होकर 'कुकि' लोगों के समूहों को 'लुशाई' तथा 'चिन' पर्वतों को छोड़ना पड़ा। ये लोग उत्तर की ओर चले गये और मनीपुर तथा कचार के मैदान और विशेषतया उत्तरी कचार के पर्वतीय प्रदेश में जा बसे। अब यहाँ बोडो तथा 'कुकि' लोगों की मिश्रित आबादी है।

किन्तु इधर सबसे महत्त्वपूर्ण आक्रमण पश्चिम से आर्यसंस्कृति का हुआ। आर्य लोगों ने अपनी भाषा के साथ ढाका, सिलहट तथा कचार को अधिकृत कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि गारो पर्वतमाला के बोडो लोग 'टिप्परा' पर्वतमाला के अपने भाइयों से पृथक् हो गये, क्योंकि इनके बीच आर्य-भाषा-भाषी लोग आ बसे। यही बात ब्रह्मपुत्र के काँठे में भी हुई। अब यहाँ के लोग पूर्ण रूप से आर्य-भाषा-भाषी हो गये हैं और इधर धीरे-धीरे बोडो भाषा समाप्त हो रही है। अब कूचविहार के प्राचीन राज्य की भाषा बँगला हो गयी है और पुरानी बोडो भाषा यत्र तत्र विच्छिन्न क्षेत्रों की भाषा रह गयी है। कामरूप राज्य की राजधानी कामरूप एवं ग्वालपाड़ा में आर्यभाषा के, असमियाँ और बँगला बोलनेवाले लोग सैकड़ों की संख्या में निवास करते हैं किन्तु बोडो बोलनेवाले लोग दस-पाँच से अधिक नहीं हैं।

'कोच' शब्द का वास्तविक अर्थ भी अब लोग भूल गये हैं। अब इस शब्द का प्रयोग 'बोडो' जाति के उन लोगों के लिए किया जाता है जो हिन्दू हो गये हैं और जो अपनी मूल भाषा एवं भोजन का परित्याग कर चुके हैं। जो बोडो आज भी अपनी

भाषा से चिपटे हुए हैं वे प्रायः तीन भाषाएँ बोलते हैं। इनमें से अनेक लोग असमिया भाषा बोलते हैं। इसके अतिरिक्त वे केवल अपनी सुन्दर एवं शुद्ध योगात्मक बोडो भाषा का ही प्रयोग नहीं करते अपितु वे एक ऐसी मिश्रित भाषा भी बोलते हैं जिसके शब्द तो बोडो के हैं, किन्तु क्रियापद सर्वथा भिन्न भाषा असमिया के हैं।

कोच भाषा

ऊपर यह कहा जा चुका है कि कोच शब्द का मूल अर्थ अब समाप्त हो गया है और इससे हिन्दू 'बोडो' का बोध होता है। फिर भी ढाका तथा मैमनसिंह की सीमा पर स्थित मधुपुर के जंगल, गारो पर्वतमाला तथा असमघाटी के पड़ोस के जिलों में 'पानि' अर्थात् 'लघु कोच' नाम के कुछ लोग मिलते हैं, जो आज भी बोडो परिवार की भाषा बोलते हैं। किन्तु इसमें सन्देह है कि ये लोग कोच हैं भी अथवा नहीं। कुछ लोगों के अनुसार ये लोग 'गारो' जाति के हैं और अब तक पूर्ण रूप से हिन्दू नहीं हो सके हैं। इन लोगों ने 'गोमांस' खाना छोड़ दिया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जो लोग पूर्ण रूप से हिन्दू कोच बनकर सीमा पर शक्तिशाली हो गये थे उन्हें प्रसन्न करने के लिए ही इन लोगों ने अपने को 'लघु' अथवा निम्न श्रेणी का कोच कहा। इनकी भाषा के जिन नमूनों को मुझे देखने का अवसर मिला है, यदि वे शुद्ध हैं तो यह भाषा 'गारो' और प्रधानतया असमिया भाषा का ही सम्मिश्रण है। आजकल यही भाषा 'कोच' के नाम से प्रख्यात है।

इस भाषा के बोलनेवालों की परम्पराएँ इस जाति का सम्बन्ध गारो लोगों से नहीं बतातीं। उनका विश्वास है कि ये लोग उत्तर-पश्चिम के उस स्थान से आये जहाँ पर कोच राजा राज्य करते थे। यहाँ से ये नितान्त सरलतापूर्वक अपने इस वर्तमान स्थान में आ पहुँचे।

काचारी, बड़ या बोड़ो

वास्तविक कोच जाति के प्रतिनिधि काचारी लोग हैं। ये लोग नौगाँव, कामरूप, गोआलपाड़ा, कूचबिहार तथा उसके पड़ोस के प्रदेश में बसे हुए हैं। इसके पूर्व के क्षेत्र में ये लोग अपने को बड़ कहते हैं जो प्रायः अशुद्ध उच्चारण के रूप में बोडो हो जाता है। इधर की समस्त भाषाओं का यही नाम पड़ गया है जो ठीक नहीं है क्योंकि बोडो इस समूह की केवल एक भाषा है। पश्चिम में ये लोग 'मेचे' कहलाते हैं, किन्तु कतिपय स्थानीय विशेषताओं को छोड़कर, सर्वत्र भाषा का रूप एक ही है। इनकी भाषा पूर्ण रूप से समृद्ध है और इसमें कई धातुओं को संयुक्त करके केवल एक शब्द के द्वारा

गहनतम विचारों को प्रकट किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप 'जाओ' और 'लो' तथा 'देखो' और ध्यानपूर्वक 'निरीक्षण करो' को काचारी भाषा में, केवल एक शब्द में बोला जा सकता है। इस समूह की सभी भाषाओं से यह ध्वन्यात्मक रूप में अत्यधिक विकसित है और यत्र-तत्र इसके शब्दरूपों को सम्पन्न करने के लिए विभक्तियों का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया है। वास्तव में योगात्मक भाषाओं के क्षेत्र में यह एक विचित्र बात है। दूसरी दिलचस्प बात जो इस भाषा में हम लोगों के देखते ही देखते उत्पन्न हो गयी है, यह है कि ध्वन्यात्मक क्षय के कारण, इस परिवार की भाषाएँ द्वि-अक्षरात्मक से एकाक्षरात्मक हो रही हैं और इस प्रकार हिन्द-चीनी भाषाओं की भाँति ये अयोगात्मक बनती जा रही हैं। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। इसमें 'सा' का अर्थ 'व्यक्ति' होता है और 'फि' उपसर्ग है। इन दोनों के संयोग से सामासिक शब्द 'फि-सा' बनता है, जिसका अर्थ है 'निर्मित व्यक्ति' अर्थात् 'बालक'। तिब्बती-बर्मी भाषा-भाषी बालक शब्द के भावात्मक रूप को समझने में असमर्थ है और वह 'बालक' को पिता के सम्बन्ध से ही सोच पाता है क्योंकि उसी ने उसे उत्पन्न किया है। किन्तु यहीं स्वराघात आ जाता है। यह सामासिक शब्द के दूसरे अक्षर "इ" पर पड़ता है और इसके फलस्वरूप हम 'फि' के 'इ' को कठिनाई से सुन पाते हैं। इस व्याख्या से सम्बन्धित अन्य भाषाओं में व्यवहृत 'बालक' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। यह शब्द 'फ्सा' 'ब्सा' अथवा इसी प्रकार के अन्य रूपों में एकाक्षर बन जाता है। यदि काचारी भाषा हमारा मार्ग-प्रदर्शन न करती तो हम इस एकाक्षर शब्द का वास्तविक अर्थ ही न जान पाते। यही नहीं, काचारी में भी गौणरूप से एकाक्षर शब्द इसी प्रकार सम्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ 'रौन्' का अर्थ 'सूखना' होता है किन्तु 'फरान' का अर्थ जो वास्तव में 'फि-रान्' का संक्षिप्त रूप है, सुखाना हो जाता है।

बोडो भाषा काफी प्रसिद्ध है। स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त श्री एंडल ने परिनिष्ठित बोडो बोली का व्याकरण लिखा है तथा श्री एंडर्सन ने इसकी लोककथाओं का अच्छा संग्रह किया है। श्री स्क्रेफ्स्रुड ने 'मेच' भाषा का व्याकरण लिखा है।

लालुंग, दीमा-सा

काचारी से अत्यधिक सम्बन्धित 'लालुंग' भाषा है जो नौगाँव के दक्षिण-पश्चिम तथा उसके पड़ोस में बोली जाती है। यह काचारी तथा दीमा-सा के बीच की कड़ी है। यह अन्तिम (अर्थात् दीमा-सा) बोडो भाषा है तथा उत्तरी कचार के पर्वतीय प्रदेश में बोली जाती है। जिस प्रदेश में यह भाषा बोली जाती है, उसके नाम पर

इसका नाम 'पर्वतीय काचारी' पड़ गया है। इस नाम में एक असुविधा यह है कि इसके कारण ही प्राय: लोगों को यह विश्वास करने का अवसर मिलता है कि यह तथा कामरूप की 'मैदानी-काचारी', दोनों, एक ही भाषा की विभिन्न बोलियाँ है।[1] वास्तव में इन दोनों का उतना भी सम्बन्ध नहीं है जितना फ्रेंच तथा स्पेन की भाषाओं का। इन दोनों का सम्बन्ध एक ही भाषा-परिवार से है और निस्सन्देह दोनों की पूर्वज भाषा भी एक ही है किन्तु वर्तमान समय में ये दोनों एक दूसरी से सर्वथा भिन्न भाषाएँ हो गयी है। आज 'पर्वतीय काचारी' नाम सर्वोत्तम है किन्तु इसके बोलनेवाले इसे 'दीमा-सा' कहते हैं। चूंकि सर्वेक्षण में इसका विवरण दिया गया था, अत: श्री डुडग महोदय ने इधर इसका व्याकरण भी लिखा है तथा इसकी शब्दावली भी तैयार की है।

होजै, चुटिया

इसकी अपनी बोली भी है जो 'होजै' कहलाती है तथा नौगाँव के दक्षिण में बोली जाती है। असमघाटी में और आगे बढ़ने पर बोडो भाषाओं की सबसे पूर्वी बोली 'चुटिया' मिलती है जो बड़ी तेजी से समाप्त हो रही है। इसके बोलनेवाले कतिपय देवरी लोग है जो चुटिया जाति के पुरोहितवर्ग के है। कई विदेशी जातियों के बीच में रहते हुए भी इन्होंने अपनी भाषा, अपने धर्म तथा उन रीति-रवाजों को सुरक्षित रखा है जिन्हें वे सदिया के पूर्व प्रदेश से, आज से सौ वर्ष पहले अपने साथ लाये थे तथा जिसे वे अपेक्षाकृत अपरिवर्तित रूप में, असम में अहोम आक्रमण से पूर्व ही ग्रहण कर चुके थे। आजकल ये शिवसागर जिले के मजुलि द्वीप में तथा उत्तरी लखीमपुर में डिकरँग नदी के आसपास निवास करते हैं। चूंकि बोडो समूह की सभी भाषाओं में इसका धर्म से अधिक सम्पर्क रहा है अत: इसमें प्राचीनतम विशेषताएँ सुरक्षित है और यह लगभग उस मूल भाषा के समान ही है जिससे इस समूह की सभी भाषाएँ उद्भूत हुई हैं। यह तथा काचारी भाषा वस्तुत: दो छोरों का प्रतिनिधित्व करती है। इनमें से

१. सन् १५४० तक जब आहोम लोगों ने डिमासा लोगों को जीतकर उस देश को अधिकृत कर लिया, जिनकी राजधानी डीमापुर थी, तथा जो ब्रह्मपुत्र तक धनसिरी घाटी को अधिकृत किये हुए थे; तबतक उत्तरी कछार के डिमासा तथा कामरूप के बोडो लोग एक ही जाति के थे। इसके बाद इन लोगों ने उत्तरी कछार के पर्वतों में शरण ली। इस प्रकार परिनिष्ठित भाषा बोडो तथा डिमासा का भेद यहीं से आरंभ होता है। उस समय तक इन दोनों शाखाओं में पारस्परिक सम्बन्ध था।

प्रथम तो अति अविकसित तथा द्वितीय अत्यधिक विकसित भाषा है। काचारी की भाँति ही इसमें भी क्रियापदों के सामासिक रूप, जिनके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है, सरलतया सम्पन्न होते हैं। सम्भवतः यह बोडो समूह की सभी भाषाओं की विशेषता है किन्तु इनमें से केवल दो भाषाओं का ही अध्ययन हुआ है, अतः अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

गारो

पश्चिमी असम प्रदेश की ओर लौटकर हमें गारो भाषा के सम्बन्ध में विचार करना है। इसके बोलनेवाले इसे माण्डे कुसिक अथवा मनुष्यों की भाषा के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसका मुख्य स्थान गारो पर्वत है किन्तु इसके बोलनेवाले नीचे के मैदानों में भी फैल गये हैं और ब्रह्मपुत्र को पार कर कूचबिहार तथा जलपाइगुड़ी तक पहुँच गये हैं। परिनिष्ठित गारो में स्थानीय मिशनरियों द्वारा साहित्य-रचना भी हुई है। बाइबिल के अनुवाद के अतिरिक्त इसमें कोष, स्कूली पुस्तकें तथा धार्मिक एवं अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। इसकी कई बोलियाँ हैं और एक बोली दूसरी से अत्यधिक मिलती जुलती है किन्तु जब कोई विदेशी इनके बोलनेवालों से बातचीत करने का अभ्यास करता है तो स्पष्ट रूप से अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसकी आतोंग या कुचु बोली अन्य बोलियों की अपेक्षा बहुत पृथक् है। यही कारण है कि गारो पर्वत के विभिन्न भागों के लोग, आतोंग प्रदेश को छोड़कर चाहे जहाँ जायँ, एक दूसरे की बोली समझ लेते हैं। आतोंग या कुचु बोली सोमेश्वरी घाटी के निचले भागों में, जो गारो पर्वतमाला के दक्षिण-पूर्व तथा मैमनसिंह जिले के उत्तर-पूर्व में स्थित हैं, बोली जाती है। यह लगभग उस मूल भाषा के निकट की प्रतीत होती है जिससे इस परिवार की अन्य बोलियाँ प्रसूत हुई हैं। दूर के विच्छिन्न प्रदेशों में बोली जानेवाली यत्किञ्चित् भ्रष्ट गारो बोलियों तक में आतोंग की मुख्य विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

राभा

गारो से अत्यधिक सम्बन्धित राभा भाषा है। इसके अधिकांश बोलनेवाले गोवालपाड़ा जिले में रहते हैं, किन्तु यह भाषा अब समाप्तप्राय हो रही है। जाति के लिए राभा हिन्दू नाम प्रतीत होता है और इसके अधिकांश लोग विशुद्ध काचारी हैं। किसी समय ये लोग बोडो वंश की युद्धप्रिय जातियों में से थे तथा गोरखों के पूर्व तीन असमियाँ रेजिमेण्टों में भर्ती थे।

टिपुरा

बोडो समूह की अवशिष्ट महत्त्वपूर्ण भाषा टिपुरा है। इसके बोलनेवाले टिप्परा के पर्वतीय राज्य तथा उससे संलग्न चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र में बसे हुए हैं, किन्तु इसके बोलनेवाले ढाका, सिल्हट तथा कचार में भी मिलते हैं। चटगाँव के पर्वतीय प्रदेश के लोग इसे 'म्रुग' कहते हैं। यह दीमा-सा तथा गारो भाषाओं से कई बातों में सम्बन्धित है और साधारण रूप से जिस समूह की यह भाषा है उसकी समस्त विशेषताएँ इसमें मिलती हैं। एक दिलचस्प बात यह है कि इसमें 'मनुष्य' के लिए 'बरक' शब्द का प्रयोग होता है जो वस्तुतः 'बड़' शब्द का ही प्रतिरूप है। कामरूप तथा उसके पड़ोस के काचारी लोग भी अपने को 'बड़' ही कहते हैं।

मोरान्

इस समूह की भाषाओं के सर्वेक्षण को पूरा करने के लिए मोरान् भाषा का उल्लेख किया जा सकता है। अब यह भाषा समाप्त हो चुकी है। अहोम लोगों ने पटकोई की ओर से जब असम प्रदेश पर आक्रमण किया था तो उन्होंने सर्वप्रथम मोरान् लोगों को ही विजित किया था। ये लोग अपने विजेताओं के लिए जलाने की लकड़ी ढोने का काम करते थे और ये आज भी शिवसागर तथा लखीमपुर में पाये जाते हैं। इनकी भाषा भी बोडो परिवार की ही है किन्तु ये लोग अब प्रायः अपनी भाषा को छोड़कर असमिया को अपना चुके हैं।

नागा समूह

जहाँ नागा समूह की भाषाओं के बोलनेवाले लोगों की संख्या बोडो भाषा-भाषियों की संख्या की आधी से कम है वहाँ नागाभाषाओं की संख्या बोडो से चौगुनी है। केवल बोलियों की ही नहीं, अपितु भाषाओं की भी अत्यधिक विभिन्नता, जो पूर्व में पटकोई पर्वत-श्रेणियों, पश्चिम में जैन्तिया पर्वतमाला, उत्तर में ब्रह्मपुत्र के काँठे तथा दक्षिण में मनीपुर में मिलती है, भाषा-शास्त्रियों की खोजों के लिए दिलचस्प क्षेत्र है। मुख्य असमघाटी की दक्षिणी सीमा पर पर्वत हैं जो इसे सिलहट तथा कचार से पृथक करते हैं। इसकी पश्चिमी सीमा के पर्वत अपेक्षाकृत कम ऊँचे हैं। ये गारो की पहाड़ियाँ हैं और यहाँ के निवासी बोडो-समूह की भाषा बोलते हैं। जब हम और पश्चिम की ओर बढ़ते हैं तो जैन्तिया पर्वतमाला मिलती है जिसकी श्रेणियाँ समुद्र के धरातल से छै हजार फुट ऊँची हैं। इसके बाद कपिली तथा धनसिरी की घाटियों में ऊँचाई कम हो जाती है। यहाँ की निम्न पर्वतमाला में ही उत्तरी कचार

का सब-डिवीजन है। पूर्व की ओर और आगे के प्रदेश का धरातल एकाएक ऊँचा होता जाता है। इस क्षेत्र में ही पटकोई, नौगाँव, शिवसागर तथा लखीमपुर के जिले, समस्त नागा पर्वत एवं मनीपुर राज्य के उत्तरी भाग हैं। यहाँ पर कई पर्वत हैं जिनमें से कुछ तो नौ-दस हजार फुट ऊँचे हैं। जब हम पूर्व की ओर बढ़ते हैं तो इन पर्वतों की श्रेणियाँ उत्तर तथा दक्षिण की ओर बढ़ती जाती हैं और पटकोई तथा उसके आगे

नागा समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
नागा-बोडो	३६,३५३	२७,१०९
पश्चिमी	६८,९३०	८८,२६४
मध्य	३८,०००	४८,५५४
पूर्वी	१०,०००	..
नागा-कुकि	१,३९,५१६	१,५२,२६६
अवर्गीकृत	..	२२,४४१
योग	२,९२,७९९	३,३८,६३४

की पर्वतमाला के द्वारा हिमालय से जा मिलती हैं। दक्षिण की ओर ये पर्वत मनीपुर तथा लुशाई की पहाड़ियों से होकर आगे बढ़ते हैं और अन्त में ये नेग्रेस अंतरीप के निकट समुद्र में समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रदेश में उत्तरी कचार तथा पटकोई के बीच में मुख्य रूप से नागा भाषाएँ बोली जाती हैं। प्रदेश की दुर्गमता तथा लोगों की भयंकरता के कारण यहाँ की भाषा में विषमता आ गयी है। यातायात की कठिनाई के कारण यहाँ के पड़ोस तक की जातियों में पारस्परिक सम्पर्क बहुत कम होता है। प्राचीन काल में यहाँ के लोग नरमुंडों का उसी प्रकार संग्रह करते थे जिस प्रकार लोग डाक के टिकटों का संग्रह करते हैं और यहाँ तब तक कोई लड़की किसी युवक से विवाह नहीं करती थी जब तक उसके पास ऐसे नरमुंड पर्याप्त संख्या में न हों। यदि कोई अजनबी व्यक्ति इस प्रदेश में पहुँच भी गया तो वह यहाँ के लोगों से बातचीत नहीं कर पाता था। ऐसी परिस्थिति में नागापरिवार की साहित्यविहीन एवं परिवर्तनशील उच्चारण-वाली भाषाएँ, जिनमें शब्दों के प्रयोग पर भी नियंत्रण था तथा जिनमें साधारण व्याकरणसम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपसर्गों एवं प्रत्ययों का ढीले ढंग से प्रयोग

होता था, एक दूसरी से स्वतंत्र होकर शीघ्रता के साथ परिवर्तित होने के लिए बाध्य थीं। यहाँ ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जहाँ एक जाति के लोग अपना मूल स्थान छोड़कर थोड़ी दूर पर जा बसे हैं और दो-तीन पीढ़ियों में ही उन्होंने ऐसी भाषा विकसित कर ली जो मूल भाषा के बोलनेवालों के लिए अबोधगम्य बन गयी।[१]

नागा-बोडो उपसमूह

एम्पेओ

बोडो तथा नागा भाषाओं के बीच एक और मध्यस्थ उपसमूह है जिसका सम्बन्ध मुख्य रूप से नागा भाषाओं से है, किन्तु जो कई बातों में बोडो भाषाओं के समान है। इसमें एम्पेओ भाषा सबसे प्रसिद्ध है। श्री सोपिट महोदय ने इसका

नागा-बोडो-उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
एम्पेओ या कच्चा नागा	१०,२८०	९,९५९
कबुइ या कप्वी	११,०७३	१५,६४७
खोइराओ	१५,०००	१,५०३
योग	३६,३५३	२७,१०९

व्याकरण लिखा है तथा इसके शब्दों का भी संग्रह किया है। यह उत्तरी कछार तथा पश्चिमी नागा पर्वतों में बोली जाती है। इसका सम्बन्ध केवल बोडो से ही नहीं है अपितु कुकि भाषा से भी इसका सम्पर्क है, यद्यपि मुख्य रूप से यह नागा भाषा ही है।

१. देखो—मेक कबे कृत 'अंगामी ग्रामर' पृ० ४

२. सर्वेक्षण के खण्ड ३ में भाग २ पृ० ३७९ तथा उसके आगे मैंने मिकिर को इसी समूह में सम्मिलित कर लिया है। परन्तु सभी बातों पर पुनः विचार करने के पश्चात् अब मैंने इसे 'नागा-कुकि' उपसमूह के अन्तर्गत रखा है और इसी रूप में नीचे इसका विवरण भी दिया गया है।

कबुइ, खोइराओ

कबुइ तथा खोइराओ उत्तरी मनीपुर की बोलियाँ हैं। जहाँ तक कबुइ का सम्बन्ध है, इस सर्वेक्षण के पूर्व इसके विषय में इतना ही ज्ञात था कि गत शताब्दी के मध्य में, मेजर मेककल्लॉच ने इसके शब्दों की एक संक्षिप्त सूची तैयार की थी। खोइराओ के सम्बन्ध में सर्वेक्षण के पूर्व कुछ भी ज्ञात न था। सर्वेक्षण में इन दोनों भाषाओं के बोलने वालों की जो संख्या दी गयी है, उसका आधार अनुमान ही है, जनगणना नहीं। इस जनगणना के बाद दो और जनगणनाएँ हुई और सन् १९२१ की जनगणनानुसार जो संख्या दी गयी है, वह सर्वेक्षण में अंकित जनसंख्या की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है।

जहाँ तक मुख्य नागा भाषाओं का सम्बन्ध है, हम उन्हें स्वाभाविक रूप से तीन उपसमूहों—पश्चिमी, मध्य तथा पूर्वी—में विभक्त पाते हैं। पश्चिमी भाषाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण अन्गामी है।

पश्चिमी नागा-उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
अन्गामी	३५,४१०	४३,०५०
सेमा	२६,४००	३४,८८३
रेंग्म या उन्ज़ा	५,५००	५,१०३
केझामा	१,६२०	५,२२८
योग	६८,९३०	८८,२६४

अन्गामी

इसकी दो बोलियाँ—तेन्गिमा तथा चक्रोमा—हैं। इनके अतिरिक्त इसकी अनेक उपबोलियाँ हैं जिनमें ड्ज़ुना, केहेना तथा नलि उल्लेखनीय हैं। तेन्गिमा के विषय में तो पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। सन् १८५० से इसके अध्ययन का आरम्भ हुआ। तब से अब तक हाग्सन, ब्राउन, स्टुअर्ट तथा बटलर ने इसके शब्दों की सूचियाँ दी हैं। इनमें से अन्तिम दो विद्वानों का कार्य तो अत्यन्त उच्च स्तर का है। सन् १८८७ में मेकाबे ने इसका व्याकरण लिखा था तथा सन् १९०५ में श्री रिवेनबुर्ग ने इसके वाक्यांशों की पुस्तक तैयार की। बाद में यह सामग्री सर्वेक्षण में भी प्रकाशित हुई। सन् १८९१

की असम प्रदेश की जनगणना की रिपोर्ट में, श्री ए० डब्लू० डेविस ने इस जाति की भाषा, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों का विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किया। इसी रिपोर्ट का कुछ अंश सर्वेक्षण के खण्ड ३ भाग २ में पुनः प्रकाशित हुआ था। अन्त में सन् १९२१ में श्री जे० एच० हटन द्वारा "अन्गामी नागा" शीर्षक विवरण प्रकाशित हुआ जो अब तक प्रकाशित सभी विवरणों में श्रेष्ठ था। इस जाति के सम्बन्ध में जो कुछ सामग्री उपलब्ध थी उसका सारांश उक्त विवरण के पृष्ठ २९१ तथा इसके आगे के पृष्ठों में दिया गया है।

केझामा, सेमा, रेंग्मा

अन्गामी के पूर्व में केझामा भाषा और फिर इसके उत्तर में बर्बर एवं जंगली बोली 'सेमा' का क्षेत्र है। अन्गामी के उत्तर तथा सेमा के पश्चिम 'रेंग्मा' बोली जाती है। जब तक इस सर्वेक्षण का विवरण प्रकाशित नहीं हुआ था तब तक किसी भी बाहरी व्यक्ति को केझामा भाषा के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न था और सामग्री के रूप में हमारे पास सेमा एवं रेंग्मा की शब्दावलियों की केवल अपूर्ण सूचियाँ उपलब्ध थीं। किन्तु इसके बाद श्री हटन ने सेमा का व्याकरण लिखा तथा इसके शब्द समूह का भी संग्रह किया। रेंग्मा लोग अपने को 'उन्ज' नाम से सम्बोधित करते हैं। वास्तव में 'उन्ज' इस भाषा की दो बोलियों में से एक है। इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है कि लगभग आधी शताब्दी पूर्व, अपनी पड़ोसी जातियों के निरन्तर आक्रमण के कारण रेंग्मा लोगों को अपने मूल स्थान को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। ये लोग नौगाँव जिले की मिकिर पर्वतमाला तथा धनसिरि के जंगल के बीच की पर्वतमाला में बस गये। यहाँ बसे हुए लोग अपने पुराने बर्बर रीति-रिवाज भूल गये तथा कुछ अंशों में इन्होंने मैदान में रहनेवाले लोगों के रीति-रिवाजों को ग्रहण कर लिया, किन्तु इनके अन्य भाइयों ने अपनी पुरानी सरल सभ्यता को ही कायम रखा। मध्य नागा-उपसमूह की भाषाओं तथा पश्चिमी नागाभाषाओं में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ पश्चिमी नागाभाषाओं में नकारात्मक निपात, नकारात्मक बननेवाले शब्द के बाद आता है, वहाँ मध्य उपसमूह में यह शब्द के पूर्व आता है।

नागाभाषाओं के मध्य-उपसमूह की मुख्य भाषाएँ आओ तथा ल्होता हैं। इस समूह की गौण भाषाओं में सेंग्मा, थुकुमि तथा यचुमि हैं। स्थानीय मिशनरियों ने आओ एवं ल्होता भाषाओं का सुन्दर व्याकरण लिखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इनके शब्द-समूहों का भी संग्रह किया है। आओ भाषा बहुत प्रसिद्ध है और इसके सम्बन्ध में लिखा भी गया है। किन्तु इसके साहित्य की खोज करना आसान नहीं है

क्योंकि कम से कम विभिन्न नौ नामों से इसका उल्लेख हुआ है। उनमें से कुछ नाम तो उपयुक्त हैं किन्तु अन्य भ्रमवश ही रखे गये हैं, उदाहरण के लिए अस्सिरिंगिया नाम को लिया जा सकता है। यह नग्न नागा जाति के एक गाँव का नाम है और इस जाति के लोग

मध्य नागा उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
आओ	१५,५००	३०,१४२
ल्होता	२२,०००	१८,४१२
तेन्गस-नागा	१	..
थुकुमि	१	..
यचुमि	१	..
योग	लगभग ३८०००	४८,५५४

पूर्वी नागा-भाषा बोलते हैं। किन्तु आओ लोग अपने मूल स्थान से मैदान की ओर इस गाँव से होकर ही आते हैं, इसलिए असमियाँ लोगों ने इसका यह नामकरण किया है।

इसी प्रकार आओ लोगों के अन्य नाम इन दर्रों के नाम पर आधारित हैं जिनसे होकर ये लोग मैदान में आते हैं। इस प्रकार जो लोग 'दोप् दुआर्' दर्रे से आते हैं वे दुप् दोरिअ तथा जो लोग 'हतिगोर दुआर' से आते हैं वे हतिगोरिय कहलाते हैं किन्तु इनका नाम के अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं है और इनसे जाति तथा भाषा की कोई विशे-षता नहीं प्रकट होती। आओ की दो विशिष्ट बोलियाँ चुंग्लि तथा मान्गसेन् हैं और ये नागा पर्वतीय जिले के उत्तर-पूर्व में बोली जाती हैं।

ल्होता

आओ के दक्षिण में इस जिले के लगभग मध्य में ल्होता बोली बोली जाती है। यहाँ से यह शिवसागर की ओर बोली जाती है। इसके बोलनेवाले साधारण रूप से ल्होता अथवा त्-सोन्त्सु के नाम से विख्यात हैं किन्तु ये अपने को 'क्यों' कहते हैं और असमियाँ लोग इन्हें 'मिक्लाइ' कहते हैं। इन सभी नामों का उपयोग इस भाषा के लिए भी किया जाता है।

तेन्गस, थुकुमि, यचुमि

तेन्गस, थुकुमि और यचुमि भाषाएँ 'दिखु' के आगे तथा ब्रिटिश राज्य के बाहर बसनेवाली जातियों में बोली जाती हैं। इनके सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है, किन्तु

इनकी शब्दावलियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आओ' तथा ल्होता से इनका सम्बन्ध है।

पूर्वी नागा उपसमूह के अन्तर्गत आओ प्रदेश के पूर्व के क्षेत्र की अन्य सभी नागा जातियों की भाषाएँ आ जाती हैं। इस क्षेत्र की सीमा पूर्व में कानिन प्रदेश तथा दक्षिण में पटकोई पर्वत-श्रेणी है। इस सीमा के अन्तर्गत अनेक जातियाँ हैं। इनमें से कतिपय तो कुछ गाँवों में ही रहती हैं, किन्तु इन सभी जातियों की भाषाएँ परस्पर अबोधगम्य हैं। बीस मील के भीतर ही कभी-कभी ऐसी पाँच या छः बोलियाँ बोली जाती हैं। इस क्षेत्र की भाषाओं के विषय में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है, किन्तु जहाँ

पूर्वी नागा उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
अन्ग्वान्गु, निन्गमेन्न्	५०००	
बन्परा, मूतोनिया, मोहोन्गिया	१६००	
नम्सन्गिया	१८७०	
बान्या	?	
अस्रिगरिन्गिया	?	
मोशान्ग		
शान्गे	?	
	योग	लगभग १००००

तक इनका ज्ञान है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमें एक दूसरे से बहुत निकट का सम्बन्ध है। इस क्षेत्र के नागा लोगों के रीति-रिवाजों में भी बहुत साम्य है। ये सभी लोग अपने मुर्दों को बाँस की मचानों पर सड़ने के लिए रख देते हैं। इनमें से ये खोपड़ी को अस्थि-गृह में सुरक्षित रखते हैं। ऐसा प्रायः सभी गाँवों में होता है। इनकी कई जातियों की स्त्रियाँ पूर्ण रूप से नंगी रहती हैं, किन्तु अन्य जातियों में पुरुषों के नंगे रहने की प्रथा है। सन् १९२१ की जनगणना के समय इनकी गणना नहीं हो सकी है।

पूर्वी नागा भाषाओं की विशेषताएँ

पूर्वी नागा भाषाओं की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं मुख्य विशेषता यह है कि ये, प्रसिद्ध कचिन भाषा, जो नागा भाषाओं के पूर्व तथा दक्षिण में स्थित है तथा नागा भाषाओं के बीच की कड़ी हैं, और इन दोनों के बीच में जो अन्तर है उसे पाटने के लिए पुल के समान है। इनकी दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस समूह की कम से कम चार भाषाओं——अन्ग्वान्कु, चिन्ग्मेग्नु, चान्ग तथा नम्सन्गिआ के क्रियापदों में रूपात्मक परिवर्तन होता है। इसके प्रत्येक काल में कर्ता के पुरुष के अनुसार परिवर्तन होता है। इस प्रक्रिया का नागा-समूह की अन्य बोलियों में सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार कचिन तथा बोडो समूह की भाषाओं में भी यह प्रक्रिया अज्ञात है। नम्सन्गिआ भाषा के क्रियापद वचन के अनुसार परिवर्तित नहीं होते किन्तु असमियाँ एवं बँगला की भाँति ही इसके प्रत्येक काल में तीन पुरुष (उत्तम, मध्यम तथा अन्य) होते हैं।

अन्ग्वांकु, चिंग्मेग्नु

इन पूर्वी नागाभाषाओं को पश्चिम से पूर्व की ओर लेने पर सर्वप्रथम हमें अन्ग्वान्कु या तब्लेन्ग तथा चिंग्मेग्नु या तम्लु भाषाएँ मिलती हैं। मोटे तौर पर प्रत्येक बोली के बोलनेवाले नग्न जंगली नागा लोगों की संख्या २५०० है। इन दोनों जातियों के लोग कभी-कभी एक ही गाँव में रहते हैं। दिखु नदी के, ब्रह्मपुत्र के काँठे में प्रविष्ट होने के पहलेवाले प्रदेश में, ये लोग दिखु नदी के दोनों किनारों के पर्वतों में. निवास करते हैं। अनेक तिब्बती-बर्मी जातियों की भाँति ही ये लोग भी अपने को मनुष्य के पर्यायवाची शब्द 'काता' से सम्बोधित करते हैं। अंग्रेज लोग इन्हें तब्लेन्ग तथा तम्लु कहते हैं। वास्तव में ये लोग इसी नाम के गाँवों में रहते हैं। अपनी भाषाओं को ये लोग क्रमशः अन्ग्वान्कु तथा चिन्मेग्नु कहते हैं। राजनीतिक दृष्टि से इनका मुख्य निवासस्थान नागा पर्वत जिले के सबसे उत्तर-पूर्वी छोर पर है।

चांग

दिखु नदी के उस पार तथा ब्रिटिश राज्य के बाहर हमें एक ऐसी भाषा मिलती है जिसे आओ लोग 'मोजुंग' कहते हैं, किन्तु इसके बोलनेवाले इसे चांग नाम से पुकारते हैं। इनकी संख्या अनुमानतः ६५०० है। आओ लोग दिखु नदी के उस पार के सभी नागा लोगों को "मिरि" कहते हैं। इस प्रकार चांग लोग भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं; किन्तु इससे बचना चाहिए क्योंकि इसमें सुवर्णश्री नदी के ऊपरी भाग में रहनेवाले मिरि लोग भी भ्रमवश सम्मिलित हो जाते हैं।

बनपरा तथा मुतोनिआ

चाग से ही सम्बन्धित 'बनपरा' तथा इसकी बोली 'मुतोनिआ' है। मुतोनिआ बोलनेवाली जातियाँ अनुग्वांकु के पूर्व में, शिवसागर जिले के पश्चिमी तथा मध्य भागों में बसी हैं। इस भाषा तथा इसकी बोली के शब्दों की एक संक्षिप्त सूची हम लोगों के पास है। इसी (शिवसागर) जिले के पूर्वी छोर पर 'मोहोंगिआ' लोग रहते हैं। ये 'बोर्दुअरिआ' तथा 'पानिदुअरिआ' भी कहलाते हैं। सन् १८५१ में इनकी भाषा के सम्बन्ध में श्री ब्राउन लिखते हैं कि इनकी तथा 'नम्संगिआ' लोगों की भाषा एक है किन्तु सन् १८७२ में श्री पील द्वारा प्रकाशित प्रथम दस अंकों के रूप में इस बोली का जो एकमात्र नमूना प्राप्त है उसके देखने से यह बात सिद्ध नहीं होती।

नम्संगिआ

शिवसागर की सीमा को पार कर हम लखीमपुर के नागा लोगों के क्षेत्र में पहुँचते हैं। ये लोग नम्संगिआ के नाम से विख्यात हैं किन्तु ये जैपुरिया नागा भी कहलाते हैं क्योंकि इसी नाम के गाँव से होकर ये लोग प्रायः मैदान में आते हैं। पूर्वी उपसमूह की अन्य भाषाओं की अपेक्षा हमें इन लोगों की भाषा का अधिक ज्ञान है क्योंकि सन् १८४९, में श्री राबिन्सन ने इसके व्याकरण तथा इसकी शब्दावली को प्रकाशित किया था। ओवेन, हाग्सन, पील, सर जार्ज कैम्पबेल तथा बटलर ने भी इस भाषा के शब्दों की छोटी-बड़ी सूचियाँ हमें दी हैं। इसके बाद इन भाषाओं के सम्बन्ध में कुछ भी कार्य नहीं हुआ है। वास्तव में आज के स्थानीय यूरोपियन लोग अपनी दो पीढ़ी पूर्व के यूरोपियन लोगों की अपेक्षा शिवसागर तथा लखीमपुर की भाषाओं के विषय में बहुत कम जानते हैं। सर्वेक्षण तक को इनके सम्बन्ध में अतिरिक्त विवरण प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली है।

मोशांग, शांग्गे

पूर्वी नागा भाषाओं की यह सूची 'मोशांग' एवं 'शांग्गे' भाषाओं के उल्लेख से पूर्ण हो जायगी। ये दोनों पटकोई के दक्षिण जंगली प्रदेश की दो जातियों की भाषाएँ हैं। इसके और आगे पूर्व तथा दक्षिण में कचिन प्रदेश है जहाँ 'कचिन' अथवा सिंगफो भाषा बोली जाती है। एक ओर यह नागा एवं तिब्बती भाषाओं के बीच की कड़ी है तो दूसरी ओर बर्मी के बीच की। यही भाषा हमें मनीपुर की मेईथेई, नागा एवं तिब्बती भाषाओं से होते हुए कुकिचिन भाषासमूह की ओर ले जाती है।

नागा-कुकि उपसमूह

इसके अतिरिक्त, नागा एवं कुकि में सम्बन्ध की एक अन्य कड़ी नागा-कुकि उपसमूह की भाषाएँ हैं। इनका दूसरी ओर नागा-बोडो उपसमूह से भी सम्बन्ध है। नागा-बोडो उपसमूह का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा मिकिर है।

नागा-कुकि उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
मिकिर	८९,५१६	१,०९,१२३
सोप्वोमा	१०,०००	१३,०९६
मराम्	२,५००	३,५२२
मियांग्खांग्	५,०००	..
क्वोइरेंग्	५,०००	..
तांग्खुल	२६,०००	२४,१७०
मरिंग	१५००	२,३५५
योग	१,३९,५१६	१,५२,२६६

मिकिर

इसका मुख्य स्थान, असम प्रदेश के नौगाँव जिले में इसी नाम का पहाड़ है। यह यत्किंचित् भिन्नता के साथ कामरूप के दक्षिण, खासी तथा जैन्तिया पर्वतों, उत्तरी कचार तथा नागा पर्वत में बोली जाती है। इस जाति की छोटी टुकड़ियाँ अन्य स्थानों में भी मिलती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में मिकिर लोगों का आज की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार था। यह क्षेत्र निचले पहाड़ों तथा उससे सटे हुए उस निचले मध्य भाग की श्रेणियों तक था जो गारो पर्वत से पटकोई तक फैली हुई हैं। अन्य स्थानों की भाँति ही मिकिर लोग अपने को मनुष्यवाची शब्द "आरलेंग" से सम्बोधित करते हैं। जो मिशनरी लोग इनके बीच में काम करते हैं उन्होंने इनकी भाषा का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। इसकी एक शब्दसूची तथा इसमें लिखित कतिपय छोटी पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। सर चार्ल्स लायल ने इसका एक सुन्दर व्याकरण

भी लिखा है। इसमें इस भाषा के चुने हुए पाठ भी मिलते हैं। सर्वेक्षण के खंड ३ भाग २ में, मैंने मिकिर का नागा-बोडो उपसमूह के अन्तर्गत वर्गीकरण किया है। इसका बोडो से सम्बन्ध है किन्तु बाद की खोजों से यह प्रमाणित होता है कि इसका कुकि से और घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः नागा-कुकि उपसमूह के अन्तर्गत ही इसका वर्गीकरण होना चाहिए जहाँ इसका यत्किंचित् स्वतंत्र स्थान है।

अवशिष्ट नागा-कुकि भाषाओं का मुख्य क्षेत्र मनीपुर राज्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस राज्य में कुकि-चिन जाति के लोग, दक्षिण की ओर से, पीछे मुड़नेवाली धारा के रूप में आये। यहाँ उन्हें पहले से बसे हुए नागा लोग मिले। इस प्रकार इस प्रदेश में, एक ओर हम कुकि जाति के लोगों को विभिन्न भाषाएँ बोलते, इधर-उधर बसे हुए पाते हैं तो दूसरी ओर उसी रूप में नागा जाति के लोगों को भी यत्किंचित् अपभ्रष्ट नागा भाषा बोलते हुए यत्र-तत्र बसे हुए पाते हैं। उत्तरी मनीपुर के पर्वत, अंगामी नागा प्रदेश से सटे हुए दक्षिण की ओर स्थित हैं और स्वाभाविक रूप में यहाँ नागा की विशेषताएँ अत्यधिक मात्रा में मिलती हैं।

सोप्वोमा

इस प्रदेश में, कोहिमा से बीस मील दक्षिण ओर, मनीपुर-नागा पर्वत की सीमा पर, आओ प्रदेश के चारों ओर (जहाँ नागा लोग आओ नागा कहलाते हैं) 'सोप्वोमा' भाषा प्रचलित है। इसी उपसमूह की भाषा वास्तविक पश्चिमी नागा भाषा के बहुत निकट पहुँच जाती है। इसके अत्यधिक निकट की भाषा 'केझामा' है।

मराम

आओ के दक्षिण 'मराम' लोग रहते हैं। ये लोग एक बड़े गाँव में निवास करते हैं। इन दोनों जातियों का मूल एक ही है किन्तु इनमें सदैव पारस्परिक शत्रुता रहती है। ब्राउन तथा मेकलॉच, दोनों ने इनकी भाषाओं की शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं।

मियांग् खांग्, क्वोइरेंग्

मराम के सम्बन्ध में ही 'मियांग् खांग्' या 'मयंग् खांग्' का उल्लेख किया जा सकता है। श्री डैमण्ड ने मराम् तथा सोप्वोमा के साथ इसका वर्गीकरण किया है। यहीं पर हम क्वोइरेंग् या लियांग् भी जोड़ सकते हैं। ब्राउन तथा मेकलॉच ने इसकी भी शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं। इस भाषा को बोलनेवाली जाति के लोग मनीपुर शहर के उत्तर तथा मनीपुर राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा बनानेवाली बरेल पर्वत श्रेणी

के दक्षिण बसे हैं। ठीक इनके उत्तर 'कबुइ नागा' लोगों का निवासस्थान है। इनकी भाषा नागा-बोडो उपसमूह के अन्तर्गत आती है। यह नागा-बोडो तथा नागा-कुकि के बीच की कड़ी है। 'क्वोइरेंग्' के सर्वनाम नागा-कुकि से अत्यधिक साम्य रखते हैं। यही कारण है कि इसका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, अन्यथा भौगोलिक दृष्टि से इसका स्थान नागा-बोडो भाषाओं के अन्तर्गत होना चाहिए था। इस जाति के लोग अध्यवसायी हैं और ये अंगामी तथा ब्रिटिश राज्य के सीमान्त जिलों से व्यापार करते हैं।

तांग्खुल

बहुसंख्यक एवं महत्त्वपूर्ण तांग्खुल जाति का निवासस्थान मनीपुर राज्य के उत्तर-पूर्व में है। इन्हें कभी कभी लुहुपा या लुप्पा नाम से भी पुकारते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति लुहुप् से हुई है। यह एक विचित्र प्रकार की बेंत की टोपी है जिसे इस जाति की उत्तरी शाखा के लोग युद्ध में जाते समय पहनते हैं। किन्तु यह नाम भ्रामक है क्योंकि इसी प्रकार की टोपी 'माओ' नागा लोग भी पहनते हैं। तांग्खुल बोलियों की संख्या बहुत है। इसके भीतरी भाग के प्रत्येक गाँव की बोली पृथक् है, इनमें से प्रतिनिधि-स्वरूप तीन बोलियों को ले सकते हैं। ये हैं—मुख्य तांग्खुल (जो उक्रुल् गाँव में तथा उसके आसपास बोली जाती है), फडांग् तथा खंगोइ। श्री ब्राउन ने तांग्खुल भाषा की तीन संक्षिप्त शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं और इस सर्वेक्षण को भी इसके संक्षिप्त व्याकरण तथा शब्दावली प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त संख्या में इसके नमूने प्राप्त करने में सफलता हुई है। सर्वेक्षण की सामग्री के प्रकाशित हो जाने के बाद रेवरेन्ड डब्लू० पेटिग्रू ने तांग्खुल का एक विशिष्ट व्याकरण लिखा और उसके शब्दों का भी संग्रह किया। इस जाति का मुख्य स्थान 'उक्रुल' में है। यह मनीपुर शहर के उत्तर-पूर्व में ४० मील तथा माओ-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व उतनी ही दूरी पर स्थित है।

फडांग, खन्गोइ

श्री मेककलाच् ने फडांग तथा खन्गोइ बोलियों के शब्दों की सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। इनमें से फडांग बोली की तांग्खुल से समानता है। किन्तु खन्गोइ का बहुत कुछ स्वरूप 'कुकि' जैसा है।

मरिंग

खन्गोइ से हम मरिंग भाषा की ओर बढ़ते हैं। यह हिरोक् पर्वतश्रेणी के कतिपय छोटे गाँवों की नागा जाति की भाषा है। वास्तव में यह वह पर्वतश्रेणी है जो मनीपुर

को अपर-बर्मा से पृथक् करती है। इसका एक छोटा उपनिवेश मनीपुर की घाटी में भी है। यह उपनिवेश राजधानी से २५ मील दक्षिण की ओर स्थित है। यह नागा-कुकि भाषाओं में से एक है जो कुकि-चिन् समूह के अति निकट तक पहुँच जाती है।[१] इसके उत्तम-पुरुष के सर्वनाम 'कुकि' के समान हैं। ब्राउन तथा मेककलाच ने मरिंग भाषा की शब्द-सूचियाँ प्रस्तुत की हैं और संक्षिप्त व्याकरण लिखने के लिए इस सर्वेक्षण को भी इसकी पर्याप्त सामग्री संग्रह करने में सफलता मिली है।

कचिन् समूह

कचिन् समूह की भाषाओं से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसके बोलने-वाले लोग बर्मा में रहते हैं। यही कारण है कि कचिन् भाषा के विविध रूपों का वर्णन बर्मा के भाषासर्वेक्षण में किया जायगा।

कचिन् समह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
कचिन	१९२०	१,५१,१९६

फिर भी कतिपय कचिन् भाषा-भाषी असम में मिलते हैं। इसी नाते मैं नीचे इस समूह के सम्वन्ध में कुछ विवरण दे रहा हूँ। जब तक बर्मा का भाषासर्वेक्षण प्रकाश में नहीं आता तभी तक के लिए मेरे ये विचार मान्य समझे जायँ। कचिन् लोगों को बर्मा में चिंग्-पा तथा असम में सिंग्-फो कहते हैं। इन दो शब्द-रूपों में इस शब्द का अर्थ है 'कचिन् जाति का मनुष्य'। किन्तु केवल मनुष्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। कचिन् लोग चिन्दविन् तथा इरावदी नदियों के विस्तृत ऊपरी भाग में, जो असम-प्रदेश के पूर्व तथा अपर-बर्मा के उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम में स्थित है, निवास करते हैं। गत शताब्दी के तीन चौथाई वर्षों में, ये लोग दक्षिण की ओर, उत्तरी शान् राज्य तथा 'भामो' और 'कथ' जिलों में फैल गये।

यदि अपर-बर्मा ब्रिटिश राज्य में न मिला लिया गया होता तो ये लोग और भी आगे बढ़ गये होते। वास्तव में आज भी कचिन् लोगों के कई छिट-पुट गाँव दक्षिणी

१. कतिपय लेखकों ने संबु लिखा है, जो सम्भवतः छापे की अशुद्धि है।

शान्-राज्य में, सालवीन नदी के आगे तक भी मिलते हैं। इनके उपनिवेशों के बहुत लोग असम-प्रदेश में भी जा घुसे और एक शताब्दी पूर्व यहाँ ये 'सिंग्-फो' नाम से विख्यात थे। जो भी हो, इनकी भाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुत दिनों तक बर्मा के लोगों के सम्पर्क में रहने के पश्चात् ही ये लोग इधर आये होंगे। भाषाशास्त्र तथा उनकी जातीय परम्परा, दोनों से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका मूल-स्थान कहीं इरावदी नदी के उद्‌गम की ओर था। यहाँ से ये लोग नदी के बहाव के साथ साथ क्रमशः आगे बढ़े और मार्ग में ये अपने से पहले बसे हुए बर्मी तथा शान् लोगों का उच्छेद करते गये। चूँकि कचिन् लोग बहुत विस्तृत प्रदेश में फैले हुए हैं अतएव इनकी भाषा में भी अत्यधिक भिन्नता है। ये लोग मुख्य रूप से पर्वत-निवासी हैं और प्रत्येक पर्वत की अपनी विशिष्ट भाषा है, फिर भी हम लोग इनकी बोलियों को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। ये हैं उत्तरी, क्‌ओरी तथा दक्षिणी कचिन् बोली। उत्तरी बोली के सम्बन्ध में हमारा सबसे अच्छा ज्ञान है, इसे असम प्रदेश के सिंग्-फो लोग बोलते हैं। इसके व्याकरण का ढाँचा श्री लोगन्, मेजर (जो बाद में ब्रिगेडियर जनरल हो गये थे) मैक-ग्रेगोर तथा श्री नीडहम् ने प्रस्तुत किया है। दक्षिणी कचिन् बोली भामो जिले में बोली जाती है। इसके सम्बन्ध में श्री हर्टज तथा हैन्सन् ने सामग्री उपलब्ध की है। क्‌ओरी भाषा वस्तुतः 'क्‌ओरी लेपै' लोग बोलते हैं। ये लोग भामो के पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में बसे हुए हैं। इस बोली की आधार-भूत सामग्री डा० कुशिंग ने उपलब्ध की है। जहाँ तक कचिन् एवं अन्य तिब्बती-बर्मी भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का विषय है यह कहा जा सकता है कि इन भाषाओं का यत्किंचित् स्वतंत्र स्थान है। भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं के कारण यह एक ओर तो तिब्बती से सम्बन्धित है, दूसरी ओर इसका नागा तथा कुकि-चिन् भाषाओं एवं बर्मी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नागा भाषाओं में भी इसका पूर्वी उपसमूह से अति निकट का सम्बन्ध है। 'कुकि-चिन्' समूह की भाषाओं में इसका मेइथेइ से विचित्र साम्य प्रतीत होता है। बर्मी भाषाओं से इसका असंदिग्ध रूप से सम्बन्ध है। इस सर्वेक्षण की प्रगति के दौरान में इसके सम्बन्ध में जो खोजें हुई हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि कचिन् भाषा का एक ओर तिब्बती भाषा से सम्बन्ध है तो दूसरी ओर यह नागा, मेइथेइ तथा बर्मी भाषा से भी संबन्धित है।

कुकि-चिन उपसमूह

जिस प्रदेश में कुकिचिन लोग निवास करते हैं वह उत्तर में नागा पर्वत, कचार तथा पूर्वी सिलहट से लेकर, नीचे की ओर दक्षिण में बर्मा के संडोवे जिले तक विस्तृत

है। दूसरे शब्दों में पूर्व में कियत्था नदी से लेकर पश्चिम में लगभग बँगाल की खाड़ी तक यह प्रदेश है। यह समस्त भूभाग पहाड़ियों एवं पर्वत से आवृत है और कहीं-कहीं दो पहाड़ों को पृथक् करनेवाली गहरी घाटियाँ भी हैं। इस जाति के लोग मनीपुर की घाटी तथा कचार के मैदानों एवं सिलहट के छोटे-छोटे उपनिवेशों में मिलते हैं। इनके दोनों नाम, कुकि तथा चिन इनके पड़ोसियों द्वारा दिये गये हैं। कुकि वस्तुतः असमिया

कुकि-चिन उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
मेइथेइ	२,४०,६३७	३,८२६५८
उत्तरी चिन्	६०,३४५	८३,०३३
मध्य चिन्	१,०७,६०४	१,४१,६६८
पुरानी कुकि	४८,८१४	२६,२४५
दक्षिणी चिन्	१,१०,२२५	३५,२०६
अनिर्णीत	..	१,६७,५१७
योग	५,६७,६२५	७,९७,३१४

या बँगला का शब्द है। इसका प्रयोग पड़ोस की सभी पहाड़ी जातियों के लिए होता है। चिन् या ख्येंग् बर्मी भाषा का शब्द है। इसका प्रयोग बर्मा तथा असम प्रदेश के बीच में रहनेवाले लोगों के लिए किया जाता है। अपने को सम्बोधित करने के लिए ये जातियाँ स्वयं इन दोनों शब्दों में से किसी का प्रयोग नहीं करतीं। इस समूह के लोगों तथा भाषाओं का कुकिचिन् नाम वस्तुतः व्यावहारिक है, क्योंकि समस्त रूप से इसे द्योतित करने के लिए कोई देशी नाम नहीं है। ये सभी भाषाएँ दो मुख्य उपसमूहों में विभक्त हैं जिन्हें व्यावहारिक रूप में हम मेइथेइ तथा चिन कह सकते हैं। हम लोग पहले यह देख चुके हैं कि किस प्रकार सम्भवतः इस वंश के लोग, उत्तर अथवा उत्तर-पूर्व से, मनीपुर की घाटी की ओर चले गये और वहीं बस गये। इसी वंश की एक दूसरी शाखा दक्षिण ओर और आगे बढ़ी तथा उसने लुशाइ एवं चिन पर्वतों में अपना निवासस्थान बनाया। यदि यह बात थोड़ी देर के लिए मान ली जाय कि इस जाति का स्थानान्तरण वास्तव में इसी रूप में हुआ तो मेइथेइ मनीपुर में बसनेवाले आदि अथवा

मूल निवासियों की भाषा होगी तथा चिन् और भी दक्षिण ओर बसनेवालों की। इन दक्षिणवालों की भाषा कुछ तो प्राकृतिक और कुछ बर्मा के लोगों के सम्पर्क के कारण बड़ी तेजी से विकसित हुई। दूसरी मनीपुर की भाषा मेइथेइ का विकास स्वतंत्र रूप में, मन्द गति से हुआ।

मेइथेइ

मनीपुरी लोगों का उल्लेख सन् ७७७ ईसवी के शान लोगों के इतिहास में मिलता है। यतः बाद में मनीपुरी साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई, अतः आधुनिक मनीपुरी में पुरातन भाषा की झलक मिलती है। इसकी अपनी लिपि भी है जो आज से दो सौ वर्ष पूर्व बंगाल से आयी थी। इसी लिपि में इस राज्य के अनेक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे गये हैं। इनकी सब से पुरानी सामग्री सन् १४३२ ई० तक की है। अब पुरानी मनीपुरी लिपि समाप्त हो चुकी है और उसके स्थान पर आधुनिक बँगला-लिपि का व्यवहार होने लगा है। ऐतिहासिक ग्रंथों की भाषा भी अब पुरानी पड़ गयी है और इसे विज्ञ लोग ही पढ़ पाते हैं। श्री हाग्सन कृत 'मेइथेइ' पुस्तक में, पुरानी भाषा का एक लम्बा विवरण प्राप्त है। इसके साथ ही आधुनिक मेइथेइ में उसके प्रत्येक शब्द का प्रतिरूप भी दिया गया है। कतिपय शताब्दियों में ही एक तिब्बती-बर्मी भाषा में कितनी तेजी के साथ परिवर्तन हुआ है उसे प्रदर्शित करने के लिए इससे बढ़कर अन्य उदाहरण मिलना कठिन है। यहाँ हमें बिलकुल दो विभिन्न भाषाओं के दर्शन होते हैं, जिनमें एक शब्द की भी समानता नहीं मिलती और यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि दूसरी भाषा की उत्पत्ति पहली भाषा से हुई है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी भी यूरोप-निवासी ने पुरानी मेइथेइ का अध्ययन नहीं किया है और यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से यह अनावश्यक है तथापि वैज्ञानिक दृष्टि से इसके व्याकरण की रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। उसकी इसलिए भी आवश्यकता है कि बर्मा तथा तिब्बत के बीच में मेइथेइ ही एक ऐसी तिब्बती-बर्मी भाषा है जिसका कम से कम दो सौ वर्षों का इतिहास है। आधुनिक मेइथेइ का एक सुन्दर एवं पूर्ण व्याकरण रेवरेण्ड डब्लू० पेट्टिग्रू द्वारा लिखा गया है। यह मेइथेइ शाखा के सर्वेक्षण के प्रकाशन के समय ही प्रकाश में आया है। इस दिलचस्प भाषा के विषय में और भी अधिक जानकारी आवश्यक है। आज हमें यह ज्ञात नहीं है कि इसकी अन्य बोलियाँ भी हैं और यह सम्भव है कि इस सम्बन्ध में और खोज करने से कतिपय ऐसी बोलियों का भी पता चले जो वास्तव में मेइथेइ तथा कुकिचिन के बीच की भाषाएँ हों। आज इतना तो निश्चित है कि आधुनिक मेइथेइ में प्राचीन ध्वनि-सम्बन्धी जो सामग्री सुरक्षित है वह मुख्य

कुकिचिन् भाषा की अपेक्षा बर्मी भाषा के अधिक और तिब्बती तक के निकट सम्पर्क की है और इसके समान है। दूसरी ओर कुछ बातों में यह नागा भाषाओं के समान है और इस प्रकार यह इन भाषाओं तथा दक्षिण की अधिक विकसित भाषाओं को जोड़नेवाली कड़ी है।

चिन् भाषाएँ

चिन् भाषा के अन्तर्गत लगभग चालीस विभिन्न भाषाएँ आती हैं। इन्हें उत्तरी चिन्, मध्य-चिन्, प्राचीन कुकि तथा दक्षिणी उपसमूहों में विभक्त किया जा सकता है। प्राचीन कुकि भाषाओं का मध्य चिन् उपसमूह से अति निकट का सम्बन्ध है किन्तु ऐतिहासिक कारणों से इसके सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचार करना सुविधाजनक होगा। इनकी संख्या सोलह है और इनमें से अधिकांश मनीपुर, कचार (विशेषतया

प्राचीन कुकि उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
ह्रांग खोल	८,४५०	६७१
हल्लाम	२६,८४८	३,१३१
लैंग्रोंग	६,२६६	..
ह्मार	२,०००	८,५८६
क्यौ या चव	..	३५१
अन्य	५,२५०	१३,५०६
योग	४८,८१४	२६,२४५

उत्तरी सबडिवीजन), सिलहट तथा टिप्परा पर्वत में आजकल रहनेवाली जातियों द्वारा बोली जाती हैं। अपने वर्तमान स्थान में ये लोग गत तीन शताब्दियों के भीतर, विभिन्न समयों में, अपने मूल-स्थान लुशाई भूमि के आस-पास से आये हैं। केवल एक जाति 'ह्मार' अपने मूल-स्थान में ही रह गयी और आज इसकी भाषा में लुशेइ का अत्यधिक सम्मिश्रण है। लुशाई लोगों के अप्रत्यक्ष दबाव के कारण ही से मुख्य स्थानान्तरण उत्तर की ओर हुआ। लुशाई लोगों ने थाडो लोगों को दक्षिण से दबाया और थाडो लोगों ने प्राचीन कुकि लोगों को उत्तर की ओर, इनके वर्तमान निवासस्थान

की ओर जाने को बाध्य किया। इस समय थाडो लोग प्राचीन कुकि लोगों के पुराने स्थान को अधिकृत किये हुए हैं, किन्तु लुशाई लोग अबाधगति से निरन्तर उत्तर की ओर बढ़ते जा रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि जिन लोगों को थाडो लोग पहले बेदखल कर चुके थे, उन्हीं का वे उसी प्रदेश में अनुसरण कर रहे हैं। चूँकि ये लोग इधर बाद में आये थे अतः ये तथा इनके सहयोगी 'नूतन कुकि' कहलाने लगे। क्योंकि पुराने आये हुए लोग 'प्राचीन कुकि' थे। 'प्राचीन कुकि' से एक ही प्रकार की कई जातियों के एक समूह का बोध होता है, किन्तु 'नूतन कुकि' से केवल एकमात्र थाडो लोगों का ही बोध होता है। वास्तव में थाडो लोग उन पाँच सम्बन्धित जातियों में से एक हैं जिनमें से चार आज भी लुशाई एवं चिन् पर्वतों में निवास करती हैं। अतः 'नूतन कुकि' शब्द का परित्याग कर इन पाँच जातियों के समूह को उत्तरी चिन् के नाम से ही अभिहित करना सर्वथा उपयुक्त है। लुशाई लोग आज प्राचीन कुकि लोगों के पुराने स्थान तथा इसके अनन्तर थाडो लोगों के स्थान में निवास कर रहे हैं। थाडो लोगों को बेदखल करने के पश्चात् लुशाई लोगों ने और उत्तर की ओर बढ़ने का प्रयास किया जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें ब्रिटिश शक्ति का कोपभाजन बनना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुकिचिन् जाति का देशान्तर-गमन प्रत्यावर्तित लहरों के रूप में हुआ है जिसका परिणाम यह है कि मनीपुर में हम केवल प्राचीन मेइथेइ भाषा बोलनेवाले लोगों को ही निवास करते हुए नहीं पाते, अपितु यहाँ ऐसी अन्य जातियाँ भी हैं जिनकी भाषाएँ उसी प्रकार प्राचीन हैं तथा उनका स्वतंत्र रीति से विकास भी हुआ है। साहित्य के अभाव में इस प्रदेश की सुदूर दक्षिण की भाषाएँ तो और तीव्रगति से विकसित हुई हैं।

ह्लांग्खोल, हल्लाम्, लांग्रोंग्

मुख्य कुकिचिन् भाषाएँ 'ह्लांग्खोल', 'हल्लाम' एवं 'लांग्रोंग' हैं।[1] इनमें से ह्लांग्खोल अपनी बोली 'बेते' के साथ टिप्परा पर्वत तथा उत्तरी कचार में, हल्लाम सिलहट एवं टिप्परा पर्वत में तथा लांग्रोंग् टिप्परा राज्य में बोली जाती है। श्री सोप्पिट द्वारा लिखित ह्लांग्खोल का व्याकरण उपलब्ध है किन्तु इस सर्वेक्षण के पूर्व अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न था।

१. इसे रांग्खोल् तथा ह्लांचल भी लिखा है, किन्तु इसका शुद्ध रूप ह्लांग्खोल है।

मनीपुरी भाषाएँ

मनीपुर राज्य के प्राचीन कुकि बोलनेवाले छोटे-छोटे उपनिवेशों के लोग ग्यारह भाषाएँ बोलते हैं।[1] ये हैं—'ऐमोल' (जनगणना-संख्या ३८७), 'चिरु' (१,५७७), कोल्रेन् (६००), कोम् (२,८५५), चोते (२६४), मुन्तुक (अज्ञात), करुम् (अज्ञात), पुरुम्' (१,१३२), अनाल् (३,०६५), हिरोइ-लम्गांग् (७१४) तथा वैफेइ (२८८२)। चिरु तथा अनाल् भाषाओं का उल्लेख तो मनीपुर के सोलहवीं शताब्दी के मध्य में लिखित इतिहास तक में मिलता है और एमोळ लोगों का सर्वप्रथम उल्लेख सन् १७२३ में मिलता है। अन्य लोगों एवं भाषाओं के सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं है।

ह्मार, चव्

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ह्मार भाषा आज भी लुशाई प्रदेश में बोली जाती है तथा ह्मार लोगों ने लुशाई लोगों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया है। अन्त में, सुदूर दक्षिण, कोलडयने नदी के तट पर, चाव लोग चाव भाषा बोलते हुए मिलते हैं। ये लोग प्राचीन कुकि दासों के वंशज हैं। आज से तीन शताब्दी पूर्व अराकान प्रदेश की एक धार्मिक रानी ने इन्हें एक स्थानीय बौद्ध-मन्दिर (पगोडा) को दान कर दिया था।

उत्तरी चिन उपसमूह

उत्तरी चिन् के अन्तर्गत अपनी खोंग्जाइ, लैंग्टुंग्, जंग्शेन् तथा सैरंग् बोलियों सहित थाडो एवं सोक्ते, सियिन्, राल्ते तथा पैते बोलियाँ आती हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, थाडो लोगों को 'नूतन कुकि' कहकर भी सम्बोधित किया जाता है। इन लोगों ने प्राचीन कुकि, ह्लांग्खोल् तथा बेते जातियों को निष्कासित करके कुछ दिनों तक लुशाई एवं चिन् पर्वतमाला को अपना निवास-स्थान बनाया था। आगे चलकर लुशाई लोगों ने अपने मूल स्थान से इधर आकर धीरे-धीरे इनका उच्छेद कर डाला और तब ये लोग सन् १८४० तथा १८५० ई० के बीच कचार तथा नागापर्वत में जाकर बस गये। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में, चिन् पर्वतमाला के थाडो लोगों पर सोक्ते लोगों ने विजय प्राप्त की और इन्हें उत्तर में मनीपुर के दक्षिणी पर्वतों की ओर ढकेल दिया। आजकल ये लोग इसी स्थान पर हैं। स्थानीय लोग इन्हें खोंग्जाइ के

१. कर्नल शेक्सपियर कृत 'लुशेइ कुकि क्लैन' में पृ० १५१ पर इससे भिन्न केवल दस कबीलों अथवा जातियों की सूची दी हुई है।

नाम से अभिहित करते हैं। चिन् पर्वतमाला में अब थाडो लोगों के बहुत कम गाँव बच पाये हैं।

उत्तरी चिन् उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
थाडो	३१,४३७	३३,२५८
सोक्ते	९,००५	३०,६३३
सियिन्	१,७७०	३,१४३
राल्ते	१८,१३३	५,५३९
पैंते	..	१०,४६०
योग	६०,३४५	८३,०३३

सोक्ते, सियिन्

सोक्ते जाति के लोग, जिनमें मुख्य रूप से सोक्ते एवं कम्होव् (बर्मा के लोग इन्हें कन्होव कहते हैं) लोग सम्मिलित हैं, चिन् पर्वत के उत्तरी भाग को अधिकृत किये हुए हैं तथा सियिन् लोगों का निवास, ठीक इनके पूर्व में, सफेद किले के चारों ओर है। अन्तिम दो जातियाँ वास्तव में बर्मा की हैं और बर्मा के भाषा-सम्बन्धी सर्वेक्षण में इनका विवरण उपस्थित किया जायगा। केवल उत्तरी चिन् लोगों की कहानी पूरी करने के लिए इनका यहाँ उल्लेख किया गया है।

राल्ते

राल्ते लोग मुख्य रूप से लुशाई पर्वत के पश्चिमी भागों में पाये जाते हैं किन्तु आजकल इनके अनेक समूह कचार के मैदानों एवं पहाड़ों में बस गये हैं।

पैंते

पैंते लोग लुशाई पर्वत पर चारों ओर फैले हुए हैं और यहाँ के प्रत्येक गाँव में इस जाति के कुछ न कुछ लोग अवश्य मिल जाते हैं। इन्होंने 'दुलिएन' लोगों की प्रभुता स्वीकार कर ली है किन्तु बोलते ये अपनी ही भाषा हैं। राल्ते की भाँति ही इनकी भाषा में भी लुशेई का अत्यधिक सम्मिश्रण है।

मध्य चिन् उपसमूह

मध्य चिन् भाषाओं के अन्तर्गत शुन्कल या तशों, लै, लुशेई या दुलिएन्, बंजोगी तथा पांखु भाषाएँ आती हैं। ये सभी भाषाएँ उत्तरी उपसमूह से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं किन्तु प्राचीन कुकिचिन् भाषा से इनका और भी अधिक सम्बन्ध है। तशों लोग अपने को शुन्कल कहते हैं। ये लोग सियिन् तथा सोल्के लोगों के प्रदेश के दक्षिण

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
शुन्कल	४१,२१५	२०,७५४
लै	२४,५५०	४३,७३१
लुशेई	४०,५३९	७७,१८०
बंजोगी	८००	३
पांखु	५००	..
योग	१,०७,६०४	१,४१,६६८

में निवास करते हैं। इनका प्रदेश बर्मा के भाषासर्वेक्षण की सीमा के अन्तर्गत आता है। केवल सूची पूरी करने के लिए ही इनका यहाँ उल्लेख किया गया है। इनकी जाति शक्तिशाली है तथा चिन् पर्वत प्रदेश में अन्य जातियों की तुलना में इनकी आबादी सबसे घनी है। इस भाषा की कई बोलियाँ हैं और इनमें से केवल एक ही बोली, ज़हओ या यहोव् ऐसी है जिसके सम्बन्ध में हम नाम के अतिरिक्त कुछ अधिक जानते हैं।

लै

शुन्कल की भाँति ही लै लोगों का क्षेत्र भी वास्तव में बर्मा ही है किन्तु इनके ऐसे उपनिवेश भी हैं जिनकी भाषा इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत आती है। लै लोग चिन् पर्वत के मध्य भाग के निवासी हैं। 'लै' शब्द का अर्थ भी मध्य ही होता है। अपने सिर के आगे ये बालों का जूड़ा बाँधते हैं इसी लिए बर्मी लोग इन्हें 'बौंग्श' कहते हैं। पड़ोस की जातियाँ लै की कई बोलियों को बोलती हैं किन्तु प्रायः सभी इसके परिनिष्ठित रूप को समझ जाते हैं। ठीक यही बात शुन्कल के सम्बन्ध में भी है। शासन के लिए लै एक महत्त्वपूर्ण भाषा है और मेजर न्यूलैंड ने इसका सुन्दर व्याकरण लिखा है।

लखेर्

लै की एक बोली 'लखेर्' लुशाई पर्वत के दक्षिण में बोली जाती है। चिन् लोग इसके बोलनेवालों को 'ज़ओ' या 'ज़ो' कहकर सम्बोधित करते हैं। ये लोग 'त्लन्त्लंग (बर्मी लोग इन्हें क्लंग-क्लंग् कहते हैं) लै लोगों की एक शाखा हैं। अंग्रेज लोगों की, इनसे सर्वप्रथम भेंट अराकान तथा चटगाँव की सीमा पर हुई थी। वहाँ ये लोग 'शेंडू' कहलाते थे।

लुशेई

जिस प्रकार चिन् पर्वत में लै पारस्परिक व्यवहार की भाषा है, उसी प्रकार लुशाई पर्वत में 'लुशेई' है। यह क्षेत्र अनेक देशान्तर-ग्मन करनेवालों का अड्डा रहा है। यहाँ समय-समय बराबर विभिन्न जातियाँ आती रही हैं तथा उन्होंने अपने पूर्वनिवासियों को पश्चिम एवं उत्तर की ओर जाने के लिए बाध्य किया है। आजकल इस क्षेत्र में मुख्यरूप से लुशाई लोग रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, दक्षिण-पूर्व से आगे बढ़ने लगे। सन् १८४० तथा १८५० के बीच इन्होंने उत्तरी लुशाई पर्वत से अपने पूर्वनिवासी थाडो लोगों को कचार की ओर भेजकर उस पर अन्तिम रूप से अपना अधिकार जमा लिया और इस प्रकार ये सर्वप्रथम अंग्रेजों के सम्पर्क में आये। इसके परिणामस्वरूप इनकी उत्तर की ओर की प्रगति सर्वदा के लिए रुक गयी। इसके बाद से, इनका, अंग्रेजी राज्य से सम्बन्ध इतिहास की वस्तु है। इनके नाम की वर्तनी लुशाई है किन्तु इनकी भाषा 'लुशेई' कहलाती है। ये अपने को दुलिएन तथा अपनी भाषा को 'दलिएन तोंग' कहते हैं। इसकी कई बोलियाँ हैं जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध 'डेब्ले' है। इसे दक्षिण लुशाई पर्वत में, देमगिरि के पड़ोस के गाँवों तथा पश्चिमी हाउलांग के गाँवों में गैर-लुशाई ज्ञाति के लोग बोलते हैं। इसकी दूसरी बोली 'फन्नै' है। इसे भी दक्षिण लुशाई पर्वत की पूर्वी सीमा तथा कोलडचने नदी के बीच की गैर-लुशाई जाति के लोग बोलते हैं। परिनिष्ठित लुशेई भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा सुविख्यात है। इसके कई व्याकरण लिखे गये हैं जिनमें से आरम्भिक मिशनरियों, लोरेन तथा सैविज द्वारा लिखित व्याकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही इन लोगों ने इसका एक पूर्ण कोष भी लिखा है।

बंजोगी, पांखू

चटगाँव के पर्वत क्षेत्र में दो अन्य बोलियाँ 'बंजोगी' तथा 'पांखू' बोली जाती हैं। इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इन तीनों में लुशेई ही ऐसी भाषा है जिसके बोलनेवालों की ठीक-ठीक संख्या ज्ञात है।

दक्षिणी चिन उपसमूह

दक्षिणी चिन् उपसमूह के रूप में वर्गीकृत भाषाओं में से अपवादस्वरूप दो को छोड़कर शेष भाषाएँ भारत के सर्वेक्षण क्षेत्र के बाहर की हैं। ये दो भाषाएँ ख्यंग या शो तथा खमि, ख्वेटिम या कुमि हैं। ख्यंग या ख्येंग (यह शब्द वस्तुतः चिन् का अराकानी उच्चारण है) से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ये लोग मुख्य रूप से बर्मा के अराकान योमा के दोनों किनारों पर बसे हुए हैं, किन्तु इनमें से लगभग एक सौ

दक्षिणी चिंन् उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
चिन्मे	..	..
वेलौंग	..	..
चिन्बोक्	..	..
यिन्दु	..	१०५
चिन्बोन्	..	६८३
तौंग्थ	..	६२५३
ख्यंग	९५,५९९	१०७
खमि	१४,६२६	२७,३४६
अनु	..	७१२
म्हंग	..	..
योग	१,१०,२२५	३५,२०६

मनुष्य चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र में आ बसे हैं अतएव वे इस सर्वेक्षण की परिधि में आ जाते हैं। ऊपरवाली सूची में इनकी ९५,५९९ जो संख्या दी गयी है, वह बर्मा की सन् १८९१ की जनगणना से ली गयी है। किन्तु जिस समय गणना हुई थी उस समय खमि को छोड़कर इस उपसमूह की सभी भाषाएँ 'ख्यंग' के सामान्य नाम के अन्तर्गत ही रखी गयी थीं।

ख्यंग

ख्यंग लोगों की भाषा ने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया, जिसके परिणाम-स्वरूप मेजर फ्रेयर तथा श्री ह्यॉटन ने इसका व्याकरण तथा इसकी शब्दावलियाँ प्रस्तुत

कीं। इनके अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी इसकी शब्दसूचियाँ तैयार कीं। ये लोग आंशिक रूप में ही सभ्य हैं, इसी लिए कभी-कभी ये 'तमे चिन्' भी कहलाते हैं। ये अपने को 'शो' कहकर सम्बोधित करते हैं।

खमि

खमि लोगों को बर्मी लोग ख्वेटिम भी कहते हैं जिसका अर्थ है 'कुत्ते की दुम'। ये लोग चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र तथा अराकान में कोलडयने नदी के आस-पास पाये जाते हैं। पहले ये लोग चिन् पर्वत पर रहते थे किन्तु उन्नीसवीं सदी के मध्य में ये अपने वर्तमान स्थान पर चले आये। इनकी भाषा की अनेक शब्दावलियाँ प्राप्त हैं। रेवरेण्ड एल० स्टिलसन ने सन् १८६६ ई० में इनकी भाषा का एक संक्षिप्त व्याकरण भी प्रकाशित किया था। यह भाषा भी मुख्य रूप से बर्मा की ही है। भारत के भाषा-सर्वेक्षण में इसे सम्मिलित करने का एकमात्र कारण यही है कि इसके कतिपय बोलनेवाले लोग चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र में मिलते हैं। इस उपसमूह की अन्य भाषाएँ बर्मा में ही सीमित हैं अतएव बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण में इनके सम्बन्ध में विचार किया जायगा। तात्कालिक पूर्णता की दृष्टि से, जो नाम मिल सके हैं उन्हें सूची में दे दिया गया है; किन्तु न तो मैं निश्चयात्मक रूप से ही यह कह सकता हूँ कि भाषाओं की यह सूची पूर्ण है और न यही कह सकता हूँ कि इनके नाम शुद्ध ही हैं। अभी तक यह भी निश्चय नहीं है कि ये सभी भाषाएँ तिब्बती-बर्मी ही हैं।

चिन्मे आदि लोगों की भाषाएँ

चिन्मे लोगों के विषय में पहले यह कहा जाता था कि ये पूर्वी मॉन नदी के स्रोत की ओर बसे हैं और इनकी भाषा लै एवं चिन्बोक के बीच की कड़ी है किन्तु सन् १९०१ से इन लोगों का कुछ भी पता नहीं है। ठीक यही दशा 'वेलौंग चिन्' लोगों की भी हुई है। यह प्रसिद्ध है कि किसी समय ये लोग 'म्यित्थ' नदी के ऊपरी भाग के गाँवों में बसे हुए थे और इनके उत्तर में लै तथा दक्षिण में चिन्बोक लोग रहते थे। चिन्बोक लोग 'माव्' नदी के निचले भाग में, साचौंग तक के पर्वतों में निवास करते थे। इनके उत्तर में लै तथा वेलौंग, पूर्व में बर्मी, पश्चिम में अराकान योमा की जातियाँ तथा दक्षिण में यिन्दु चिन् लोग रहते थे। यिन्दु लोग सलिनचौंग की घाटी तथा मॉन घाटी के उत्तरी छोर पर रहते हैं। चिन्बोन लोगों ने मॉनचौंग के दक्षिणी छोर को आबाद किया है। ये लोग अराकान योमा से होते हुए मोनचौंग तक फैले हुए हैं। ये सभी स्थान बर्मा के पकोक्कु ज़िले में हैं। इसी जिले में तौंग्थ लोगों का भी निवासस्थान है।

'अनु' उत्तरी अराकान तथा 'म्हंग' अकयाब में बोली जाती है। म्हंग का विस्तार क्यौक्प्यु तक है।

कुकिचिन् भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

यहाँ कुकिचिन् भाषाओं की उन विशेषताओं की व्याख्या नहीं की जायगी जो उन्हें अन्य भाषाओं से पृथक् करती हैं। इस सम्बन्ध की आवश्यक सामग्री सर्वेक्षण के तीसरे खण्ड के तीसरे भाग में उपलब्ध् होगी। किन्तु यहाँ पर मैं उस एक विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिससे तिब्बती-बर्मी भाषाओं की रचना-प्रकृति पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। यह बात प्रायः सभी लोग जानते हैं कि इन भाषाओं में से किसी में भी मुख्यरूप में क्रिया का विकास नहीं हुआ है। यहाँ क्रिया का व्यापार क्रियावाचक विशेष्य पदों (Verbal Nouns) द्वारा सम्पन्न होता है। ये पद वास्तव में किसी दशा अथवा कार्य को द्योतित करते हैं। ये संज्ञा-पदों की भाँति ही प्रयुक्त होते हैं और इनमें अनुसर्ग संयुक्त करके अथवा इन्हें ऐसे सामासिक शब्द बनाकर जिनके अन्तिम भाग का अर्थ 'समाप्त करते हुए',' आरम्भ करते हुए', आदि होता है, हिन्दी कालवाची क्रियापदों के समान रूप बनाये जाते हैं। चिन् भाषाओं में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इस समूह की अधिकांश भाषाओं के क्रियापद भाव-वाची रूप में नहीं होते, किन्तु हम लोगों के कर्ता-वाची संज्ञापदों की भाँति इनका किसी न किसी अन्य संज्ञापद से सम्बन्ध होता है। यह कार्य सम्बन्धवाचक सर्वनाम को पूर्वपद के रूप में लाकर सम्पन्न किया जाता है। उदाहरणस्वरूप "मैं जाता हूँ" के स्थान पर यहाँ "मेरा जाना" कहा जाता है। इसी प्रकार जब हम लुशेई में यह कहना चाहते हैं कि "मैं हूँ" तो हम कहते हैं "का नी" जिसका शाब्दिक अर्थ है "मेरा होना", और जब हम कहना चाहते हैं "तू है" तो कहते हैं "इ नी", "तेरा होना"।

सक् (लूइ) समूह

जब तक बर्मा का भाषा-सर्वेक्षण पूरा नहीं हो जाता तब तक सक् या लूई समूह की स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकती। लूइ अथवा लोइ निम्न जाति के लोग हैं, ये मनीपुर राज्य के निवासी हैं। मेइथेइ तथा अपनी परम्परा के अनुसार यही लोग इस प्रदेश के आदिवासियों की सन्तान हैं। मेइथेइ जातियों के संघ ने ही इनकी उर्वरभूमि को अधिकृत किया था।[1]

१. देखो, टी० सी० हाड्सन 'द् मेइथेइज', पृ० ६५

अपने 'मनीपुर घाटी तथा उसकी पर्वतीय जातियाँ' शीर्षक विवरण में श्री मेककलॉच ने, लूइ जातियों द्वारा बोली जानेवाली तीन भाषाओं—अन्द्रो, सेंगमै तथा चैरेल्—की शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं किन्तु सर्वेक्षण के लिए कोई सामग्री न प्राप्त हो सकी। बाद

सक् (लूइ) समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
लूइ भाषाएँ—		
अन्द्रो तथा सेंगमै		..
चैरेल्		..
कदु		१८,५९४
डेंगनेत्		४,९१५
गनन्		१,०२२
सक् या थेत		६१४
	योग	२५,१४५

के विवरणों से तो ऐसा ज्ञात होता है कि अब ये लोग समाप्तप्राय हैं। मेकक़लॉच के समय (सन् १८५९) में ही इन पर मेइथेइ लोगों की प्रभुता कायम होने लगी थी।

अन्द्रो, सेंगमै, चैरेल

'अन्द्रो' तथा 'सेंगमै' प्रायः एक ही भाषा है और 'कदु' से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'कदु' की चर्चा नीचे की जायगी। 'चैरेल्' इन तीनों से अत्यधिक भिन्न है। यद्यपि तिब्बती-बर्मी उपसमूह से इसका सम्बन्ध स्पष्ट है किन्तु इस समूह की किस भाषा से इसका सम्बन्ध है, यह मैं नहीं समझ पाया। भविष्य में जब तक बर्मा से इसके सम्बन्ध की सामग्री उपलब्ध नहीं होती, तब तक अस्थायी रूप से मैंने उसे अन्य दो लूइ भाषाओं के साथ रखा है किन्तु मैं यह बतलाने में असमर्थ हूँ कि इन दोनों से वास्तव में इसका क्या सम्बन्ध है।

कदु, गनन्, सक

बर्मा के पड़ोसी जिलों म्यित्क्यिन, कथ एवं अपर चिन्द्विन् में 'कदु' तथा

अन्तिम दो ज़िलों में 'गनन्' भाषा बोली जाती हैं। गनन् वस्तुतः कदु का ही एक रूप है और इसके तथा कदु के बोलनेवाले अपने को 'अ-सक्' नाम से पुकारते हैं। इसके बाद हम 'सक्' या थेत भाषा की ओर अग्रसर होते हैं। इसका भी सम्बन्ध 'कदु' से है तथा यह सुदूर अकयाब के जिले में बोली जाती है। श्री टेलर का कथन है कि बर्मा के इतिहास के अनुसार, प्राचीन काल में सक लोग इरावदी के काँठे के ऊपरी भाग में रहते थे।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनमें से कुछ लोग, अपने मूलस्थान उत्तरी बर्मा से चलकर दक्षिण-पश्चिम की ओर अराकान में आ पहुँचे। श्री टेलर के अनुसार इनमें से कुछ लोग मनीपुर की ओर भी आये होंगे। यही लोग अन्द्रो तथा सेंगमै जातियों के पूर्वज रहे होंगे। इसकी दूसरी सम्भावित व्याख्या यह है कि मूल कदु-सक लोग उत्तरी बर्मा में रहते हुए ही मनीपुर में भी फैल गये तथा जब सक लोग दक्षिण-पश्चिम ओर चले गये, म्यित्क्यिन ज़िले तथा उसके पड़ोस के कदु लोगों की भाँति ही, अन्द्रो एवं सेंगमै लोग भी पीछे छूट गये। ये लोग निम्नश्रेणी के थे तथा मेइथेइलोगों ने इन्हें अधिकृत कर लिया था। यह तथ्य इस बात को प्रमाणित करता है कि ये लोग इस प्रदेश के आदिवासी थे तथा जब मेइथेइ लोगों ने इस प्रदेश पर अधिकार किया था, तो ये लोग यहाँ मौजूद थे।

डेंगनेत्

अन्त में हम लोग डेंगनेत् भाषा की ओर आते हैं। इसमें भारतीय आर्यभाषा बँगला का अत्यधिक सम्मिश्रण है। ये लोग चिन्दविन् के निचले भाग में रहनेवाले, सक युद्धबंदियों के वंशज हैं। तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, अराकान-नरेश मिण्डी ने इन्हें बन्दी बनाया था तथा इन्हें अकयाब जिले में बसने के लिए बाध्य किया था।[2]

तिब्बती-बर्मी उपसमूह की शेष भाषाएँ बर्मा की हैं और इनके सम्बन्ध में विचार का भार बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण पर छोड़ना चाहिए। केवल पूर्णता के विचार से अपने वर्तमान ज्ञान के आधार पर, मैं इन भाषाओं की सूची प्रस्तुत करूँगा।

१. बर्मा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल, खण्ड XII भाग १ (१९२२) में इसका कबुस रूप मिलता है। यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि 'सक' शब्द लिखित रूप में बहुत पुराना है, किन्तु आजकल बोल-चाल की भाषा में इन्हें 'थेट्' कहा जाता है।

२. १९२१ की बर्मा की जनगणना, परिशिष्ट बी १०

बर्मी समूह

बर्मी समूह के अन्तर्गत, मैं यहाँ केवल बर्मी तथा उससे प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित भाषाओं को ही न रखूँगा किन्तु उन अनेक भाषाओं की भी गणना करूँगा जो अब तक बर्मी तथा काचिन एवं अन्य भाषाओं का सम्मिश्रण कहकर वर्गीकृत की जाती थीं। इनके विषय में यह भी कहा गया है कि लूइ लोगों की भाँति ही इन भाषाओं की बोलने-वाली जातियाँ भी, उत्तरी बर्मा से देशान्तरगमन करते समय, बर्मी लोगों के अवशिष्ट

बर्मी समूह

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
स्ज़ि	५,६६३
लशि	१६,५७०
मरु	२०,५७७
मैंगुथ	३३९
फुन्	२४३
म्रू	२२,९०७
बर्मी	८४,२३,२५६
अराकानी	३,०४,५४९
तौंग्यो	२२,५३२
दनु	७२,९५५
इन्थ	५५,००७
तवोयन्	१,३१,७४८
चौंगथ	९,०५२
यन्व्ये	२,५०,०१८
अन्य	१७९
योग	९३,३५,५९५

रूप में आयी हों अथवा उनकी पूर्वज हों या सम्भवतः ये लोग उसी मूल वंश के हों जिसके बर्मी लोग थे किन्तु ये लोग उस मूल स्थान से बर्मी लोगों के बाद आये हों। जब तक बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण द्वारा इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो जाता तब तक मैंने इन्हें बर्मी समूह के साथ ही रखा है। 'स्ज़ि' या 'अत्सि' तथा लशि या लेची मूलतः मिश्रित जातियाँ हैं। ये लोग बर्मी सीमा के साथ-साथ उत्तर, पूर्व एवं भामो

के दक्षिण-पूर्व फैले हुए हैं। इनका सम्बन्ध प्रसिद्ध लेपै-काचिन् जाति से है किन्तु कतिपय विद्वान् इन्हें संकर जाति का मानते हैं। म्यित्क्यिन तथा भामो में बोली जाने-वाली 'मरु' की भी वही विशेषताएँ हैं जो स्जि तथा लशि की। श्री क्लार्क ने इसका व्याकरण लिखा है तथा इसकी शब्दावली भी प्रस्तुत की है। साधारणतः इसके बोलने वाले कचिन रूप में वर्गीकृत किये जाते हैं किन्तु स्जि एवं लशि लोगों की भाँति ही ये इस वर्गीकरण को स्वीकार नहीं करते। इस अस्वीकृति की यथार्थता वस्तुतः नृ-विज्ञान तथा भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धानों से सिद्ध हो जाती है।

मैंग्थ, फुन, म्रू

ठीक इन तीनों की भाँति मैंगथ भी है। इसके बोलनेवाले अपने को 'न्ग-चंग' कहते हैं किन्तु शान लोग इन्हें 'मुंग्स' नाम से पुकारते हैं। यह अन्तिम नाम ही बर्मी लोगों के मुँह में बिगड़कर 'मैंग्थ' में परिणत हो गया है। यह उत्तरी शान-राज्य, युन्नन् तथा उत्तर-पश्चिमी चीन में बोली जाती है। फुन (बर्मी में इसकी वर्तनी ह्पुन है) भाषा-भाषी समाप्त हो रहे हैं और अब इसके बोलने-वाले बहुत थोड़े लोग रह गये हैं। इस जाति के लोग इरावदी नदी के पुराने संकीर्ण पथ पर, जो भामो तथा म्यित्क्यिन् ज़िलों को विभक्त करने वाली रेखा के कुछ मील उत्तर तथा दक्षिण प्रसरित है, रहते हैं। यह भाषा प्राचीन बर्मी भाषा की भाँति दिखाई देती है, किन्तु इसके अनेक शब्द ऊपर की चार भाषाओं के अत्यधिक निकट हैं। म्रू अथवा म्रो, कई बातों में विचित्र भाषा है। यह मुख्य रूप से बर्मी भाषा की ध्वन्यात्मक प्रणाली का अनुसरण करती है किन्तु कहीं-कहीं यह कई खास बातों में उससे भिन्न भी है। इसमें ऐसे रूप भी मिलते हैं जो केवल कुकिचिन् के रूपों के समानान्तर ही नहीं हैं अपितु ये बोडो एवं नागा भाषाओं के भी समान हैं। यह मुख्य रूप से उत्तरी अराकान तथा अक्याब में बोली जाती है किन्तु इसके कतिपय बोलनेवाले चटगाँव के पर्वतीय प्रदेश में भी मिलते हैं।

बर्मी

जहाँ तक मुख्य बर्मी भाषाओं का सम्बन्ध है, मैं केवल उन्हीं का उल्लेख करूँगा जो पहले की जनगणना की रिपोर्ट में आ चुकी हैं। इन रिपोर्टों में इन सब को स्वतंत्र भाषाएँ बतलाया गया है किन्तु सम्भव है कि बर्मा के 'भाषासर्वेक्षण' में यह सिद्ध हो सके कि इनमें से अधिकांश या सभी केवल बर्मी भाषा की बोलियाँ मात्र हैं। परिनिष्ठित बर्मी भाषा समस्त प्रदेश में शिक्षित लोगों द्वारा बोली जाती है। साहित्य में स्कूलों

एवं सरकारी कामों में इसी भाषा का प्रयोग होता है। लिखित भाषा का स्वरूप सर्वत्र समान है किन्तु स्थानीय भाषा में बहुत अन्तर है।

अराकानी

बर्मी भाषाओं में अराकानी या रखैंग ही केवल एक ऐसी भाषा है जिसके क्षेत्र की इस सर्वेक्षण में जाँच की गयी है। बाकरगंज, चटगाँव तथा चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्रों में, 'मघी' नाम के अन्तर्गत इसका उल्लेख हुआ है। इन क्षेत्रों में बर्मा से ही आकर लोग बस गये हैं किन्तु इस बोली का वास्तविक क्षेत्र अक्याब, सैंडोवे तथा बसीन है। मुख्य बर्मी लोगों से अराकानी प्राचीन काल में ही पृथक् हो गये और बीच में पहाड़ी क्षेत्रों के आ जाने से इनका पारस्परिक सम्बन्ध भी टूट गया। यही कारण है कि अराकानी का स्वतंत्र रूप से विकास हुआ और कई बातों में परिनिष्ठित भाषा तथा इसमें बहुत अन्तर है। यह बात प्रसिद्ध है कि बर्मी का शुद्ध उच्चारण लिखित रूप में द्योतित उच्चारण से अत्यधिक भिन्न है। दूसरे शब्दों में बोलचाल की भाषा का विकास लिखित भाषा की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हुआ है और लिखित भाषा प्राचीन रूपों का प्रतिनिधित्व करती है। इसका एक प्रमाण यह है कि अराकानी भाषा का उच्चारण लिखित बर्मी भाषा से तो मिलता है किन्तु बोलचाल की बर्मी से वह भिन्न है।

तौंग्यो, दनु

'तौंग्यो' भाषा मेइकतिला एवं दक्षिणी शान राज्य में तथा 'दनु' शान राज्य तथा उसके पड़ोसी जिलों में बोली जाती है। तौंग्यो लोग अपने को 'तारु' कहते हैं।

इन्थ, तवोयन्

इन्थ भी दक्षिणी शान राज्य की भाषा है और 'तवोयन्' या 'दवे' तवोय में बोली जाती है। इन दोनों भाषाओं का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्री टेलर ने मुझे सूचित किया है कि इस बात का पक्का प्रमाण है कि इन्थ लोग आज से सात सौ वर्ष पूर्व तवोय छोड़कर, अपने वर्तमान निवासस्थान इन्ले झील के पास आये थे। उस समय ये दोनों भाषाएँ एक थीं।

चौंथ, यन्ब्ये

चौंथ भाषा अक्याब तथा अराकान् के पर्वतीय क्षेत्र में बोली जाती है तथा यन्ब्ये क्यौक्प्यु एवं अक्याब की बोली है।

लोलो-मोसो समूह

लोलोमोसो समूह की भाषाएँ युन्नन तथा उत्तर-पश्चिमी चीन में बोली जाती हैं, किन्तु इनके बोलनेवाले कुछ लोग शान राज्य में जा पहुँचे हैं, अतएव इनका विवरण बर्मा के भाषासर्वेक्षण में होगा। इस सर्वेक्षण से इसका इसके अतिरिक्त कुछ भी सम्बन्ध नहीं है कि इस समूह की भाषाएँ तिब्बती-बर्मी उपसमूह के अन्तर्गत

लोलो-मोसो समूह

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
लोलो	३५,०८५
अ–हि	..
अ–क	३४,२६५
अको	५१
अनिर्णीत	७६९
लिसु	१३,१५२
लिसुअव	..
अनिर्णीत	१३,१५२
मो–सो	२६,४१८
लहु	..
क्वि	३,६७६
अनिर्णीत	२२,७४२
अन्य	१,०३१
योग	७५,६८६

आती हैं तथा कचिन से इनका थोड़ा बहुत सम्बन्ध है। यह समूह इसलिए भी दिलचस्प है कि इसका 'सि-हिअ' भाषा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। सि-हिअ किसी समय, महान् रेगिस्तान की सीमा पर, तौंगत प्रदेश में प्रचलित थी, किन्तु कई शताब्दियों से यह मृतक हो चुकी है। इसके नमूने चीनी लेखकों की कृतियों में सुरक्षित हैं तथा डा० लौफ़र ने "तौंगपओ" के पृष्ठों में इसका अध्ययन एवं वर्णन प्रस्तुत किया है।[1] फ्रेंच मिशनरियों ने लोलो भाषाओं का काफी अध्ययन किया है और

१. सेकेण्ड सीरीज खण्ड XVII नं० १ मार्च, १९१६

तिब्बती-बर्मी अन्य असाहित्यिक भाषाओं की अपेक्षा हम लोगों का इनके सम्बन्ध में अधिक ज्ञान है। निस्सन्देह बर्मा के भाषासर्वेक्षण में इनका और अधिक अध्ययन होगा। यहाँ पर इस समूह की भाषाओं का नामोल्लेख मात्र ही पर्याप्त होगा। इनके सम्बन्ध में और अधिक सामग्री सर्वेक्षण के इस खण्ड के द्वितीय भाग में तुलनात्मक शब्दावली के अन्तर्गत मिलेगी। इसकी मुख्य भाषाएँ लोलो, लिसु तथा मो सो हैं।

लोलो, अ-हि, अ-क, अ-कों लिसु, लिस्, अव, मोसो

स्वयं लोलो कई भाषाओं का उपसमूह है। इनमें से अ-हि, अ-क (अपर बर्मा गज़ेटियर में इसका नाम 'अख' मिलता है) तथा अ-कों मुख्य भाषाएँ हैं। अ-क को कभी कभी कव नाम से भी पुकारते हैं। युन्नन की लिसु भाषा के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है किन्तु इसकी लिस्, अव बोली की शब्द-सूचियाँ शान राज्य से प्राप्त की गयी हैं। इधर श्री एम० जे० ओ० फ्रेज़र महोदय ने लिसु का व्याकरण भी प्रकाशित कराया है। मोसो (अपर बर्मा के गज़ेटियर में यह नाम 'मोस्सो' या 'मुसु' रूप में मिलता है) का मुख्य स्थान मेखांग नदी के काँठे में है। यह अपर बर्मा से संलग्न, पूर्व ओर, तथा लि-किआँग के चारों ओर, यांग-त्से के काँठे में स्थित है।

ल्हु तथा क्वि इसकी बोलियाँ बतलायी जाती हैं।

सातवाँ अध्याय

द्रविड़ परिवार

द्रविड़ जाति

द्रविड़ जाति समस्त भारत में फैली हुई है किन्तु इस परिवार के सभी लोग द्रविड़ भाषाएँ नहीं बोलते। उत्तर में, इनमें से अनेक लोग आर्य बन गये हैं तथा उन्होंने आर्य भाषाएँ अपना ली हैं, यद्यपि उनमें उनके वंश की विशेषताएँ सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त मध्य एवं दक्षिण भारत में लाखों ऐसे लोग निवास करते हैं जो अपनी शारीरिक गठन के कारण नृ-विज्ञानियों द्वारा द्रविड़ नाम से वर्गीकृत किये गये हैं। वास्तव में इनके अन्तर्गत दो महत्त्वपूर्ण परिवारों के लोग आते हैं। इनमें से एक परिवार है मुण्डा तथा दूसरा है मुख्य रूप से द्रविड़ भाषाएँ बोलनेवाला परिवार। चूँकि इन दोनों परिवारों की भाषाओं के बोलनेवाले लोगों की शारीरिक गठन प्रायः समान है, अतः कई विद्वानों के अनुसार इन दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध भी है, किन्तु सर्वेक्षण द्वारा विस्तृत अनुसन्धान के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के सिद्धान्त के लिए कोई आधार नहीं है। चाहे इन दोनों की ध्वनिप्रणालियों को लें या इनके शब्द-धातु-रूपों एवं शब्दावलियों को लें, द्रविड़ लोगों का मुण्डा भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों ध्वनि, लिंगनिर्देश, संज्ञा की रूपरचना, कर्म का क्रिया से सम्बन्ध द्योतित करने के ढंग, संख्यावाचक शब्दों, क्रियारूपों, नकारात्मक रूपों के निर्देश की प्रक्रियाओं एवं शब्दावलियों म एक दूसरे से भिन्न हैं। कुछ बातों में इनकी पारस्परिक समानता भी है किन्तु यह समानता तो विश्व में बिखरी हुई अनेक भाषाओं में भी वर्तमान है।

एक ही द्रविड़ जाति के, जो वास्तव में दो विभिन्न परिवारों की भाषाओं का प्रयोग करती है, प्रश्न को नृ-विज्ञानियों के हाथ में छोड़कर, हम उस भाषा के सम्बन्ध में यहाँ विचार करेंगे जिसे भाषाशास्त्री द्रविड़ के नाम से अभिहित करते हैं।

अन्य भाषाओं से सम्बन्ध

हमें यह ज्ञात नहीं है कि द्रविड़ भाषा-भाषी कब से भारत में रह रहे हैं। इतना तो निश्चय प्रतीत होता है कि आर्यों के आगमन के बहुत पहले से ही ये इस देश में

वर्तमान थे किन्तु यह कहना कठिन है कि ये यहाँ के आदिवासी थे अथवा ये भी यहाँ कहीं बाहर से ही आये थे। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि उत्तर-पश्चिम प्रदेश में 'ब्राहुई' नामक एक ऐसी जाति है जिसके बोलनेवालों की शारीरिक गठन तो द्रविड़ लोगों की भाँति नहीं है किन्तु इनकी भाषा द्रविड़ परिवार की है। सुदूर उत्तर-पश्चिम में इस भाषा की स्थिति के कारण बिशप काल्डवेल तथा अन्य विद्वानों का यह मत है कि आर्य लोगों की भाँति द्रविड़ लोग भी उत्तर-पश्चिम के मार्ग से ही भारत में प्रविष्ट हुए होंगे, किन्तु इन विद्वानों के तर्क सारयुक्त नहीं हैं। इस मान्यता के अनुसार ब्राहुई भाषा-भाषी लोग उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण करनेवालों की पिछली पंक्ति में होंगे किन्तु इसके विपरीत यदि यह मान लिया जाय कि पूर्व अथवा दक्षिण भारत की ओर से राष्ट्रीय आन्दोलन करनेवालों के ये अग्रगामी दल के लोग हैं तो वास्तविक तथ्य में कोई अन्तर न होगा। इसके अतिरिक्त इस विषय में शारीरिक गठन का कोई महत्त्व नहीं है। बात यह है कि कई शताब्दियों से ब्राहुई लोग ईरानियों के बीच रह रहे हैं और इनसे इनका विवाहसम्बन्ध भी होता है। उधर निकटतम द्रविड़ भाषा से ये कई सौ मील की दूरी पर हैं। यदि यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध भी हो जाय कि नृ-विज्ञानी जिस शारीरिक गठनवाले लोगों को द्रविड़ नाम से सम्बोधित करते हैं वह मूल ब्राहुई लोगों की भी थी तो जिस अवस्था में वे आज रह रहे हैं उसमें वे अपनी मूल विशेषताएँ भी सुरक्षित रखे हुए हैं, इसमें आश्चर्य होगा। यह सिद्ध करने के लिए कि द्रविड़ भाषाओं का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम भारत के और बहुत आगे की भाषाओं, तुर्की, फिन्नीय तथा हंगेरीय से है तथा किसी समय द्रविड़ लोग सिदियन प्रदेश के निवासी थे, विशप काल्डवेल ने भाषासम्बन्धी बहुत सामग्री एकत्र की। जनसाधारण के लिए लिखित अनेक पुस्तकों में उनके इस सिद्धान्त की चर्चा हुई किन्तु इसे आधुनिक विद्वानों की स्वीकृति प्राप्त न हो सकी।

इस विषय में पहले लिखा जा चुका है कि मुण्डा भाषाओं से इनका सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो उद्योग किया गया है वह असफल रहा है। अन्त में आस्ट्रेलिया की भाषाओं से इनके सम्बन्ध का उल्लेख आवश्यक है। इसके अनुसार प्रागैतिहासिक काल में जब लैमूरियन महाद्वीप स्थित था तब आस्ट्रेलिया तथा भारत में स्थलमार्ग द्वारा सम्बन्ध था। इसमें सन्देह नहीं कि आस्ट्रेलिया की भाषाओं तथा द्रविड़ भाषाओं में कुछ समानता है किन्तु दोनों का भाषा विषयक पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए अभी सामग्री का अभाव है। इस समय इस सम्बन्ध में हमारा जो कुछ ज्ञान है, उसके आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनमें पारस्परिक सम्बन्ध असम्भव नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व तक, आस्ट्रेलिया की भाषाओं के सम्बन्ध में यूरोपीय

विद्वानों का ज्ञान बहुत अल्प था। सन् १९१९ में पीटर डब्लू० शिमिट इस महाद्वीप की भाषाओं का वर्गीकरण करने में सफल हुए।[१] इस सम्बन्ध में दूसरा कार्य यह है कि न्यूगिनी और तदुपरान्त भारत (दक्षिण भारत) की भाषाओं का अनुसन्धान किया जाय। पीटर शिमिट के तत्त्वावधान में यह कार्य आरम्भ भी हुआ था[२] किन्तु युद्ध (प्रथम युद्ध) के कारण इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी सामग्री प्रकाश में नहीं आयी। अभी प्रतीक्षा अपेक्षित है। आशा है कि निकट भविष्य में इस सम्बन्ध में इतनी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जायेगी कि यह समस्या सदैव के लिए सुलझ जायेगी।

स्थान

वर्तमान समय में द्रविड़ भाषाओं का स्थान दक्षिण भारत है। इसके विपरीत उत्तर भारत में आर्य भाषाओं का क्षेत्र है। दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं की उत्तरी सीमा, मध्यप्रदेश स्थित चाँदा जिले का उत्तर-पूर्वी कोना है। यहाँ से अरब सागर की ओर से होती हुई यह सीमा कोल्हापुर के दक्षिण-पश्चिम ओर जाती है और तदुपरान्त पश्चिमी घाट का अनुसरण करती हुई तथा गोआ से लगभग दो सौ मील नीचे से गुजरती हुई समुद्र से मिल जाती है। चाँदा जिले की पूर्व की सीमा बहुत कुछ अनिश्चित है। इधर के पर्वतों में मुख्य रूप से द्रविड़, यत्रतत्र मुंडा तथा मैदानों में आर्य भाषाएँ प्रचलित हैं। कन्ध भाषा का क्षेत्र, मुख्य रूप से उत्तर पूर्व में है। यह आर्यभाषा, उड़िया से चारों ओर से पूर्ण रूप से घिरी हुई है। इस ठोस क्षेत्र के अतिरिक्त, सुदूर उत्तर में, मध्य प्रदेश एवं छोटा नागपुर तथा गंगा के किनारे राजमहल की पहाड़ियों तक, द्रविड़ भाषा-भाषियों के द्वीप वर्तमान हैं। इनमें से अधिकांश, अति शीघ्रता से, आर्य प्रभाव के अन्तर्गत जा रहे हैं। इधर अधिकांश द्रविड़ भाषा-भाषी आर्यों की जाति-प्रणाली तथा टूटे-फूटे रूप में आर्य भाषा को अपना रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि भाषा के द्वारा इनकी वास्तविक स्थिति का पता लगाना कठिन है। अन्त में सुदूर बलूचिस्तान में ब्राहुई भाषा मिलती है। इसके सम्बन्ध में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह निश्चय करना कठिन है कि यह द्रविड़ लोगों के अग्रगामी अथवा पश्चगामी देशान्तर-गमन का परिणाम है।

१. Die gliederung der Australischen Sprachen, Vienna 1919 The classification of the Australian languages.

२. वही पृ० २२.

द्रविड़ भाषाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

यदि श्री बर्नेल का उद्धरण[१] ठीक है तो दक्षिण की भाषाओं से परिचित सातवीं शताब्दी के एक संस्कृत के विद्वान् के अनुसार, इन्हें दो भागों — आन्ध्र तथा द्रविड़ देश की भाषाओं के रूप में—विभक्त किया जा सकता है। इनमें से प्रथम भाग तो आधुनिक तेलुगु तथा द्वितीय आधुनिक तमिल एवं उससे सम्बन्धित भाषाओं का प्रतिनिधि होगा। ये दोनों विभाग वस्तुतः आजकल की उपलब्ध भाषाओं के लिए भी उपयुक्त एवं अनुकूल होंगे। आन्ध्र की भाषा ही वस्तुतः तेलुगु की पूर्वज थी। कुरुख, माल्तो, कुइ, कोलामी तथा गोंडी बीच की भाषाएँ हैं और ब्राहुई तथा कतिपय मिश्रित भाषाओं को छोड़कर इस परिवार की अन्य भाषाएँ द्रविड़ से ही प्रसूत हुई हैं। विभिन्न द्रविड़ भाषाओं का पारस्परिक सम्बन्ध नीचे की तालिका में प्रदर्शित किया गया है—
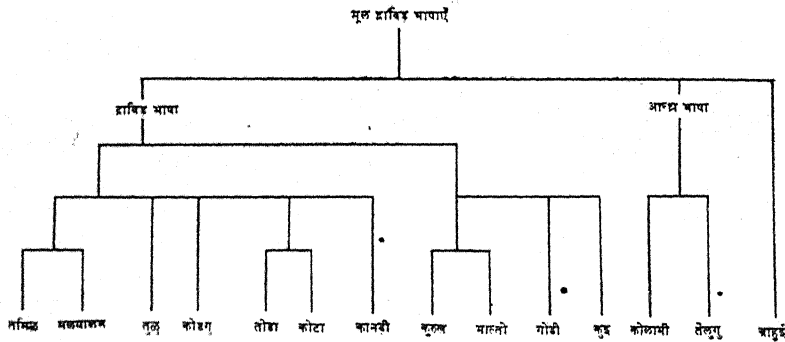
चित्र १०

द्रविड़ भाषाओं की तालिका

इस आधार पर हम द्रविड़ भाषाओं को चार समूहों में बाँट सकते हैं। इनमें एक जोड़ा अर्ध द्रविड़ (मिश्रित) भाषा को और सम्मिलित कर यह संख्या पाँच की जा सकती है। प्रत्येक समूह के बोलनेवालों की संख्या सर्वेक्षण तथा सन् १९२१ की जनगणना

१. यहाँ इण्डियन एण्टीक्वेरी के प्रथम खण्ड पृ० ३१० पर बर्नेल द्वारा लिखित एक लेख का निर्देश है और यहाँ संस्कृत विद्वान से कुमारिल भट्ट से तात्पर्य है। संस्कृत का जो उद्धरण इस लेख में दिया गया है उसकी शुद्धता सन्देहास्पद है। देखो श्रीनिवास अयंगर का लेख इण्डियन एन्टीक्वेरी खण्ड ४२, पृ० २०० तथा उसके आगे।

के अनुसार नीचे दी जा रही है। चूँकि इस सर्वेक्षण का क्षेत्र दक्षिण तक नहीं था, अतः द्रविड़ परिवार की अधिकांश भाषाएँ इस सर्वेक्षण की सीमा के बाहर रहीं। किन्तु इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत जो द्रविड़ भाषाएँ आयी हैं उनसे सम्बन्ध स्पष्ट करने के

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
द्रविड़समूह	३,०९,४०,५५०	३,७२,८५,५९४
मध्यसमूह	२१,८०,८५८	३०,५६,५९८
आन्ध्रभाषा (तेलुगु)	१,९७,८३,९०१	२,३६,०१,४९२
उत्तर-पश्चिमी भाषा ब्राहुई	१,६५,५००	१,८४,३६८
अर्धद्रविड़ (मिश्रित)	२,४५२	..
योग	५,३०,७३,२६१	६,४१,२८,०५२

लिए इन दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं का उल्लेख आवश्यक है। उधर वर्मा का भाषा-सर्वेक्षण तो आरम्भ हो गया है किन्तु निकट भविष्य में मद्रास राज्य के सर्वेक्षण की कोई आशा नहीं है। अतएव इस परिवार की सभी भाषाओं का मैं विस्तार के साथ वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा।

द्रविड़ भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

द्रविड़ भाषाएँ अनेकाक्षरात्मक एवं संयोगात्मक हैं किन्तु इनमें संयोगात्मक प्रत्यय उतनी अधिक संख्या में नहीं होते जितने कि मुण्डा परिवार की भाषाओं में। ये भाषाएँ वास्तव में बाद की अवस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं, क्योंकि यद्यपि ये आज भी योगात्मक हैं तथापि इनके प्रत्यय कहीं सन्धि, कहीं वर्णलोप तथा कहीं स्वर-परिवर्तन के कारण, परिवर्तित होने प्रारम्भ हो गये हैं। इनके प्रत्यय यद्यपि कहीं-कहीं, अपने मूलरूप को छोड़ चुके हैं, फिर भी ये आज भी स्वतंत्र हैं तथा ये प्रातिपदिक से, जो स्वयं अपरिवर्तित रहते हैं, अलग किये जा सकते हैं। द्रविड़ भाषाओं की निम्नलिखित मुख्य विशेषताओं का साधारण विवरण, एक-आध परिवर्तन को छोड़कर, मद्रास राज्य की शासन-पुस्तिका से लिया गया है—

"द्रविड़ भाषाओं में सभी अप्राणिवाचक एवं ज्ञानहीन संज्ञापद नपुंसक लिंग में होते हैं। पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग के भेद यहाँ केवल अन्य पुरुष के सर्वनाम, सर्वनामीय प्रत्ययों से निर्मित विशेषणों तथा अन्यपुरुष के क्रियापदों में प्रत्यक्षरूप में मिलते हैं। अन्य सभी अवस्थाओं में लिंग का निर्देश पुरुष एवं स्त्री-वाची शब्दों द्वारा किया जाता है। द्रविड़ भाषाओं में संज्ञा के रूप कारकीय प्रत्ययों द्वारा नहीं सम्पन्न होते अपितु ये अनुसर्गों अथवा ऐसे पदों को संयुक्त करके सम्पन्न होते हैं जिन्हें अलग किया जा

	सर्वेक्षण	जनसंख्या १९२१
तमिल	१५,२७२,८५६	१८,७७९,५७७
मलयालम	५,४२५,९७९	७,४९७,६३८
कन्नड़ा	९,७१०,८३२	१०,३७४,२०४
कोडगु	३७,२१८	३९,९९५
तुफ़ु	४९१,७२८	५९२,३२५
तोडा	७३६	६६३
कोटा	१,२०१	१,१९२
योग	३,०९४,४०,५५०	३,७२,८५,५९४

सकता है। इन भाषाओं में नपुंसक संज्ञापदों के बहुवचन के रूप बहुत कम मिलते हैं। द्रविड़ के सम्प्रदान (कु, कि अथवा गे) की समता संस्कृत अथवा अन्य किसी भारोपीय भाषा में नहीं मिलती। हिन्दी के "को" से इसकी समानता आकस्मिक है। उपसर्ग के स्थान पर इन भाषाओं में अनुसर्ग का प्रयोग होता है। संस्कृत में संज्ञापदों की भाँति विशेषण के रूप भी सम्पन्न होते हैं किन्तु द्रविड़ भाषाओं में विशेषण के इस प्रकार के रूपों का अभाव है। भारोपीय भाषाओं के विपरीत, द्रविड़ भाषाओं की यह विशेषता है कि इनमें यथासम्भव भाववाचक संज्ञा अथवा विशेषण के बदले क्रिया के सम्बन्ध-वाची कृदन्तीय पदों का व्यवहार होता है। द्रविड़ भाषाओं की एक विशेषता (जो मुण्डा में भी उपलब्ध है) यह है कि इनमें उत्तमपुरुष सर्वनाम के बहुवचन के दो रूप मिलते हैं। इनमें से एक रूप में तो बोलनेवाला भी सम्मिलित रहता है किन्तु दूसरे रूप में उसका अभाव रहता है। द्रविड़ भाषाओं में कर्मवाच्य का अभाव है। इनमें कर्मवाच्य को 'सहने करने' आदि के भाव को द्योतित करनेवाले क्रियापदों द्वारा द्योतित किया जाता है। भारोपीय भाषाओं के विपरीत, द्रविड़ भाषाओं में, क्रियारूपों के

निर्माण में शतृ-पदों का ही अधिक हाथ होता है। द्रविड़ क्रियापदों में नकारात्मक एवं स्वीकारात्मक वाच्य होते हैं। यह द्रविड़ भाषाओं की उल्लेखनीय विशेषता है कि इनमें सम्बन्धसूचक सर्वनाम के स्थान पर सम्बन्धवाची कृदन्तीय संज्ञापद (Relative Participial Noun) का प्रयोग होता है। ये संज्ञापद कृदन्त पदों में प्रत्यय लगाकर बनते हैं। इस प्रकार तमिल में "व्यक्ति जो आया" के लिए "जो–आया" कहते हैं।"

कतिपय फुटकर बोलियों को छोड़कर द्रविड़ समूह की केवल एक ही भाषा, कन्नड, इस सर्वेक्षण की सीमा के अन्तर्गत आ पायी है। इसका कारण यह है कि इसके बोलनेवाले अनेक लोग बम्बई प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत रहते हैं। किन्तु इस पर भी इस भाषा के बोलनेवाले इससे दुगुने लोग मद्रास, निजाम राज्य, मैसूर तथा कुर्ग में रहते हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, यहाँ पर मैं इस समूह की प्रत्येक भाषा का संक्षिप्त परिचय देना उचित समझता हूँ।

तमिल

द्रविड़ भाषाओं में सर्वाधिक विकसित एवं प्रसिद्ध 'तमिल' है। दक्षिण भारत में मैसूर तथा पश्चिमी घाट तक इसका क्षेत्र है और उत्तर में यह मद्रास शहर तथा उसके आगे तक प्रचलित है। सीलोन द्वीप के उत्तरी भाग में भी यह बोल-चाल की भाषा के रूप में प्रचलित है। तमिल भाषा-भाषी बर्मा, कलिंग की ओर भी गये हैं। कुली के रूप में ये लोग 'मारिशस' तथा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में भी जा बसे हैं। घरेलू नौकरों के रूप में तमिल भाषा-भाषी हिन्दुस्तान के बड़े शहरों में तथा छावनियों में फैल गये हैं। उत्तर भारत के घरेलू नौकरों के विपरीत मद्रासी नौकरों में खाने-पीने, कपड़े तथा धर्म के सम्बन्ध में कम कट्टरता है और इस प्रकार वे परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बदल लेते हैं। तमिल में, जो कि कभी-कभी 'मलबर' तथा दक्षिण के मुसलमानों एवं पश्चिम भारत के लोगों द्वारा 'उर्व' कहलाती है, पर्याप्त एकरूपता है। इसमें जैसा कि निम्न तालिका में दिया गया है, केवल कुछ ही साधारण बोलियाँ उपलब्ध हैं।

'इरुला' तथा 'कसुवा' बोलियों को नीलगिरि की कुछ छोटी संख्यावाली जातियाँ बोलती हैं। इनका सर्वेक्षण नहीं हो पाया है। तमिल की बोलियों को वर्गीकृत करने में मैंने अपने पहले के विद्वानों का अनुसरण किया है, किन्तु उन्हें स्वयं इस बात का पता नहीं है कि 'तमिल' तथा 'कसुवा' में क्या संबन्ध है। 'कोरव', 'कैकाडी' तथा 'बरगन्डी' बोलियाँ दक्षिण भारत की कतिपय घुमन्तू जातियों द्वारा व्यवहृत होती हैं। इनमें से कई जातियाँ बम्बई तथा मध्यप्रदेश में भी मिलीं, जो इस प्रकार के सर्वेक्षण के

अन्तर्गत आ गयी हैं। इसका विश्लेषण तथा विवरण सर्वेक्षण के चौथे खण्ड में दिया गया है। तमिल के और क्षेत्रीय एवं स्थानीय रूप हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में सर्वेक्षण को कुछ पता नहीं लगा है। परिनिष्ठित तमिल के भी दो रूप हैं; इनमें से एक

तमिल की बोलियाँ

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित-अनिर्णीत	१,५२,०७,२५६
कोरव या येरुकल	५५,११६
इरुला	१,६१४
कसुवा	३१६
कैकाडी	८,२८९
बरगन्डी	२६५
योग	१,५२,७२,८५६

'शेन्' (पूर्ण अथवा साधु) तथा दूसरा 'कोडुन्' (ग्रामीण अथवा असाधु) है। इनमें से प्रथम साहित्यिक भाषा है तथा कविता में भी इसका प्रयोग होता है और इसके अनेक कृत्रिम रूप हैं। 'कोडुन्' तमिल का प्रयोग साधारण जीवन में होता है।

लिपि

प्राचीन तमिल की अपनी लिपि 'वट्टेलुट्टु' अर्थात् वर्तुलाकार है। आधुनिक तमिल लिपि की उत्पत्ति, अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि से, प्राचीन ग्रंथ-लिपि के द्वारा हुई है। प्राचीन ग्रंथलिपि का प्रयोग दक्षिण में संस्कृत लिखने के लिए होता है। आधुनिक तमिल लिपि में ग्रंथ-लिपि के वे सभी वर्ण ले लिये गये हैं जिनके प्रतिरूप अपूर्ण वट्टेलुट्टु लिपि में हैं किन्तु इसमें वट्टेलुट्टु के भी कतिपय ऐसे वर्ण सम्मिलित कर लिये गये हैं जिनके प्रतिरूप ग्रंथ-लिपि में नहीं मिलते। वट्टेलुट्टुलिपि की भाँति ही आधुनिक तमिल-लिपि भी आधुनिक युग के शब्दसमूह को अंकित करने में पूर्णतया असमर्थ है।

साहित्य

द्रविड़ भाषाओं में तमिल सर्वाधिक प्राचीन, उन्नत एवं संगठित भाषा है। इसके

शब्द-समूह समृद्ध है और अत्यन्त प्राचीन काल से ही इसमें साहित्य-रचना होती रही है। इसमें उच्च एवं उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध है। यहाँ पर तमिल-साहित्य का विवरण प्रस्तुत करने के लिए स्थान नहीं है; किन्तु इसकी एक दो उत्कृष्ट कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें साहित्य-रचना आरम्भ करने का श्रेय जैन धर्मावलंबियों को है। इन जैन लेखकों की रचनाएँ आठवीं-नवीं शती से लेकर तेरहवीं शती के बीच में हुई हैं। तिरुवळ्ळुवैर कृत 'कुड़ळ' में हमें सांख्य-दर्शन की शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं। इसमें १३३० पद्यबद्ध सूत्र हैं जिनका सम्बन्ध आचरण, सम्पत्ति एवं आनन्द से है। यह तमिल साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से है। इसका लेखक हरिजन था और इसका समय बिशप काल्डवेल के अनुसार दसवीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। आचारसम्बन्धी एक दूसरा ग्रंथ "नालडियार्" है जिसका सम्बन्ध जैनधर्म से है और कदाचित् यह और भी पुराना है। एक स्त्री लेखिका 'अउवेइयार' अथवा 'श्रद्धास्पद आर्या', दो अन्य ग्रंथों 'अत्तिसूडि' तथा 'कोनडेइ वेयुन्डन' की रचयिता बतलायी जाती है। ये दो कृतियाँ संक्षिप्त हैं। लेखिका तिरुवळ्ळुवर की बहन थी और इसकी ये कृतियाँ आज भी तमिळ स्कूलों में पढ़ायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ 'चिन्तामणि' का उल्लेख किया जा सकता है। यह किसी अज्ञात जैनकवि द्वारा लिखित नितान्त सुन्दर एवं कल्पनापूर्ण महाकाव्य है। इसी श्रेणी में कम्बन् कृत 'रामायण' जिसका काव्यसौष्ठव चिन्तामणि के ही समान है तथा पवणन्ति कृत 'नन्नूल' नामक प्राचीन. तमिल व्याकरण है। यहाँ शित्तर अर्थात् सिद्धों या सन्तों द्वारा रचित ब्राह्मणविरोधी तमिल-साहित्य का विशेष रूप से उल्लेख भी आवश्यक है। शित्तर एक तमिल सम्प्रदाय था। ये लोग शिव को ईश्वर का एक रूप मानते थे पर शैव धर्मसम्बन्धी अन्य बातों से ये विरत थे। धर्म के क्षेत्र में ये लोग निवृत्ति-मार्गी तथा विज्ञान के क्षेत्र में ये रासायनिक प्रक्रिया के ज्ञाता थे। इनकी रहस्यवादी कविताएँ, विशेषतया "शिव-वाक्यम्" बहुत सुन्दर बतलायी जाती हैं और कतिपय विद्वानों के अनुसार इन पर ईसाई धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है।

आधुनिक तमिल साहित्य का आरम्भ अठारहवीं शताब्दी से होता है। इस युग के लेखकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध तायुमानवन् तथा इतालीय देशवासी पादरी बेस्चि (मृत्यु सन् १७४२) हैं। इनमें तायुमानवन् तो विश्वदेववादी हैं और इन्होंने १४५३ छन्दों की रचना की है। बेस्चि की तमिलशैली सर्वथा निर्दोष मानी जाती है। इनकी मुख्य कृति 'तेम्बावणि' अथवा 'अम्लान हार' है। इसका एक उदाहरण तासो कृत 'जेरुसलम की मुक्तिकथा' का एक अंश है जिसमें सेण्ट जोसेफ को नायक बनाया गया है।

मलयालम

तमिल के अति निकट की भाषा मलयालम है। यह मलबार के तट की भाषा है। इसका नामकरण 'मल' शब्द के आधार पर हुआ है।

'मल' शब्द स्थानीय भाषा में पर्वत के लिए प्रयुक्त होता है। इस 'मल' शब्द में सम्बन्धवाची प्रत्यय जोड़कर यह शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'पर्वतीय प्रदेश'। इस प्रकार यह शब्द भाषा की अपेक्षा प्रदेशविशेष का वाचक है। मलयालम तमिल की ही एक शाखा है। यह नवीं शताब्दी में तमिल से पृथक होने लगी थी। सत्रहवीं शताब्दी में इस पर ब्राह्मणधर्म का प्रभाव पड़ा जिसके परिणाम-स्वरूप इसमें संस्कृत के अनेक शब्द आ गये। इसी समय इसे लिखने के लिए वट्टे-लुट्टु के स्थान पर ग्रंथ-लिपि अपनायी गयी। तेरहवीं शताब्दी से मलयालम-क्रियापदों में जो पुरुष-वाची प्रत्यय लगते थे तथा जो द्रविड़ भाषाओं की एक विशेषता है, बोलचाल की भाषा से लुप्त होने लगे और पन्द्रहवीं शताब्दी तक 'लक्कद्वीप' में रहने वालों तथा दक्षिणी कनारा के निवासी मोपला लोगों की भाषा को छोड़कर ये प्रत्यय प्रायः लुप्त ही हो गये। मोपला मुसलमान हैं और ये हिन्दुओं की पौराणिक पद्य-बद्ध गाथाओं को पढ़ना धर्म के विरुद्ध मानते हैं, अतएव इनकी भाषा पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा है। मोपला लोगों की भाषा में हिन्दुओं की मलयालम की अपेक्षा संस्कृत के बहुत कम शब्द मिलते हैं और जहाँ मलयालम लिखने के लिए अरबी लिपि का प्रयोग नहीं होता वहाँ ये लोग वट्टे-लुट्टु लिपि का ही प्रयोग करते हैं।

मलयालम में प्रचुर साहित्य है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुख्य रूप से

मलयालम

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	५४,२३,३९२
येरव	२,५८७
योग	५४,२५,९७९

यह साहित्य ब्राह्मण-साहित्य है। इसमें केवल एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ 'केरलोत्पत्ति' है। इसकी केवल एक बोली येरव है जो कुर्ग में प्रचलित है।

कन्नड

कन्नड भाषा-भाषियों का वास्तविक केन्द्र मैसूर है। ऐतिहासिक कर्नाटक प्रदेश का अधिकांश भाग प्लेटो पर पश्चिमी तथा पूर्वी घाटों के ऊपर स्थित था। कन्नड़ भाषा बम्बई प्रेसीडेंसी के दक्षिण-पूर्वी कोने में बोली जाती है और समुद्रतट पर इसकी एक पट्टी तुळु और मराठी के बीच चली गयी है। पश्चिमी तथा पूर्वी घाटों के

	सर्वेक्षण	जनगणना १९२१
बाम्बे प्रेसीडेंसी	३०,१९,७३९	२४,०३,४४८
मद्रास प्रेसीडेंसी	१४,६१,४७७	१५,३३,३४४
निज़ाम राज्य	१४,५१,०४६	१५,३६,९२८
मैसूर	३६,५५,९७६	४२,५७,०९८
कुर्ग	७६,११५	७३,१६८
अन्य स्थान	१,८१०	५,७०,२१८
योग	९६,६६,१६३	१,०३,७४,२०४

ऊपर यह भाषा पूर्व में निज़ाम राज्य तक तथा उत्तर में कृष्णा नदी के उस पार तक बोली जाती है। कन्नड भाषा की लिखावट तथा छपाई के लिए जिस लिपि का प्रयोग होता है वह तेलुगु के अति निकट की लिपि है; किन्तु कन्नड का तमिल से अधिक निकट सम्बन्ध है।

लिपि

तमिल की भाँति ही कन्नड लिपि की उत्पत्ति अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि से हुई है। यह लिपि सातवीं शताब्दी की वेङ्गी तथा चालुक्य लिपि से होते हुए अस्तित्व में आयी है। कन्नड की प्राचीन लिपि हळ-कन्नड है। तेरहवीं शताब्दी में यह लिपि तेलुगु क्षेत्र में भी प्रचलित थी, किन्तु इसके बाद कन्नड तथा तेलुगु लिपियों में अन्तर आने लगा और उन्नीसवीं शताब्दी में मुद्रणकला के साथ-साथ यह अन्तर बहुत अधिक हो गया। प्राचीन वट्टे-लुट्टु लिपि में जितने वर्ण थे उतने ही वर्ण कन्नड तथा तमिल लिपियों में आज नहीं हैं। ये दोनों लिपियाँ मलयालम की भाँति ही अथवा संस्कृत लिखने के लिए अन्य लिपियों की भाँति ही पूर्ण हैं। ये दोनों लिपियाँ वर्तुलाकार हैं। इनका यह रूप इसलिए हो गया है कि ताड़पत्रों पर शलाका से सीधे लिखने से वे

फट जाते हैं। हल्-कन्नड में प्राचीन भाषा के नमूने उपलब्ध होते हैं। ये नमूने साहित्यिक तमिल की भाँति ही हैं और ये उतने ही कृत्रिम भी हैं। सोलहवीं शताब्दी तक कन्नड भाषा विदेशी शब्दों के सम्मिश्रण से मुक्त थी, किन्तु इसके बाद इसके शब्दसमूह में संस्कृत के अनेक शब्दों का सम्मिश्रण हुआ। हैदरअली तथा टीपू सुल्तान के शासन काल में तो इसमें मैसूर से, उर्दू के अनेक शब्द आये। उत्तर-पश्चिम में इसमें मराठी से तथा उत्तर-पूर्व में तेलुगु से भी शब्द आये हैं।

कन्नड साहित्य

कन्नड इसलिए रोचक भाषा है कि प्रोफेसर हुल्श् ने, दूसरी शताब्दी के मिस्र के पत्र पर लिखित ग्रीक नाटक में इसके कतिपय वाक्यों को ढूँढ़ निकाला है। तमिल साहित्य की भाँति ही इसके साहित्य के सर्जन में जैन लोगों ने पर्याप्त योग दिया है। इसका साहित्य विशाल है और कम से कम गत एक सहस्र वर्षों से यह उपलब्ध है। इसके प्रायः सभी प्राप्य ग्रंथ या तो संस्कृत के अनुवाद हैं या संस्कृत के आदर्श पर लिखे गये हैं। अलंकार, छंद तथा व्याकरणसम्बन्धी ग्रंथों के अतिरिक्त, इसमें जैन, लिंगायत शैव तथा वैष्णवों से सम्बन्धित साहित्य भी है। इनमें लिंगायतसम्बन्धी ग्रंथ अधिक मौलिक हैं। इसमें वासव-पुराण की अनेक कथाएँ आयी हैं, जिसमें वासव की महिमा का गान किया गया है। वासव वस्तुतः शिव के नंदी का अवतार था। सोमेश्वर द्वारा रचित एक शतक भी इसमें उपलब्ध है, जिसकी कन्नड में बड़ी प्रतिष्ठा है। आधुनिक कन्नड में विशेष रूप से अनेक रस-सिक्त लोक गाथाएँ मिलती हैं। इनमें से कतिपय का अनुवाद श्री फ्लीट ने अंग्रेजी में किया है। इनमें से एक गाथा 'इनकम टैक्स से अधिपीड़ित होने पर' प्रार्थना है जो अत्यंत मनोरंजक है। इसमें सुन्दर परिहास के साथ प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार धार्मिक व्यापारी अपनी आयु को कम दिखाते हैं। कन्नड की 'बडग्', 'कुरुम्ब' तथा 'गोलरी' तीन बोलियाँ हैं।

इनमें प्रथम दो बोलियाँ नीलगिरि पर्वत में बोली जाती हैं। प्राचीन इतिहासकारों ने 'बडग' जाति को बर्घेर के नाम से अभिहित किया है। ये जो भाषा बोलते हैं वह कन्नड से बहुत मिलती जुलती है। कुरुम्ब अथवा कुरुमवारी, कुरुम्ब अथवा कुरुब जाति की बोली है। यह जाति जंगल में निवास करती है। यह भ्रष्ट कन्नड भाषा है और इसमें तमिल का सम्मिश्रण है। गोलर अथवा गोलकर घुमन्तू जाति के लोग हैं और होलिया लोग चर्मकार तथा संगीतज्ञ हैं। ये दोनों जातियाँ मध्यप्रदेश से इधर आयी हैं। ये लोग गोलरी या होलिया बोली बोलते हैं। अन्य गोलर लोग तेलगू भाषा-भाषी हैं। इनके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा।

कन्नड की बोलियाँ

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित कन्नड	९६,६६,१६३
बडग	३०,६५६
कुरुम्ब	१०,३९९
गोलरी	३,६१४
योग	९७,१०,८३२

कोडगु, तुलु, कोरग, वेल्लर

कुर्ग की प्रधान भाषा कोडगु या कूर्गी है, और कन्नड तथा 'तुलु' की मध्यवर्ती बतायी गयी है। कुछ लोग इसे कन्नड की एक बोली बताते हैं।

	सर्वेक्षण	जनगणना १९२१
कोडगु	३७,२१८	३९,९९५
तुलु	४,९१,७२८	५,९२,३२५

कन्नड के ठीक दक्षिण-पश्चिम तुलु का क्षेत्र है और मद्रास के दक्षिण कनारा जिले तक सीमित है। प्राचीन समय में चन्द्रगिरि एवं कल्याणपुरी नदियाँ इसकी सीमाएँ थीं और यह भाषा इस सीमा के बाहर कभी भी प्रसरित नहीं हुई। यह एक साहित्यिक भाषा है परन्तु इसमें साहित्य का अभाव है। इस भाषा में कन्नड लिपि का व्यवहार होता है। विशप काल्डवेल ने इसे द्रविड़ भाषाओं की एक विकसित भाषा बताया है। जितनी मलयालम तमिल से भिन्न है उसकी अपेक्षा यह मलयालम से अधिक भिन्न है और यह कोडगु के अधिक समीप है। इसकी दो बोलियाँ 'कोरग' और 'वेल्लर' हैं।

तोडा और कोट

द्रविड समूह की शेष भाषाएँ 'तोडा' और 'कोट' हैं, ये दोनों नीलगिरि के जंगली कबीलों द्वारा बोली जाती हैं। कुछ लोग इन्हें कन्नड की बोली समझते हैं, लेकिन विशप काल्डवेल भिन्न भाषा मानते हैं। तोडा का अध्ययन विशेष रूप से हुआ है, इसका

मुख्य कारण यह है कि इसके बोलनेवाले उटकमण्ड के निकट रहते हैं। कोट एक अन्य कबीला है जो अपने पेशे एवं सामाजिक स्तर में तोड लोगों से निम्न है। तोड और कोट एक दूसरे की भाषा समझ लेते हैं। इन दोनों के बोलनेवालों की संख्या थोड़ी है और ये दोनों भाषाएँ इसलिए अब तक जीवित हैं कि इन दोनों जातियों के लोग बहुत एकान्त में रहते हैं।

	सर्वेक्षण	जनगणना १९२१
तोडा	७३६	६६३
कोट	१,२०१	१,१९२

गोंडी

मध्यवर्ती समूह की भाषाएँ द्रविड़ समूह से आगे उत्तर की ओर बोली जाती हैं। इनमें से अधिकांश भाषाएँ मध्यप्रदेश एवं बरार में बोली जाती हैं। लेकिन इनमें से कतिपय भाषाएँ उड़ीसा एवं छोटा नागपुर में प्रचलित हैं। इनमें से एक भाषा मालतो तो बहुत उत्तर की ओर राजमहल पर्वतमाला तक गंगा के तट

मध्यवर्ती समूह

	सर्वेक्षण	जनगणना १९२१
गोंडी	१३,२२,१९०	१६,१६,९११
कोलामी	२३,२९५	२३,९८९
कन्धी	३,१८,५९२	४,८३,६६८
कुरुख	५,०३,९८०	८,६५,७२२
मल्हर	..	३४४
माल्तो	१२,८०१	६५,९६४
योग	२१,८०,८५८	३०,५६,५९८

तक प्रचलित है। इसके बोलनेवाले यत्किंचित् पहाड़ी जाति के हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण गोंडी बोली है जो मुख्य रूप से मध्यप्रदेश में बोली जाती है; किन्तु इसके बोलनेवाले उड़ीसा, उत्तर-पूर्वी मद्रास, निजाम राज्य, बरार तथा मध्य भारत के पड़ोस के क्षेत्रों में भी मिलते हैं। सर्वेक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि इसका सम्बन्ध तमिल तथा कन्नड भाषाओं से है और अपने पड़ोस की तेलुगु से भी यह सम्बन्धित है।

गोंडी शब्द से गोंड लोगों की भाषा से तात्पर्य है; किन्तु चूँकि अनेक गोंडों ने अपनी मातृ-भाषा का परित्याग कर अपने प्रदेश की आर्य भाषा को अपना लिया है अतएव केवल गोंडी कहने से किस भाषा का बोध होता है यह कहना कठिन है; उदाहरण-स्वरूप बघेलखण्ड में कई हजार गोंड बसे हुए हैं। सर्वेक्षण में इनकी भाषा गोंडी दी हुई है, किन्तु परीक्षण से विदित हुआ कि ये एक प्रकार की टूटी-फूटी बघेली बोलते हैं।

ओझी

इसी प्रकार छिन्दवाड़ा के गोंड ओझा लोग यद्यपि गोंड प्रदेश के बीच में निवास करते हैं, तथापि वे ओझी बोली बोलते हैं, जो कि बघेली पर आधारित मिश्रित बोली है। अब जब तक गोंडी नाम की सभी भाषाओं का नियमानुकूल सर्वेक्षण नहीं हो पाता तब तक समग्र रूप से गोंडी भाषा के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। सर्वेक्षण के लिए इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री एकत्र की गयी और इस समय के लिए मोटे तौर पर इस सामग्री के आधार पर जो परिणाम निकले हैं उन्हें सत्य माना जा सकता है, लेकिन इसके साथ ही यह भी सत्य है कि गोंड लोगों की टुकड़ियाँ कई स्थानों पर बिखरी हुई हैं और उनकी बोलियों की पूर्ण परीक्षा करने का अवसर नहीं मिला है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गोंड नाम की एक भाषा है। यह द्रविड़ परिवार की है और इसके बोलनेवालों की संख्या कम से कम सवा दस लाख है। इधर इसका पर्याप्त अध्ययन हुआ है और श्री शेनेव ट्रेंच (Chenevix Trench) ने इसका सुन्दर व्याकरण, शब्दसूची एवं पठनीय सामग्री भी उपस्थित की है। इस भाषा की कई बोलियाँ हैं। इनमें से मुख्य बोलियों को यहाँ नीचे दिया गया है। 'गट्टु' अथवा गोत्ते (वास्तव में गट्टु

गोंडी बोली

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित एवं अनिर्णीत	११,४७,३०३
गट्टु	२,०३३
कोइ	५१,१२७
मड़िआ	१,०४,३४०
पर्जी	१७,३८७
योग	१३,२२,१९०

ही ठीक नाम है) तथा 'कोइ' या कोया, चाँदा, विजगापट्टम तथा गोदावरी जिले में प्रचलित हैं। कोइ का प्रसार बस्तर तथा निज़ाम राज्य में भी है। परिनिष्ठित गोंडी तथा इन बोलियों में नाम मात्र का अन्तर है। प्रायः सभी गोंड अपने को कोइ नाम से अभिहित करते हैं। माड़ी या मड़िया तथा पर्जी बोलियाँ भी बस्तर राज्य में प्रचलित हैं। ये नाम कबीलों के हैं और इनकी भाषा में कोई अन्तर नहीं है। इनके सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि इनमें कोई भी नाम वास्तव में बोली का नहीं है। स्थानीय उच्चारणसम्बन्धी विशेषताओं को छोड़कर यथार्थतः गोंडी का रूप सर्वत्र समान है और इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि ज्यों ज्यों हम पूर्व तथा दक्षिण की ओर बढ़ते हैं त्यों त्यों इसमें पड़ोस की तेलुगु भाषा का सम्मिश्रण होने लगता है। गोंडी की कोई अपनी लिपि नहीं है। इसमें साहित्य का भी अभाव है किन्तु बाइबिल का एक भाग इसमें अनूदित किया गया है। मिस्टर ट्रेन्च ने इसमें जो पुस्तक तैयार की है उसमें यहाँ की परंपराओं एवं लोककथाओं को प्रस्तुत किया है।

कोलामी

कोलामी लोग पूर्वी बरार तथा मध्यप्रदेश के वर्धा जिले के आदिवासी हैं। प्रायः गोंडों के अन्तर्गत उनका वर्गीकरण किया जाता है किन्तु देखने में गोंड तथा उनमें अन्तर है और ये लोग तथा गोंड लोग अपने को एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं बतलाते। कुछ बातों में कोलामी तेलुगु से मिलती-जुलती है किन्तु अन्य बातों में यह कन्नड तथा उससे सम्बन्धित अन्य बोलियों से भी मिलती-जुलती है। नीलगिरि की तोड भाषा और इस भाषा में कुछ समता है।

कोलाम लोग भाषाविज्ञान की दृष्टि से या तो इन द्रविड़ कबीलों के अवशेष हैं जो कि प्रमुख द्रविड़ भाषाओं का विकास नहीं कर सके, या उस कबीले के जो कि आरंभ में द्रविड़ भाषा नहीं बोलते थे। छोटे कबीलों द्वारा बोली जानेवाली दो और बोलियाँ हैं जो कि कोलामी से अति निकट की हैं और जिन्हें व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस भाषा की बोली कह सकते हैं। बरार के वासिम जिले में लगभग तीन या चार सौ भील लोग हैं। इनमें से अधिकांश लोग भीली भाषा बोलते हैं, जिसका वर्णन 'भारतीय आर्य भाषा' शीर्षक के अन्दर किया जायगा। लेकिन उसी जिले के पसाद तालुके में कुछ भील लोग हैं जो कि कोलामी के बिलकुल समान ही भाषा बोलते हैं। ये लोग सचमुच भील हैं या नहीं, इस बात का निणय हम नृ-विज्ञानियों पर छोड़ते हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे स्थानीय लोगों द्वारा भील कहे जाते हैं और अन्य

भाषाओं की तरह स्थानीय लोग इसे भीली भाषा कहते हैं। वासिम के कितने भील लोग इस विशेष भाषा को बोलते हैं, यह बात अज्ञात है, क्योंकि सर्वेक्षण में जिले के अन्य भीलों की संख्या में ही इनकी भी संख्या सम्मिलित है। जबतक भाषाओं के नमूने नहीं मिले थे तब तक इस द्रविड़ बोली के अस्तित्व का सर्वेक्षण को पता नहीं था।

कोलामी बोली

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	२३,१००
वासिम की बोली	?
नैंकी	१९५
योग	२३,२९५

नैंकी

दूसरी बोली नैंकी है जो कि चान्दा जिले के कुछ दर्वे गोंडों की भाषा है। यह भाषा समाप्तप्राय है। यह गोंडी से भिन्न लेकिन कोलामी से कई मुख्य बातों में मिलती है। नैंकी नाम केवल इसी बोली तक सीमित नहीं है। मध्यभारत एवं बरार में यह बंजारी के पर्य्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होता है और बम्बई प्रदेश में एक भील-बोली का नाम भी 'नैंकडी' है। ये दोनों भारतीय आर्य भाषाएँ हैं।

कन्धी

कन्धी भाषा के बोलनेवाले लोग तो अपने को एवं अपनी भाषा को कुई (इस शब्द से ऊपर के कोइ शब्द को मिलाइए) कहते हैं, लेकिन इसे उड़िया लोग कन्धी एवं यूरोप-वाले खोन्ड नाम से पुकारते हैं। यह उड़ीसा एवं उसके पड़ोस के खोन्ड लोगों की भाषा है जिन्हें नृ-विज्ञानी मनुष्यबलि-कर्ता के रूप में जानते हैं। यह भाषा लिखित रूप में नहीं है और इसमें साहित्य भी नहीं है, लेकिन बाइबिल का कुछ भाग इसमें अनूदित किया गया है। यह अनुवाद उड़िया लिपि में छपा है। यह भाषा गोंडी की अपेक्षा तेलुगु के अति निकट है और इसकी क्रियाओं के रूप भी सरल हैं जो कि द्रविड़ भाषाओं की एक विशेषता है। कन्धी केवल उड़ीसा में ही नहीं बोली जाती अपितु मद्रास के गंजाम तथा विजगापट्टम जिले, एवं इसके पड़ोस में भी इसके बोलनेवाले हैं; किन्तु

मद्रास से इस सर्वेक्षण का सम्बन्ध नहीं है; अतएव इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं है कि उधर की बोली की क्या कुछ विशेषताएँ भी हैं। इस सर्वेक्षण में आयी हुई कन्धी की दो बोलियाँ हैं; एक पूर्वी जो कि मद्रास के गुंटूर तथा उड़ीसा के समीपवर्ती भाग में बोली जाती है और दूसरी पश्चिमी जो कि चिन्न-किमेडी की बोली है।

कुरुख़

छोटा नागपुर की पहाड़ियों के उत्तर एवं उसके दक्षिण में सम्बलपुर एवं रायगढ़ में अनेक मुण्डा भाषाओं के बीच फैली हुई, हम द्रविड़ कुरुख भाषा को पाते हैं जो बहुधा ओराओं के नाम से भी प्रसिद्ध है। इससे आगे और उत्तर गंगा के किनारे इससे अति सम्बन्धित माल्तो भाषा हमें मिलती है जिसे राजमहल के मालेर लोग बोलते हैं। अपनी परंपराओं के अनुसार इन दोनों भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज मूलतः कर्नाटक में रहते थे, जहाँ से उत्तर में वे लोग नर्मदा तक आये और सोन नदी के किनारे बिहार में बस गये। मुसलमानों द्वारा यहाँ से खदेड़े जाने पर इस जाति के दो समूह हो गये। इनमें से एक गंगा के बहाव के साथ आगे बढ़ते हुए अन्त में राजमहल के पर्वतों में जा बसा। दूसरा समूह सोन-नदी के ऊपरी भाग की ओर बढ़ा और इसने छोटा नागपुर अधित्यका (प्लेटो) के उत्तर-पश्चिमी भाग को अधिकृत कर लिया।

इनमें से दूसरे समूह के लोग कुरुख़ लोगों के पूर्वज, एवं प्रथम समूह के लोग मालेर लोगों के पुरखे थे। यह बात इन दोनों बोलियों के विवरण से सिद्ध हो जाती है और इनसे यह भी पता चलता है कि गोंडी की भाँति ही ये बोलियाँ भी उसी मूल द्रविड़ भाषा से प्रसूत हुई हैं जिससे तमिल और कन्नड़ भाषाएँ उद्भूत हुई हैं।

बेर्ग ओराओं

मध्य-प्रदेश में कुरुख भाषा प्रायः 'किसान' अर्थात् भूमि के जोतनेवालों या 'कोडा' अर्थात् भूमि गोड़नेवालों के नाम से अभिहित की जाती है। कोडा नाम से भ्रमवश उस कोडा भाषा को न समझना चाहिए जो छोटा नागपुर में कभी-कभी मुण्डा-खेरवारी की एक बोली कही जाती है। कुरुख में साहित्य का अभाव है और बाइबिल के कुछ भागों के अनुवाद तथा मिशनरियों द्वारा लिखित कतिपय पुस्तिकाओं के अतिरिक्त इसमें कुछ भी नहीं है। इसकी कोई बोली भी नहीं है, किन्तु इसका एक भ्रष्ट रूप गंगपुर रियासत में प्रचलित है, इसे बेर्ग-ओराओं कहते हैं।

होरोलिआ झगर

राँची शहर के आसपास कुरुख लोग अपनी मातृभाषा छोड़ चुके हैं और वे एक भ्रष्ट मुण्डारी भाषा 'होरोलिआ-झगर' का प्रयोग करते हैं।

मल्हर

जब द्रविड़ समूह का सर्वेक्षण समाप्त हो गया, तो सर्वप्रथम सन् १९०१ की जनगणना की रिपोर्ट में, छोटा नागपुर में, एक मल्हर नाम की भाषा का उल्लेख हुआ। वेर्ग ओराओं की भाँति ही इसके नमूने को देखने से ऐसा ही जान पड़ता है कि यह एक प्रकार की भ्रष्ट कुरुख भाषा है।

माल्तो

इन मध्यवर्ती भाषाओं में से अंतिम भाषा माल्तो या मालेर है। इसके बोलनेवाले मालेर जाति के लोग हैं जो गंगा के पास राजमहल पर्वतमाला के निवासी हैं। ऊपर कुरुख के अन्तर्गत इसकी परम्परा एवं तमिल एवं कन्नड से इसके सम्बन्ध के विषय में कहा जा चुका है।

व्याकरण में यह द्रविड़ भाषा से बहुत सम्बन्धित है, किन्तु इसके शब्दसमूह में पड़ोस की भारतीय आर्यभाषाओं के अनेक शब्द आ गये। ऐसा प्रतीत होता है कि पड़ोसी संथाली भाषा से भी इसमें शब्द आ गये हैं। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि राजमहल की पहाड़ियों में बसनेवाले आर्यभाषा-भाषी लोगों की भ्रष्ट बंगाली भाषा को भी माल्तो कहा जाता है। मालेर लोग अपने को सौरिया भी कहते हैं और यूरोपीय लोग उनकी भाषा को 'राजमहाली' भी कहते हैं। बाइबिल के कुछ भाग के अनुवाद के अतिरिक्त माल्तो में कोई साहित्य नहीं है।

आन्ध्र भाषा तेलुगु

आन्ध्र समूह वस्तुतः बोलियों का एक समूह है क्योंकि इसकी एक ही भाषा तेलुगु है। आधुनिक भाषा के रूप में यह विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है और इसके बोलनेवालों की संख्या तमिल से अधिक है। उत्तर में यह मध्यप्रदेश के चाँदा जिले तक पहुँची हुई है और समुद्र के किनारे बंगाल की खाड़ी से लेकर 'चिकाकोले' तक प्रसरित है। यहाँ पर यह भारतीय आर्यभाषा उड़िया से मिलती है। पश्चिम में यह निजाम राज्य के आधे भाग में फैली हुई है। इस प्रकार से अधिकृत भाग प्राचीन संस्कृत भूगोल के अनुसार आन्ध्र के अन्तर्गत आता है और इसे मुसलमान लोग तेलिंगाना कहते हैं। इस भाषा के बोलनेवाले मैसूर के स्वतंत्र राज्य तथा तमिल के क्षेत्र में भी मिलते हैं। केवल

पश्चिमी किनारे पर उनका सर्वथा अभाव है। द्रविड़ भाषाओं में संस्कृत तथा समृद्ध शब्दसमूह की दृष्टि से तमिल के बाद ही तेलुगु अथवा तेलिंग भाषा का स्थान है। यह तमिल की अपेक्षा अधिक श्रुतिमधुर है। इसका प्रत्येक शब्द स्वरान्त होता है और अपने माधुर्य के कारण यह पूर्व की इटालीय भाषा कहलाती है।

आन्ध्र-भाषा—तेलुगु बोली

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित एवं अनिर्णीत	१,९७,३५,८४०
रोमटाउ	३,८२७
सालेवारी	३,६६०
गोलरी	२५
बेरडी	१,२५०
वडरी	२७,०९९
कामाठी	१२,२००
दासरी	१
योग	१,९७,८३,९०१

पुर्तगाली में इसका नाम 'जेन्टू' भाषा भी था। यह शब्द पुर्तगाली जेन्टाइल शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'प्रतिमापूजक', किन्तु आधुनिक लेखक अब इस भाषा के लिए इस नाम का व्यवहार नहीं करते।

साहित्य

इसकी अपनी लिपि है जो प्रायः वही है जो कन्नड की है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कन्नड भाषा का विवरण देते समय लिखा जा चुका है। इसके शब्दसमूह में संस्कृत के शब्द स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं और इसका साहित्य समृद्ध है। इसका प्राचीनतम साहित्य बारहवीं शताब्दी तक का उपलब्ध है। इसी के अन्तर्गत नन्नप्पा कृत 'महाभारत' भी आता है। किन्तु इसमें इसके महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना चौदहवीं तथा उसके बाद की शताब्दियों में हुई। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विजयनगर के कृष्णराय का दरबार विद्या के लिए प्रसिद्ध था और यहाँ साहित्य की विभिन्न

शाखाएँ विकसित हुईं। इसका राजकवि 'अल्लसानी पेद्दन' था। इसे तेलुगु कविता का 'पितामह' कहते हैं। इसने तेलुगु भाषा में मौलिक रचनाएँ कीं जब कि अन्य लेखक केवल संस्कृत के अनुवादक मात्र थे। इसकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'स्वरोचिष-मनुचरित' है, जिसका आधार मार्कण्डेय पुराण की एक कथा है। स्वयं कृष्णराय 'आमुक्तमाल्यद' का लेखक बतलाया जाता है। उसके दरबार का एक अन्य कवि 'नन्दी तिम्मन' था। उसने 'पारिजात अपहरण' की रचना की थी। 'सूरन' ने जिसका समय १५६० है 'कलापूर्णोदय' की रचना की। इसमें नलकूबर तथा कलभाषिणी की प्रेमकथा है। इसने अन्य ग्रंथों की भी रचना की है। तेलुगु का सबसे प्रसिद्ध लेखक तथा कवि 'वेमन' था। इसका समय सोलहवीं शताब्दी है। यह वास्तव में जनकवि है। इसने कविता में बोलचाल की भाषा अपनायी। इसके परिहासपूर्ण काव्य में जातिवाद तथा स्त्रियों पर व्यंग्य मिलते हैं। तेलुगु के लेखकों में यह सर्वाधिक प्रिय है और इसके नाम की अनेक कहावतें तथा सूक्तियाँ प्रचलित हैं।

बोलियाँ

तेलुगु भाषा पूर्णतया इस सर्वेक्षण क्षेत्र के भीतर न आ सकी और इसकी बोलियों के सम्बन्ध में कोई सूचना न प्राप्त हो सकी। जहाँ तक मैं पता लगा सका हूँ, वास्तव में इसकी अपनी कोई बोली नहीं है। हाँ, यदि बोली शब्द से हम कबीलों द्वारा परिनिष्ठित भाषा के भ्रष्ट किये हुए रूप को लें, तो बात ही दूसरी है।

कोम्टाउ, सालेवारी,-गोलरी

ऐसी भ्रष्ट बोलियों में कोम्टाउ, सालेवारी और गोलरी को लिया जा सकता है। इन सभी बोलियों का नामोल्लेख मध्यप्रदेश के चाँदा जिले से आया है। कोम्-टाउ, तेलुगु का वह रूप है जिसे कोम्टी अथवा दुकानदार लोग बोलते हैं। इसी प्रकार सालेवारी को सालेवार अथवा बुनकर लोग बोलते हैं और गोलरी को चाँदा जिले के गोलर लोग बोलते हैं। गोलर लोग एक प्रकार की घुमन्तू जाति के लोग हैं, जो अपने पशुओं को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते रहते हैं। अन्य स्थानों में गोलर लोग कन्नड़ की एक बोली बोलते हैं।

बेरडी

बेरडी तेलुगु की वह भाषा है जिसे बम्बई प्रदेश के बेलगाँव के बेराड लोग बोलते हैं। ये लोग कुख्यात चोर हैं, किन्तु गाँव में विश्वस्त चौकीदार भी हैं और ये

गाँवों की अपने जाति के भयानक चोरों से रक्षा भी करते हैं। ये साधारण तेलुगु बोलते हैं और इसमें कन्नड भाषा का किञ्चित् सम्मिश्रण भी रहता है।

वडारी, कामाठी, दासरी

वडारी बोली को बम्बई प्रदेश की पत्थर खोदनेवाली घुमन्तू जातियाँ बोलती हैं। यह गँवार तेलुगु बोली है। इसी प्रकार की कामाठी बोली को बम्बई तथा उसके प्रदेश में ईंटों का काम करनेवाले लोग बोलते हैं और दासरी बोली को दासरू लोग बोलते हैं। दासरू लोग बेलगाँव जिले के भिखमंगे हैं जिनमें से कुछ कन्नडभाषी हैं।

लधाडी, भरिया

यहाँ लधाडी तथा भरिया, केवल दो बोलियों का नामोल्लेख भर किया जाता है। यह मध्यप्रदेश की मिश्रित बोलियाँ हैं। यह उन लोगों की बोलियाँ हैं जो पहले गोंडी बोला करते थे। अब ये आर्यभाषा-भाषी बन गये हैं, और एक प्रकार की भ्रष्ट हिन्दी बोलते हैं।

ब्राहूई

द्रविड़ भाषाओं के क्षेत्र से बहुत दूर धुर उत्तर-पश्चिम की ओर जाने पर पूर्वी बलूचिस्तान के बीच ब्राहूई भाषा मिलती है। इसके बोलनेवाले औसत मझोले कद से कुछ छोटे होते हैं। उनका मुँह अण्डे के आकार का, आँखें गोल तथा नाक[1] ऊँची उठी हुई एवं पतली होती है। नृ-विज्ञान की दृष्टि से उनकी शारीरिक विशेषताएँ द्रविड़ लोगों से बिलकुल नहीं मिलतीं, किन्तु उनकी भाषा मूलतः द्रविड़ है, यद्यपि इसके शब्द-समूह में पड़ोस की फारसी, बलोची तथा सिन्धी भाषाओं के अनेक शब्द आ गये हैं। द्रविड़ भाषाओं के सर्वेक्षण के प्रकाशन के बाद श्री 'ब्रे' ने ब्राहूई लोगों तथा उनकी भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे इनके सम्बन्ध में जो कुछ विवाद है उसका अन्त हो गया है। ब्राहूई लोग पशुचारण-जीवन बिताते हैं। इनकी जीविका इनके पशु हैं। ये प्रायः विनम्र, भद्र तथा सत्कारशील होते हैं। ये लोग अन्य कबीलों के साथ भी विवाह-सम्बन्ध कर लेते हैं और इस प्रकार के सम्मिश्रण के कारण प्रत्येक ब्राहूई द्विभाषी होता है। श्री 'ब्रे' के अनुसार कलात के खान अपनी माता से ब्राहूई भाषा तथा पिता

१. देखो, ब्रे-कृत 'ब्राहूई लैंग्वेज्' पृ० ४

और भाइयों से बलूची भाषा में सम्भाषण करते थे। ब्राहूई लोगों के कुछ कबीले बिलकुल ब्राहूई भाषा नहीं बोल पाते। इस प्रकार मीरवारी लोग यद्यपि यथार्थतः ब्राहूई हैं किन्तु इनमें से कोई भी व्यक्ति बलोची के अतिरिक्त और भाषा नहीं बोलता। ब्राहूई में लिखित साहित्य का अभाव है। लिखने में प्रायः फारसी लिपि का प्रयोग होता है, किन्तु यूरोपीय लोग प्रायः रोमन लिपि को ही पसन्द करते हैं।

आठवाँ अध्याय

भारोपीय परिवार

आर्य शाखा

मूल स्थान

आज हम जिस जनसमूह को भारोपीय के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं उस परिवार का मूल स्थान, जहाँ से वह यूरोप तथा पश्चिम-दक्षिणी एशिया के कुछ भागों में फैला, वर्षों तक विवाद का विषय बना रहा। हम अंग्रेज लोग स्वर्गीय प्रोफेसर मैक्स-मूलर द्वारा सावधानी से व्यक्त किये गये इस मत से प्रायः अधिक परिचित हैं कि वह स्थान एशिया में कहीं था। यद्यपि उन्होंने हमें इसके लिए बार-बार सचेत किया था कि भारोपीय भाषाओं के किसी भी परिवार के अस्तित्व से हमें यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि कोई भारोपीय जाति भी वर्तमान थी, तथापि इस सम्बन्ध में अन्वेषण करने-वाले विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया। आरम्भिक अनुसन्धानकर्ताओं के निष्कर्ष प्रधानतया भाषाविज्ञान पर ही आधारित थे और उस समय प्रायः सभी इस बात से सहमत थे कि मूल स्थान की खोज के लिए काकेशस अथवा हिन्दूकुश की ओर जाना चाहिए। तब से अब तक इस समस्या को सुलझाने में अन्य विद्वान् भी प्रवृत्त हैं और समय-समय पर इतिहास, नृ-विज्ञान, ज्योतिष, भूगोल तथा भूतत्त्वशास्त्र आदि से भी सहायता ली गयी है। कुछ समय तक इस कार्य के लिए भाषाविज्ञान को असफल माना गया और बाद की विचारधारा से, जो नृ-विज्ञान पर आधारित थी, इस परिणाम पर पहुँचा गया कि उस स्थान की खोज के लिए पश्चिमोत्तर यूरोप की ओर अग्रसर होना आवश्यक है। इसके और बाद ज्योतिषशास्त्र का सहारा लेकर इसे आर्कटिक प्रदेश में माना गया किन्तु कतिपय देशभक्त भारतीय विद्वानों ने तो अपनी मातृभूमि को ही भारोपीय परिवार का मूल निवासस्थान माना। इसके पश्चात् इस सम्बन्ध में जो अनुमान किये गये उन्होंने एक बार पुनः हमें पुराने सिद्धान्त पर पहुँचा दिया और हम आर्मेनिया तथा आक्सस और जक्सरटीज नदियों के आसपास के भू-भाग को वह स्थान मानने लगे। पिछले बीस वर्षों तक प्रोफेसर ओहो श्रेडर का मत प्रायः सबको स्वीकृत

रहा। उनके अनुसार यह स्थान, सम्भवतः दक्षिणी रूस के घास के मैदान में, एशिया तथा यूरोप की सीमा पर था। वस्तुतः इस स्थान पर रहनेवाले जनसमूह की प्राचीनतम भाषा ही अन्ततोगत्वा विविध भारोपीय भाषाओं के रूप में विकसित हुई। ये लोग यायावर थे। उनमें से कुछ लोगों ने कृषि-कर्म को अपनाया और यहीं से वे पूर्व तथा पश्चिम की ओर गये। बाद में, मूल स्थान के सम्बन्ध में, एक दूसरा सिद्धान्त वनस्पतियों तथा पशुओं के वितरण के आधार पर निर्धारित किया गया। इन वनस्पतियों और पशुओं के नाम, आदिम काल से, भूतत्त्वशास्त्र के इतिहास में तथा एशियामाइनर की नवीन खोज रिपोर्टों में वर्तमान हैं। कैम्ब्रिज हिस्ट्री[1] (कैम्ब्रिज से प्रकाशित होनेवाले भारत के इतिहास) में, सर्वप्रथम पी० जाइल्स ने इसे सामने रखा। उनके अनुसार वह केन्द्र-स्थान जहाँ से भारोपीय लोग फैले, निश्चित रूप से, प्रो० श्रेडर के प्रस्तावित स्थान से दूर, उत्तर-पश्चिम में कहीं रहा होगा। सम्भवतः वह स्थान एक ऐसा क्षेत्र रहा होगा जो साधारणतया आधुनिक आस्ट्रिया-हंगरी के सदृश होगा। अन्ततोगत्वा स्वर्गीय जे० डी० मार्गन ने अपनी एक पुस्तक में, जब कि यह ग्रंथ यंत्रस्थ था, साइबेरिया प्रदेश को आर्यों का मूल स्थान माना, यद्यपि गौण रूप में आस्ट्रिया-हंगरी को भी यह स्थान स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति न थी।

कतम् (केण्टुम्) तथा शतम् (सतेम) भाषा-भाषी

भारोपीय भाषा-भाषियों का प्रथम महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण कतम् तथा शतम् समूहों में हुआ। अधिकांश[2] कतम् भाषा-भाषी वस्तुतः पश्चिम की ओर बढ़े। आगे चलकर इनकी बोलचाल की भाषा से ही ग्रीक, लैटिन, केल्टिक तथा ट्यूटनिक अथवा जर्मेनिक आदि भाषाएँ प्रादुर्भूत हुईं। वस्तुतः लैटिन केन्टुम्, संस्कृत शतम् (हिन्दी—सौ) शब्द का ही प्रतिरूप है। यहाँ शतम् भाषा बोलनेवालों से ही हमारा विशेष प्रयोजन है। ये मुख्यतः पूर्व में ही बसे। इन्हीं की भाषा से वे भाषाएँ विकसित हुईं जिन्हें हम आर्य, आर्मेनीय, फ्रिजीय, थ्रेशीय, आल्बनीय तथा बाल्तो स्लोवेनीय नाम से पुकारते हैं। यहाँ हमें केवल इन्हीं छै भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करना है।

१. खण्ड १, पृष्ठ ६५ तथा उसके आगे

२. सभी नहीं। केण्टुम समूह की प्राचीन भाषा के अवशेष हाल ही में मध्य एशिया के रेगिस्तानी प्रदेश में मिले हैं।

आर्य शब्द का अर्थ

यह दुःख की बात है कि आर्य शब्द को प्रायः अंग्रेज विद्वान् व्यापक रूप में भारोपीय के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। आर्य वस्तुतः शतम् समूह के अन्तर्गत एक विशेष वर्ग है। इस वर्ग के लोग अपने को आर्य नाम से संबोधित करते थे। इस पुस्तक में इसी विशेष अर्थ में इसका प्रयोग किया जायगा और अन्य शतम् भाषाएँ इसके अन्तर्गत नहीं आयेंगी। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में कभी-कभी अंग्रेजी, लैटिन तथा जर्मन को 'आर्यभाषा' नाम से अभिहित किया जाता है, किन्तु इस ग्रंथ में इनके लिए इस नाम का प्रयोग न होगा। मूलतः 'आर्य' शब्द आर्यभाषा का ही है और आर्यों ने अपने लिए ही इस शब्द का प्रयोग भी किया है। इसके जो अर्थ दिये गये हैं उनमें से एक अर्थ उच्चवंशीय तथा अभिजात भी है। भारत तथा ईरान के लोग भारोपीय वंश के हैं अतएव उन्हें अपने को आर्य कहने का पूर्ण अधिकार है, किन्तु हम अंग्रेजों को नहीं।[१]

आर्यों का संचरण

प्रोफेसर श्रेडर के सिद्धान्तानुसार आर्य लोग, किसी अज्ञात युग में, रूस के घास के मैदानवाले प्रदेश से, सम्भवतः कैस्पियन सागर के उत्तर स्थित किसी मार्ग द्वारा आगे

१. समग्र भाषा-परिवार को व्यक्त करने के लिए ऊपर मैंने इंडो-यूरोपियन (भारोपीय) नाम दिया है, किन्तु यह सन्तोषजनक नहीं है। इसके लिए 'इंडो-जर्मेनिक', 'इंडो-टयूटानिक', 'इंडो-केल्टिक', 'इंडो क्लासिक', 'जैफेटिक', 'मेडिटरेनियन','आर्य' तथा 'विरॉस' आदि नाम प्रस्तावित हुए हैं और इनमें भी 'इंडो-जर्मेनिक' का प्रयोग विशेष रूप से होता है। इन सभी नामों के पक्ष-विपक्ष में कुछ न कुछ कहा जा सकता है। मैंने इनमें से 'इंडो यूरोपियन' नाम इसलिए चुना है कि यह सबसे कम आपत्तिजनक है। कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों के अनुसार 'आर्य' शब्द का सम्बन्ध समस्त भारोपीय भाषाओं से है और यूरोप की केल्टिक भाषाओं, विशेषतः पुरानी आयरिश में यह 'आयर' (Aire) अर्थात् राजकुमार के अर्थ में विद्यमान है। यह ठीक भी हो सकता है किन्तु इस बात के लिए विश्वसनीय प्रमाण नहीं हैं कि भारोपीय भाषा-भाषियों के लिए कभी भी 'आर्य' अथवा पी० गाइल्स द्वारा व्यवहृत 'विरास' शब्द का प्रयोग किया गया हो। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि यह सुविधाजनक शब्द है और इसी लिए विस्तृत अर्थ में यह भारोपीय के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता है।

बढ़े। वहाँ से संयुक्त जनसमूह के रूप में तुर्किस्तान से होते हुए वे अन्ततः वर्तमान कोह-कन्द और बदख़शां के आस-पास जा पहुँचे। यहाँ वे तितर-बितर हो गये। इनमें से एक दल ने काबुल की घाटी से होकर भारत में प्रवेश किया तथा दूसरा दल पश्चिम से होता हुआ उस प्रदेश की ओर अग्रसर हुआ जो वर्तमान युग में मर्व और पूर्वी फारस कहलाता है। इस मार्ग के स्वीकार करने में बहुत बड़ी कठिनाई है। प्रो० गाइल्स ने कैस्पियन सागर के उत्तरी प्रदेश के भूतत्त्वशास्त्र के इतिहास की ओर संकेत करते हुए इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार उपस्थित किये है—

"कैस्पियन एक ऐसा अन्तर्देशीय समुद्र है जो धीरे-धीरे अधिक छिछला एवं संकुचित होता जा रहा है। यदि हम यह मान भी लें कि आज की अपेक्षा वह पहले थोड़ा ही अधिक विस्तृत रहा होगा, तब भी इसके तथा अरल सागर के बीच से होता हुआ जो मार्ग तुर्किस्तान को जाता होगा, वह उस्ट उर्ट के भयानक रेगिस्तान से होकर ही जाता होगा। प्राचीन युग के लोगों के लिए अपने परिवार तथा पशुओं के झुंडों के साथ इस रेगिस्तान को पार करना, उस समय, असम्भव ही रहा होगा। किन्तु यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि अधिक समय नहीं हुआ जब कैस्पियन सागर आज की अपेक्षा उत्तर में अधिक विस्तृत था। इसके आगे दलदल तथा रेतीली भूमि का क्षेत्र था। प्राचीन काल में आर्यों के देशान्तर-गमन के समय तो इस दलदल तथा रेगिस्तानी क्षेत्र का विस्तार पूर्व में बहुत दूर तक था और अरल सागर तथा इसके आगे का निचला मैदान भी इसके अन्तर्गत था। इस प्रकार प्राचीन-युग में इस मार्ग से तुर्किस्तान में प्रवेश करना सरल न रहा होगा। सच बात तो यह है कि इस सम्बन्ध में कोई भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि ईरानियों, अफगानों तथा हिन्दुओं के पूर्वज तुर्किस्तान के मार्ग से होकर गुजरे भी थे।"

दूसरी ओर यदि हम यह स्वीकार कर लें कि आर्यों का मुख्य अथवा गौण प्रसार-केन्द्र (देशान्तर-गमनकेन्द्र) आस्ट्रिया-हंगरी था, तो यहाँ से पूर्व की ओर का स्वाभाविक मार्ग, जिधर से एक के बाद दूसरे समूह गये होंगे, एशिया माइनरस्थित दानियाल के दर्रे[1] से होकर रहा होगा। इसी प्रकार फारस की ओर जानेवाला मार्ग उत्तरी

१. इस मार्ग से भी पशुओं के झुंड के साथ देशान्तर गमन में कठिनाइयाँ हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उनके साथ पशु थे ही। यह बहुत सम्भव है कि जिन लोगों ने उत्तर की ओर से दानियाल के दर्रे को पार किया था वे बर्बर आक्रमणकारी थे और लहर की भाँति एक के बाद उनका दूसरा समूह आता रहा। वस्तुतः लूट-पाट में

पूर्वी यूरोप तथा पश्चिमी एशिया, पृ० १७६

मेसोपोटेमिया से होकर रहा होगा। इस प्रकार के देशान्तर-गमन का कार्य केवल एक समूह द्वारा सम्पन्न न हुआ होगा, अपितु एक के बाद दूसरे दल बराबर आते रहे होंगे और "विरास" लोगों को (जो प्रोफेसर गाइल्स के अनुसार भारोपीय भाषा बोलने वालों के मूल पुरुष थे) विजय प्राप्त करने के लिए इधर के आदिवासियों से घोर संघर्ष करना पड़ा होगा। प्रो० गाइल्स के अनुसार आरम्भिक दलों का आगमन सम्भवत: २५०० वर्ष ई० पू० हुआ होगा। वस्तुत: आर्य लोग इन्हीं की सन्तान होंगे। इसी प्रकार आर्मनीय, फ्रिजीय, मायसोनीय एवं बिथिनीय लोग बाद में आनेवाले लोगों के वंशज होंगे।

मंडा समूह

२५०० ई० पू० के लगभग हम उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी ईरान (जो आजकल मीडिया के नाम से प्रख्यात है) में भारोपीय परिवार के मंडा लोगों को पाते हैं। ये शतम् भाषा-भाषी थे। इनके पश्चिम में भारोपियेतर लोगों से आबाद सुबर्तु प्रदेश था। बेबिलोन के उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम का भू-भाग ही वस्तुत: इस प्रदेश की सीमा थी। उत्तरी सीरिया का मितन्नी राज्य भी इसी प्रदेश के अन्तर्गत था। उसके और भी पश्चिम, एशिया-माइनर के कप्पादोसिया प्रदेश में खत्ती अथवा हत्ती लोगों की राजधानी थी। वर्तमान बोगाज़कुई के निकट ही यह स्थान था। २००० ई० पू० के लगभग भारोपीय आक्रमणकारियों के एक अन्य दल ने इस प्रदेश को विजित किया था। ये हत्ती[१] नाम से प्रसिद्ध थे और कतम् (केण्टुम्) भाषा-भाषी थे। इस प्रकार इतिहास के इस प्राचीन युग में, पूर्वी एशिया में, भारोपीय लोगों के दो उपनिवेश मिलते हैं। इनमें से एक तो पहले का मीडियास्थित शतम् भाषा-भाषी उपनिवेश था और दूसरा था बाद का, कप्पादोसियास्थित कतम् (केण्टुम्) भाषा-भाषी उपनिवेश। इन दोनों को पृथक् करनेवाला भारोपियेतर सुबर्तु प्रदेश था।

ही वे अपना जीवन व्यतीत करते थे। यदि यह भी मान लिया जाय कि वे जन्मत: पशुपालक थे तो भी इस बात को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि जब वे पूर्व की ओर बढ़े होंगे तो मार्ग में उन्होंने भेड़ों तथा अन्य पशुओं को भी लूटा होगा।

१. मूल हत्ती बोलनेवालों की भाषा सर्वथा भिन्न थी। उसे 'प्राग्-हत्ती' के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

२००० ई० पू० के आस-पास मंडा लोगों ने मितन्नी सहित सुबर्तु प्रदेश को अधिकृत कर लिया और तब हत्ती लोगों से उनका सम्बन्ध यत्किंचित् कटु हो चला। मितन्नी राज्य के द्वारा वे मिस्रवासियों के सम्पर्क में भी आये और फेरोहा राजाओं तथा उनके बीच जो पत्रव्यवहार हुआ वह नील नदी के तटवर्ती तेल-एल्-अमर्ना नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। लगभग १४०० ई० पू० के इस पत्रव्यवहार में अनेक मितन्नी राजकुमारों के नामों के उल्लेख मिलते हैं जो स्पष्ट रूप से भारोपीय भाषा के हैं। दूसरी ओर बोगाज़कुई की हत्ती शाखा के अवशेषों में हमें मितन्नी के देवताओं के नामों के उल्लेख मिलते हैं। यही नाम मित्र, इन्द्र, वरुण तथा दो नासत्यों के रूप में, बाद में, भारत में भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त रथों की दौड़ से सम्बन्ध रखनेवाले शब्द भी मूल भारोपीय जैसे ही हैं। ये शब्द इसी रूप में शतम् भाषा-भाषियों द्वारा प्रयुक्त किये जाते रहे होंगे। अन्ततोगत्वा १२०० ई० पू० के लगभग, भारोपीय आक्रमणकारियों के एक अन्य दल---थ्रे को-फ्रिजीय---के द्वारा हत्ती लोग पूर्णतया विनष्ट कर दिये गये। प्रायः इसी समय मितन्नी प्रदेश पर असीरियावालों का आधिपत्य हो गया और इस प्रकार इन दोनों राज्यों का अन्त हो गया।[1]

यहाँ हमें पुनः मंडा लोगों के सम्बन्ध में विचार करना है। इनका आदि निवास-स्थान मीडिया में अथवा उसके आसपास था। हमें इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि ये वहाँ किस प्रकार पहुँचे। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रो० गाइल्स के अनुसार शतम् भाषा-भाषी मंडा लोग बहुत पहले आनेवाले भारोपीय आक्रमणकारियों के वंशज थे। आस्ट्रिया-हंगरी से चलकर इन्होंने दानियाल के दर्रे को पार किया तथा पूर्व की ओर एशिया माइनर और उत्तरी मेसोपोटेमिया होते हुए ये मीडिया पहुँचे। हत्ती लोग बाद में आये और ये कप्पादोसिया से बहुत आगे न बढ़ सके।

मंडा लोगों के उद्गम के सम्बन्ध में अन्य सिद्धान्त

मुख्य विषय को छोड़कर, मैं यहाँ मंडा लोगों के उद्गम के सम्बन्ध में अन्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। इसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। ऊपर मैंने इस सम्बन्ध

१. **ऊपर का लेख प्रो०** [A. Ungnad's Die attesten Volker wanderungen Vorderasiens Breslau, 1923] The oldest race migration of farther Asia] **ए० उन्गनद के लेख 'एशिया की प्राचीन जातियों का निष्क्रमण' पर आधारित है।**

में प्रो० गाइल्स द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विवरण दिया है। यदि प्रो० गाइल्स की कल्पना को सिद्ध करने के लिए हम यह स्वीकार कर लें कि मंडा लोगों के प्रसार का केन्द्र डैन्यूब नदी का मैदान ही था और वे लोग आर्य अथवा आर्यशाखा के थे तथा पहले उन्होंने फारस (ईरान) तथा बाद में भारत पर आक्रमण किया तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सम्भवतः उनका भी मार्ग वही था जिसे बाद में हत्ती लोगों ने अपनाया था। वे एशिया माइनर होते हुए मेसोपोटेमिया पहुँचे होंगे और तदुपरान्त उसे पार करके वे उस स्थान पर पहुँचे होंगे जहाँ के प्राचीनतम अभिलेखों में उनका उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने काले सागर के उत्तर-पूर्व का एक अन्य वैकल्पिक मार्ग भी सुझाया है किन्तु इधर कार्केशस पर्वत ऐसा दुर्लंघनीय है कि पशुपालक लोगों के लिए इसका पार करना कठिन था।

यद्यपि मंडा लोगों का इस नाम से उल्लेख नहीं मिलता तथापि उत्तरी ईरान के भारोपीय रूप में इनकी चर्चा अन्य रूपों में मिलती है।[१]

एशियाई उद्गमसम्बन्धी सिद्धान्त

प्रो० ई० कीथ, प्रो० ई० मेयर की इस बात से सहमत हैं कि मितन्नी एवं उसके समीपवर्ती प्रदेश में प्राप्त भारोपीय नाम एवं शब्द 'आर्य-शब्द' हैं। यहाँ आर्य-शब्द का तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। वस्तुतः ये नाम तथा शब्द न तो भारतीय आर्यभाषा के हैं और न ईरानी के ही, वरन् इनका सम्बन्ध उस मूल आर्यभाषा से है जिससे इन दोनों की उत्पत्ति हुई है। इस सम्बन्ध में यदि मैं अपना विचार प्रकट करूँ तो मुझे भी यह निश्चयात्मक रूप से प्रतीत होता है कि वास्तविक स्थिति यही थी और कुछ आगे बढ़कर तो मैं यह भी कहूँगा कि बहुत सम्भव है कि ऋग्वेद की उन कतिपय प्राचीनतम ऋचाओं की रचना, जिन्हें साधारणतया भारत में निर्मित माना जाता है, मूलतः

१. इनमें से जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं उनका एक संक्षिप्त विवरण आर० डी० भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० ८१ तथा उसके आगे प्रो० कीथ के लेख 'इण्डो-इरानियन' में मिलेगा। इस सम्बन्ध में प्रो० जैकोबी, ओल्डेनबर्ग तथा कीथ में जो वाद-विवाद हुआ, वह, सन् १९०९ के जे० आर० ए० एस० (जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी) के पृ० ७२० तथा आगे, पृ० १०९५ तथा उसके आगे, पृ० ११०० तथा और फिर सन् १९१० के अंक के पृ० ४५६ तथा उसके आगे, ४६४ तथा आगे देखा जा सकता है।

इसी आर्य भाषा में हुई होगी। इन ऋचाओं की बहुत दिनों तक, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, मौखिक परम्परा चली होगी और अन्त में, भारत में, इन्हें वर्तमान रूप मिला होगा।[१] परन्तु भारोपीय का प्रसार केन्द्र कहाँ था, इस प्रश्न के हल करने में प्रो० कीथ का प्रोफेसर गाइल्स से मतभेद है। उनका यह दृढ़ मत है कि वह स्थान एशिया में ही था तथा शतम्-भाषी आर्य मीडिया में पूर्व से ही आये थे, पश्चिम से नहीं। अन्य भारोपीय भाषा-भाषियों में कतम् भाषा-भाषी ही अधिक थे तथा उन्होंने अरल एवं कैस्पियन सागर के उत्तर स्थित मार्ग द्वारा ही यूरोप में प्रवेश किया। इसे स्वीकार करने के पूर्व, शब्द-समूहों पर आधारित प्रो० गाइल्स के उन तर्कों पर भी विचार कर लेना चाहिए जिनके कारण वे डैन्यूब के मैदान को ही शतम् एवं कतम् भाषा-भाषियों का मूल उद्गम-केन्द्र मानते हैं।

साइबेरीय उद्गमसम्बन्धी सिद्धान्त

इसके अतिरिक्त एक अन्य नवीन सिद्धान्त प्रो० जे० डे० मार्गन द्वारा प्रतिपादित किया गया है।[२] यह न तो भाषा पर आधारित है और न नृ-शास्त्र पर ही, अपितु इसका आधार यूरोप के हिम-युग का इतिहास है। इस के अनुसार मूल प्रसार-केन्द्र साइबेरिया था, क्योंकि जिस युग में उत्तरी यूरोप हिम से आच्छादित था उस युग में इस प्रदेश का जलवायु कुछ-कुछ गर्म था। हिमयुग के अन्त में, जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण यूरोप निवास करने योग्य बन गया किन्तु साइबेरिया में जीवन-निर्वाह कठिन हो गया अतएव इसके निवासी विभिन्न दिशाओं में प्रसरित होने के लिए बाध्य हो गये। धीरे-धीरे भारोपीयों के पूर्वज कम से कम दो दिशाओं में फैले। इनका एक समूह जो मुख्यतः कतम् भाषा-भाषी था, पश्चिम दिशा में यूरोप की ओर गया। प्रोफेसर गाइल्स के अनुसार यहीं डैन्यूब का मैदान इनका गौण प्रसारकेन्द्र बना। दूसरा समूह जिसमें अधिकांशतः शतम् भाषा-भाषी थे, दक्षिण-पश्चिम की ओर ईरान तथा निकटवर्ती प्रदेशों में जा बसा। प्रोफेसर गाइल्स मंडा लोगों की उपस्थिति मीडिया

१. वेद के प्राचीनतम मंत्रों की मूल भाषा के सम्बन्ध में ११ वें अध्याय के शुरू की पादटिप्पणी ३ देखें।

२. अपने लेख "The origin of the Semetics and the home of the Indo European, in the Revue de Synthese Historique" **खण्ड** XXXIV No 100-102 **में इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।**

तथा ईरानियों के पूर्वजों की उपस्थिति ईरान के प्लेटो में इसी रूप में मानते हैं। यद्यपि इन दोनों समूहों में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध था, तथापि ये स्वतन्त्र रूप में ही इधर प्रसरित हुए। ये दोनों समूह मिलकर ही 'आर्य' नाम से अभिहित हुए। ये लोग डैन्यूब के काँठे से चलकर, दर्रे दानियाल को पार कर, एशिया माइनर में प्रविष्ट होनेवाले हत्ती लोगों के वस्तुतः चचेरे भाई थे, सहोदर भ्राता नहीं। यह सिद्धान्त आकर्षक तो है किन्तु अभी तक अन्य विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में पूर्णतया विचार नहीं किया है।[1]

मंडा प्रदेश से आर्यों का प्रसार

भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास के लिए ऊपर का विवाद विषयान्तरपूर्ण एवं व्यर्थ है। यहाँ यह जानकारी अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि मंडा लोग भारोपीय थे तथा उनका समय ईसा पूर्व २५०० वर्ष है। जिन विद्वानों का अन्य प्रश्नों के सम्बन्ध में मत-भेद है वे भी इस बात में सहमत हैं कि मंडा लोग आर्य थे। इस प्रकार हमें घटनाक्रम-सम्बन्धी एक प्रबल तथ्य की उपलब्धि होती है और वह यह है कि २५०० ई० पूव, शक्तिसम्पन्न आर्य उत्तरी एवं उत्तर-पश्चिमी ईरान में बस गये थे। मूलतः चाहे वे कहीं से भी आये हों, किन्तु इस बात के हमें कोई भी प्रमाण नहीं मिलते कि वे दक्षिण अथवा दक्षिण-पूर्व से आये थे। इसके अतिरिक्त इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि वे दक्षिणी ईरान से आये थे, अथवा (जैसा कि कुछ लोगों का विचार है) वे भारतवर्ष से गये थे। सर्वप्रथम हम उन्हें मीडिया तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में पाते हैं। वहीं वे शक्तिसम्पन्न बने तथा जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्होंने सुबर्तु प्रदेश पर विजय प्राप्त की। हमारे लिए यह तात्कालिक दिलचस्पी की बात है कि उनके देवताओं के नाम बाद में हम भारतवर्ष में भी पाते हैं तथा वे शतम् भाषा-भाषी थे और उनकी भाषा

१. ओरिएन्टल-स्टडी की बुलेटिन के खण्ड ४ (१९२६) के पृष्ठ १४७ तथा उसके आगे के पृष्ठों में डा० शारपेन्टियर ने डीमार्गन के इस मत से कि भारोपीय लोगों का मूल स्थान मध्य एशिया में था, अपनी सहमति प्रकट की है। इस सम्बन्ध में सीऔत्रा का 'लाग्रेसेएत्ल-ओरियन्ट एन्शियन' शीर्षक 'बेबिलोनिका' के खण्ड ८ (१९२४) पृ० १२९ तथा उसके आगे के पृष्ठों में उल्लेखनीय एवं द्रष्टव्य है। इस लेख में विद्वान् लेखक ने यह विचार प्रकट किया है कि मैसोपोटामिया की प्राचीन भाषा सुमेरियन तथा आर्यों की प्राचीन भाषा में पारस्परिक सम्बन्ध था।

प्राचीन वैदिक संस्कृत के अत्यधिक निकट थी। हम यह देख चुके हैं कि पश्चिम में असीरियावालों ने उन्हें भगा दिया था, किन्तु मीडिया में अपने उन भाइयों के साथ वे अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ रहे जो ईरान की अधित्यका (प्लेटो) में बस गये थे तथा जिनके अवशेषांश का पता इधर हाल में ही डी० मार्गन ने खोज निकाला है। इतिहास के इस युग में हम मीडीय तथा ईरानीय लोगों के सम्मिलित रूप को आर्य नाम से जानते हैं। इनमें से कुछ आर्य तो ईरान में ही रह गये, किन्तु अन्य लोगों ने अपनी जययात्रा आगे की ओर जारी रखी और अन्ततोगत्वा, वे एक दिशा में अपनी साहसिक यात्रा की सीमा, भारत में प्रविष्ट हुए। यहाँ आकर कुछ हद तक वे अफगानिस्तान के पहाड़ी प्रदेश तथा हिन्दूकुश पर्वत के कारण अपने भाइयों से बिलग हो गये।

ऐसी दशा में, जैसा कि प्रायः होता आया है,[१] परदेशी लोगों के मध्य, पृथक् बसे हुए आर्यों की भाषा में प्राचीन भाषा के रूप अक्षुण्ण रहे, किन्तु सापेक्षिक दृष्टि से ईरान में बसनेवाले आर्यों की भाषा से ये रूप पहले ही लुप्त हो चुके थे। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्यों के देवताओं के नाम अब तक वही थे जो कप्पादोसिया-स्थित बोगाज़कुई में अन्य आर्यों के साथ रहते समय थे। ईरान से ये नाम बहुत पहले ही विलुप्त हो चुके थे। इस प्रकार आर्यों की इन दोनों (भारतीय तथा ईरानी) शाखाओं की भाषाएँ स्वतंत्र रूप से विभिन्न स्तरों पर विकसित होती रहीं। वस्तुतः ईरान की अपेक्षा भारत में विकास की गति अधिक मन्द थी।

१. प्रो० गाईल्स ने इसी के समानान्तर एक अवस्था का उदाहरण दिया है। यह स्पेन में बोली जानेवाली तथा मैक्सिको एवं पेरू में बोली जानेवाली स्पेनिश का उदाहरण है। स्पेनिश के बोलनेवाले जो लोग मैक्सिको तथा पेरू गये, उनकी भाषा में १६वीं शताब्दी के प्राचीन स्पेनिश भाषा के रूप मिलते हैं, क्योंकि वे मूल स्थान से बहुत दूर जा बसे थे और उनके चारों ओर वहाँ के आदिवासी लोग थे। किन्तु स्पेन में बोली जानेवाली भाषा में परिवर्तन होता गया और उससे प्राचीनता के चिह्न भी विलुप्त हो गये। इस सम्बन्ध में पास का दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है; वह यह है कि आयरलैंड में निम्न स्तर के लोग जो अंग्रेजी बोलते हैं, वह आधुनिक अंग्रेजी का भ्रष्ट रूप नहीं है अपितु वह एलिजाबेथ के समय की अंग्रेजी है।

भारतीय आर्य तथा ईरानी

भारत में आगत आर्यों की भाषा ही वास्तव में भारतीय आर्य भाषाओं की जननी बनी। इसी प्रकार आर्यों की ईरानी शाखा की भाषा से आधुनिक ईरानी कुल की भाषाएँ विकसित हुईं।[1]

जहाँ तक ईरानी लोगों की भाषा का सम्बन्ध है, इनकी तथा उस समय के इनके उन भाइयों की भाषा, जो एक के बाद दूसरे समूहों में भारत की ओर प्रस्थान करते रहे, एक ही है। किन्तु जो लोग ईरान में रह गये थे उन्हीं की भाषा धीरे-धीरे ईरानी के रूप में विकसित हुई। इस अवस्था के पूर्व भारतीय तथा ईरानी लोग जो भाषा बोलते थे उसे हम "प्राचीन ईरानी" कह सकते हैं। यह भारत तथा ईरानवालों की सम्मिलित भाषा थी। इसमें भारत में प्रविष्ट होनेवाले आर्यों की भाषा की सभी विशेषताएँ तो थीं ही, ईरानी भाषा की भी कतिपय विशेषताएँ इसमें मौजूद थीं। ईरानी लोगों का एक अन्य समूह अपने पूर्वजों की भाँति ही पूर्व की ओर बढ़ा, किन्तु इसने और भी उत्तर स्थित मार्ग को ग्रहण किया और हिन्दूकुश के उत्तर के मार्ग से पामीर के क्षेत्र में प्रवेश किया।

दर्दीय समूह

यहाँ से उन्होंने हिन्दूकुश को पार कर उस क्षेत्र में पदार्पण किया जो दर्द-प्रदेश के रूप में वर्तमान है। सम्भवतः यहीं उन्हें आधुनिक बुरुशस्की लोगों के पूर्वज मिले थे। यहाँ या तो इन्होंने उन्हें विजित कर उद्वासित कर दिया अथवा उन्हीं के मध्य बसकर उन पर अपनी भाषा को आरोपित किया। ईरान से भयंकर पर्वत-शृंखलाओं से विच्छिन्न इस बर्बर-प्रदेश में 'प्राचीन ईरानी भाषा' स्वतंत्र रूप से विकसित होती हुई

१. सच बात तो यह है कि जैसे हम इण्डो-एरियन (भारतीय आर्य) शब्द का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार दूसरे भाषा-उपसमूह को हमें ईरानो-एरियन (ईरानी आर्य) कहना चाहिए। किन्तु बिना एरियन (आर्य) कहे हुए ही ईरानियन (ईरानी) कहना संक्षिप्त है और इस शब्द से किसी प्रकार का भ्रम भी उत्पन्न नहीं होता। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, यहाँ बात दूसरी है। यहाँ अनेक ऐसी भारतीय भाषाएँ हैं जो आर्य परिवार की नहीं हैं, अतएव जो आर्य भाषाएँ भारत में विकसित हुई हैं उन्हें द्योतित करने के लिए इंडो-एरियन (भारतीय आर्य) कहना आवश्यक है।

आधुनिक दर्दीय-भाषाओं में परिणत हो गयी। आज भी इसकी गठन आंशिक रूप में ईरानी तथा आंशिक रूप में भारतीय है।[1]

ग़ल्चः

जैसा कि अन्यत्र भी हो चुका है, प्राचीन ईरानी दलों ने हिन्दूकुश के उत्तर का जो मार्ग अपनाया था, उसी मार्ग से परवर्ती अन्य दलों का भी आगमन हुआ। इस समय तक 'प्राचीन ईरानी', ईरानी भाषा के रूप में विकसित हो चुकी थी। इन परवर्ती निष्क्रमणार्थियों की भाषा ने पामीर की ग़ल्चः भाषा का रूप धारण किया। जैसा कि

१. दर्द भाषा के विकास का यह विवरण सर्वे के इन पृष्ठों पर लिखित तथ्यों से भिन्न है—खंड ८, भाग २, पृष्ठ ७ …। बाद्र का तथ्य इस अनुमान के आधार पर लिखा गया है कि प्राचीन काल में आर्यों का निवासस्थान कोहकन्द और बदख्शाँ में था। यहाँ से वे दो शाखाओं में विभक्त हो गये। इनमें से एक ने दक्षिण मार्ग से भारत के लिए प्रस्थान किया और दूसरी ने पश्चिम से ईरान की ओर। पहली शाखा की भाषा भारतीय आर्यभाषा तथा दूसरी शाखा की भाषा ईरानी के रूप में विकसित हुई। इस विवरण के अनुसार विभाजन के बाद ही दर्दीय भाषाएँ ईरानी से पृथक् हो गयीं। इस समय तक ईरानी भाषा अभी पूर्णतया विकसित नहीं हुई थी। मैंने नीचे के रेखा-चित्र में इसे स्पष्ट कर दिया है—
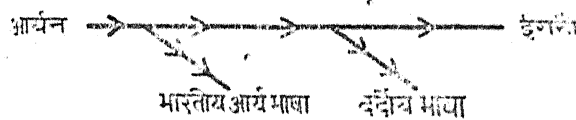
आधुनिक विवरण में परिणाम तो वही है किन्तु चित्र इस प्रकार होगा—
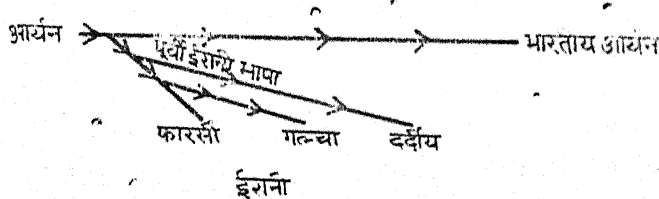
चित्र १२

हम आगे देखेंगे, ग़ल्चः में ईरानी की विशेषताएँ पूर्णरूप से मिलती हैं। किन्तु ये लोग केवल पामीर प्रदेश तक ही सीमित न रह सके। प्राचीन ईरानी भाषा-भाषियों में से कुछ लोग तो और पूर्व की ओर मध्य-एशिया में चले गये। ये लोग ईरानी भाषा बिलकुल नहीं बोलते किन्तु सर आरेल स्टाइन की खोजों के परिणामस्वरूप इनकी भाषा में प्राचीन भाषा के रूपों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[१]

इस प्रकार अन्ततोगत्वा हम आर्य-भाषाओं को तीन शाखाओं में विभक्त पाते हैं। ये हैं—ईरानी, दर्दीय और भारतीय आर्य-भाषा।

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
ईरानी भाषा	४६,१७,८९०	१९,८७,९४३
दर्दीय भाषा	११,९५,९०२	१३,०४,३१९
भारतीय आर्य भाषा	२२,६०,६०,६११	२३,२८,५२,५५५
भारतीय आर्यभाषाओं का योग	२३,१८,७४,४०३	२३,२८,५२,८१७

दर्दीय भाषाओं के सम्बन्ध में विचार स्थगित रखकर एक बार हम पुनः ईरानी तथा भारतीय आर्यों के विषय में विचार करेंगे। जैसा कि पश्चिमी भारोपीय जातियों के साथ हुआ, जहाँ भी ये दोनों आर्य-शाखाएँ गयीं, इन्हें वहाँ के आदिवासियों से मुका-बला करना पड़ा। आक्रमणकारियों ने इन आदिवासियों को पर्वतीय प्रदेशों में खदेड़ दिया किन्तु इनमें से अधिकांश पराजित होकर आर्य भाषा अंगीकार करने के लिए बाध्य हुए। आगत आर्यों की संख्या कम ही थी और उनके साथ आनेवाली स्त्रियों की संख्या तो उनकी अपेक्षा और भी कम थी। इसका परिणाम, जैसा कि प्रो० जस्टी ने कहा है, यह हुआ कि अंशतः संख्या में अधिक आदिवासियों के सम्मिश्रण तथा अंशतः जलवायु के प्रभाव के कारण, वंश की दृष्टि से भी, यूरोपीय आर्यों से वे भिन्न हो गये। यह दूसरी बात है कि भाषा की दृष्टि से यूरोपीय आर्यों से उनका आज भी सम्बन्ध है।

१. यहाँ भी, पिछली पाद-टिप्पणी में दिये गये कारणों से, सर्वे के भाग १०, पृष्ठ १ में लिखित ईरानी-भाषाओं के विकास के विवरण से यह विवरण भिन्न है। किन्तु पूर्व की ही भाँति इसके भी परिणाम वही हैं।

सामान्यतया," जिस प्रकार दक्षिण यूरोप के निवासी उस मूल वंश से उत्पन्न हुए हैं जो न तो स्वीडिश और न फ्रिज़लैंडर ही है, ठीक उसी प्रकार, नृविज्ञान की दृष्टि से, हिन्दू-जाति के आर्य ट्यूटनों से पूर्णतया भिन्न हैं। यद्यपि ट्यूटन लोगों की भाषा का आधुनिक संस्कृत एवं फारसी से सम्बन्ध है किन्तु उनकी वंशगत समानता इन भाषाओं के बोलने-वालों की अपेक्षा उत्तर समुद्रतटवर्ती गौराङ्ग जातियों से ही अधिक है।

नवां अध्याय

ईरानी शाखा

ईरानी शाखा

ईरानी शाखा के आर्यों को हम फ़ारस में छोड़ आये हैं। पीछे यह कहा जा चुका है कि इनमें से कुछ लोग पूर्व की ओर बढ़ते हुए हिन्दूकुश के उत्तर में जा पहुँचे। पामीरनिवासी ही अब इनके प्रतिनिधि हैं। ये आज भी ईरानी भाषाएँ बोलते हैं। सुदूर पूर्व, यारकन्द तक में, आर्य-रूप-रंगवाली ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो तातारों से पराजित होकर बाद में उनके द्वारा अपना ली गयीं।

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पश्चिमी (फारसी)	७,५७९	६,२६८
पूर्वी (फारसी)	४६,१०,३११	१९,८१,६७५
भारत में कुल योग	४६,१७,८९०	१९,८७,९४३

ईरानी भाषा की सीमाएँ

इस प्रकार हम पामीर के पूर्व सरीकोल प्रदेश को वर्तमान ईरानी भाषाओं की पूर्वी सीमा मान सकते हैं। ईरान में बस जानेवाले लोगों ने मर्व, समस्त ईरान, अफ़-गानिस्तान तथा बलूचिस्तान को अधिकृत कर लिया। इस ओर ईरानी भाषा की पूर्वी सीमा सिन्धु नदी को माना जा सकता है, यद्यपि किसी समय सिन्धु नदी के पश्चिम का अधिकांश भाग भारतीय आर्यसमूह द्वारा विजित कर लिया गया था। अब भी वहाँ भारतीय आर्य-भाषाएँ पायी जाती हैं। इस बात के कोई भी चिह्न नहीं मिलते कि ईरानियों ने कभी काफ़िरिस्तान को अथवा काफ़िरिस्तान और काबुल नदी के मध्यवर्ती लग़मान प्रदेश को अधिकृत किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगमन के पूर्व ही दर्द लोग इस देश पर अधिकार कर चुके थे।

पर्सिक (पारसीक) और मिडियायी भाषाएँ

आदि युग में हम ईरानी भाषा को दो ऐसी भाषाओं में विभक्त पाते हैं, जो एक-दूसरे से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं। इसके लिखित प्रमाण उपलब्ध भी हैं। सामान्य रूप से ये पारसीक (फारसी) एवं मिडीय नामों से पुकारी जाती हैं। इनके लिए पारसीक तथा पारसीकेतर नाम अधिक उपयुक्त होंगे।[1]

पर्सिक, पुरानी फारसी

पर्सिक (पारसीक) भाषा का प्राचीनतम रूप, जिससे हम भली-भाँति परिचित हैं, हरवा मनीश वंश की पुरानी फार्रसी है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण डेरियस प्रथम या दारयवहुश (धारयद्वसुः, ई० पू० ५२२-४८६) के बेहिस्तुन के शिलालेख में मिलते हैं। यह पर्सिपोलिस के दरबार की शासकीय भाषा थी और समस्त ईरान में इसका प्रचार था। इसका प्रयोग केवल सरकारी कागज-पत्रों में ही नहीं होता था अपितु अन्तःप्रान्तीय व्यवहार में भी यह उसी रूप में प्रयुक्त होती थी जिस रूप में हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी का प्रयोग होता है।

मध्य फारसी

पर्सिक (पारसीक) भाषा की द्वितीयावस्था के लिखित रूप हमें मध्य फारसी या पहलवी (पार्थीय) में मिलते हैं। मध्य फारसी का पोषक ससानीय राजवंश था

१. मिडीय भाषा की विशेषताएँ केवल मीडिया की सीमा में ही नहीं मिलतीं अपितु उससे और सुदूर पूर्व तक में मिलती हैं। मीडिया की भौगोलिक सीमा वर्तमान उत्तर-पश्चिमी ईरान तथा कुर्दिस्तान थी। प्राचीन काल में यह भूभाग मंडा नाम से प्रख्यात था। मिडीय भाषा की विशेषताएँ अवेस्ता में भी मिलती हैं। अवेस्ता की रचना पूर्वी ईरान में हुई थी। जो लोग पारसीक (फारसी) भाषा-भाषी नहीं थे उनमें मिडीय लोगों का स्थान, राजनीतिक दृष्टि से, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और उनका बोध कराने के लिए मिडीय शब्द उपयुक्त एवं सुगम है। इसके साथ ही यहाँ यह भी हृदयंगम कर लेना चाहिए कि इस बात को स्वीकार करने के लिए तनिक भी गुंजायश नहीं है कि चूँकि अवेस्ता की भाषा मिडीय है, अतएव उसका रचना-स्थान भी मीडिया है। यह सत्य है कि कुछ विद्वान् इस विचार से सहमत हैं किन्तु 'मिडीय' शब्द के गलत प्रयोग से इस प्रश्न का समाधान नहीं किया जा सकता।

जिसका राज्यकाल तीसरी से सातवीं शती ईसवी था। मध्य फारसी का आधुनिक फारसी से वही सम्बन्ध है जो प्राकृत का आधुनिक आर्यभाषाओं से है। पारसीक की तीसरी अथवा अन्तिम अवस्था आधुनिक फारसी है जो साहित्यिक एवं भद्र समाज की भाषा के रूप में विकसित हुई। इसका रूप भी प्राचीन काल में ही स्थिर हो चुका था। इसमें समय-समय पर अरबी का सम्मिश्रण अवश्य हुआ किन्तु साधारण रूप से लगभग एक सहस्र वर्षों तक इसका रूप एक ही रहा। मुसलमानी राज्यकाल में यह भारत की एक महान साहित्यिक भाषा बन गयी और इसमें अनेक बड़े कोषों एवं अन्य महत्त्व-पूर्ण ग्रंथों की रचना हुई। अब बोलचाल की भाषा के रूप में, भारत में फारसी का कहीं भी प्रयोग नहीं होता किन्तु आज भी यह शिक्षित मुसलमानों के ललित साहित्य की भाषा है। फारसी भाषा-भाषियों का उल्लेख करते हुए श्री बेन्स महोदय अपनी सन् १८९१ की जनगणना की रिपोर्ट में लिखते हैं—"बंगाल तथा रंगून में दिल्ली और लखनऊ के पुराने राजवंशों के अवशिष्ट रूप में कुछ लोग हैं। इसी प्रकार पंजाब में (फारस के) कुछ व्यापारी तथा अफगानिस्तान के कतिपय निष्क्रमणार्थी एवं बम्बई में फारस के, घोड़ों के कतिपय व्यापारी बस गये हैं। इनके अतिरिक्त भारत में कहीं भी फारसी नहीं बोली जाती। जन-गणना में कतिपय अन्य लोगों ने जो अपनी मातृभाषा फारसी लिखवायी है, वह परिनिष्ठित उर्दू के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं।" ऊपर के क्षेत्रों के अतिरिक्त बलूचिस्तान में फारसी बोलनेवालों का एक उपनिवेश अवश्य है। यहाँ ७५७९ व्यक्ति फारसी की एक बोली बोलते हैं जिसका स्थानीय नाम देहवारी है। वस्तुतः केवल इतने ही ईरानी लोग नहीं हैं जो भारत में बस गये हैं। सिकन्दर महान् के उत्तराधिकारियों तथा उनके अनुगामी भारत-सीदियनों के शासन-काल में, प्राचीन ईरानी सूर्यपूजकों ने धर्मप्रचारकों के रूप में भारत में प्रवेश किया था। यहाँ ये अपने धर्म-तत्त्वों के साथ ब्राह्मणवर्ग में सम्मिलित कर लिये गये। आज भी ये शाकद्वीपीय ब्राह्मण के रूप में वर्तमान हैं। बाद के युग में, मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित होकर, कट्टर जरथुस्त्रीय लोग ईरान छोड़कर यहाँ चले आये और पश्चिमी भारत में बस गये। समृद्धिशाली पारसी जाति के लोग उन्हीं के वंशज हैं। परन्तु इन दोनों आप्रवासियों (इमीग्रेण्ट्स) ने अपनी ईरानी भाषा का परित्याग कर नव्य भारतीय भाषाओं को अपना लिया है। अफगान आगन्तुकों की फारसी बहुत अंशों में बदख्शी बोली से मिलती जुलती है और इसमें पश्तो के भी अनेक शब्द हैं।

मिडीय भाषा

मिडीय भाषा के अन्तर्गत की बोलियाँ ईरान के सुदूर स्थित प्रदेशों में भी बोली

जाती थीं। यद्यपि वर्तमान युग का पश्चिमी फारस ही उस समय का मिडीय प्रदेश था तथापि मिडीय भाषा के शब्द उस सीमा से बाहर बहुत दूर तक प्रचलित थे। उदाहरणार्थ 'कुत्ते' के लिए मिडीय-शब्द 'स्पक' लिया जा सकता है जो हिरोडोटस की कृपा से सुरक्षित है। सुदूर अफगानिस्तान की भाषा ओर्मुड़ी में यह शब्द 'स्पुक्' तथा

पूर्वीय ईरानी

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
अफ़ग़ानी—बलोची उपशाखा	४६,१०,३११	१९,८,१६७५
गल्चः उपशाखा	..	..
योग	४६,१०,३११	१९,८१,६७५

पश्तो में 'स्पाए' रूप में आज भी वर्तमान है किन्तु पड़ोस की फारसी में यह 'सग्' रूप में मिलता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार प्राचीन मिडीय में लिखित सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ अवेस्ता की रचना मीडिया में नहीं अपितु पूर्वी ईरान में हुई थी। अवेस्ता के प्राचीन अंशों की रचना ईसा के लगभग छै शताब्दियों पूर्व हुई थी। यद्यपि इसके

अफ़ग़ान—बलोची उपशाखा

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
बलोची	७,०४,५८६	४,८५,४०८
ओर्मुड़ी	..	..
पश्तो	३९,०५,७२५	१४,९५,२६७
योग	४६,१०,३११	१९,८१,६७५

अधिकांश भागों की रचना कई शताब्दियों के बाद हुई तथापि हमें ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जिनसे मध्य-मिडीय भाषा का प्राचीन मिडीय से हम उसी प्रकार सम्बन्ध दिखला सकते जिस प्रकार पह्लवी का पर्सिक (पारसीक या पुरानी फारसी) से दिखलाया जाता है। इस सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है वह इससे विकसित आधुनिक भाषाओं के रूप में ही है। ये हैं सम्पूर्ण फारस तथा अवान्तर देशों में बोली जानेवाली पामीर की

गल्च: बोलियाँ, पश्तो, ओर्मुड़ी, बलोची तथा अन्य बहुसंख्यक बोलियाँ जिनमें कुर्दिश अत्यधिक प्रसिद्ध है। चूँकि इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषाएँ प्राचीन ईरान के पूर्वी भाग में बोली जाती हैं अतः इनका वर्गीकरण ईरानीय भाषाओं की पूर्वी शाखा के अन्तर्गत किया गया है।[1] फ़ारस में बोली जानेवाली बोलियों से हमारा यहाँ सम्बन्ध नहीं है। जिन भाषाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप में भारत से है, उन्हें शुद्ध भौगोलिक आधारों पर दो उपशाखाओं—अफ़ग़ान-बलोची उपशाखा और ग़ल्च: उपशाखा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मैं दक्षिण से प्रारम्भ कर इन पर क्रमशः विचार करूँगा।

बलोची

बलोची भाषा का देश, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, बलूचिस्तान है। किन्तु यह उस प्रान्त की सीमा के अवान्तर प्रदेशों में भी दूर तक फैली हुई है। पूर्व में इसका विस्तार सिन्धु नदी तक है। उत्तर में इसकी सीमा डेरा ग़ाज़ीखां तक है, यद्यपि सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश में प्रमुख रूप से लहँदा या सिन्धी बोलनेवालों का निवास है। उत्तर की ओर ब्रिटिश-बलूचिस्तान (अब पाक-बलूचिस्तान) के क्वेटा नगर तक, अथवा यों कहें कि उत्तरी अक्षांश की १३ वीं डिग्री तक इसका प्रसार है। जब हम पश्चिम की ओर बढ़ते हैं तो इसे और भी आगे हेलमंड के काँठे तक पाते हैं, जहाँ पश्तो उस प्रदेश की मुख्य भाषा बन जाती है। पश्चिम में कुछ और दूर तक, जहाँ से हेलमंड का निचला मार्ग दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ता गया है, हम फ़ारस के सीस्तान् प्रान्त में आ जाते हैं। यहाँ बलूची और ईरानी लोग मिश्रित रूप में पाये जाते हैं और इस क्षेत्र की भाषा आंशिक रूप में बलोची है और आंशिक रूप से फारसी। वास्तव में घुमक्कड़ बलोची और भी उत्तर में कर्मान तथा मध्य खुरासान तक पाये जाते हैं। क्वेटा के दक्षिण में, ब्रिटिश बलूचिस्तान के अधिकांश भाग की भाषा बलोची ही है। पश्चिम की ओर, यह प्रमुख भाषा के रूप में फारसी-बलूचिस्तान तथा बैम्पुर तक विस्तृत होती जाती है। पश्चिम में कम से कम जस्क, अथवा पूर्वीय देशान्तर की ५८ डिग्री तक के निवासियों द्वारा यह बोली जाती है। यह विस्तृत प्रदेश अपने में एक अन्य

१. इस 'पूर्वीय' शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में उसी प्रकार किया जाना चाहिए, जिस रूप में यहाँ 'मिडीय' शब्द का व्यवहार किया गया है। उपबोलियाँ न केवल मध्य एशिया में ही बोली जाती हैं, प्रत्युत पश्चिमोत्तर में, दूरस्थित कैस्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेशों में भी उनका प्रयोग होता है।

इतर-ईरानी जाति---ब्राहूई---को भी समाविष्ट कर लेता है जिसकी अपनी स्वतंत्र भाषा है। ब्राहूई ब्रिटिश बलूचिस्तान के मध्य भाग में बोली जाती है। इसने बलोची भाषा को दो भिन्न बोलियों---पूर्वी बलोची और पश्चिमी बलोची या मक्रानी---में विभाजित कर दिया है। फ़ारसी क्षेत्र में पश्चिमी-बलोची बोलनेवालों की संख्या दो लाख के लगभग ह। नीचे दिये हुए सर्वेक्षण के आँकड़ों में यह संख्या भी सम्मिलित है। इन दोनों बोलियों की कई छोटी-छोटी उपबोलियाँ भी हैं, किन्तु हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए पूर्वी तथा पश्चिमी बलोची के मुख्य विभाजन ही यथेष्ट हैं। ध्वनि तथा व्याकरण-सम्बन्धी अन्तरों के अतिरिक्त पूर्वी बलोची, पश्चिमी बलोची से,

बलोची की दो शाखाएँ

	सर्वेक्षण
पूर्वी बोली	३,७६,८२२
पश्चिमी बोली	३,२४,८९९
अनिर्दिष्ट	२,८६५
योग	७,०४,५८६

भारत से उधार लिये शब्दों के सम्बन्ध में, अधिक सम्पन्न है। पश्तो क्षेत्र में दोनों ही बोलियों ने अरबी और फ़ारसी के शब्दों को स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण किया है। अपने अफ़ग़ान पड़ोसियों की अपेक्षा बलोचियों को अरबी अक्षरों के उच्चारण में कठिनाई होती है। इसी लिए उस भाषा से गृहीत कतिपय शब्दों के रूप बहुत विचित्र ढंग से परिवर्तित हो गये हैं।

बलोची में बहुत थोड़ा साहित्य है। इसमें अधिकतर लोकगीत, लोककथाएँ आदि ही हैं। इनका संग्रह स्वर्गीय डेम्स तथा अन्य विद्वानों ने किया है। हमारे पास दोनों ही बोलियों के व्याकरण तथा शब्द-समूह हैं। इनमें बाइबिल के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद भी हो चुका है। इनके लिखने के लिए अरबी-फारसी अक्षरों तथा रोमन वर्णमाला, दोनों का ही उपयोग किया जाता है। समस्त पूर्वी ईरानी भाषाओं में बलोची ही ऐसी है जिसने अपने पुरातन स्वरूप को सुरक्षित रखा है। कुछ अंशों में इसकी व्यंजन-प्रणाली उसी अवस्था में है जिस अवस्था में मध्य-पहलवी युग की है। प्रोफेसर गाइगर के अनुसार इसके अक्षर अभी तक उसी अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित हैं, जो कि प्राय: पन्द्रह सौ वर्षों से आधुनिक फारसी भाषा के रूप में अपनी मूल ध्वनि को

छोड़ते आ रहे हैं। इसके व्याकरण के रूपों (विभक्ति, धातुरूप, प्रत्यय आदि) में भी अनेक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं। सिन्ध के पूर्व के देशी राज्यों में, अब भी अपनी मातृ-भाषा का प्रयोग करनेवाले बलोची, सरदारों की व्यक्तिगत वस्तुओं के एवं उनके कोष के रक्षकों के रूप में, पाये जाते हैं। सामान्यतया ये मक्रानी लोग हैं। भारतीय जनगणना में प्रायः इन सभी भाषा-भाषियों को पंजीबद्ध नहीं किया गया है। अफगानिस्तान तथा फारस से सम्बन्धित लोगों को निश्चित रूप से इस जनगणना में छोड़ दिया गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इनकी अनुमानित संख्या सर्वेक्षण में दी गयी है।

ओर्मुड़ी

ओर्मुड़ी भाषा-भाषियों की संख्या अज्ञात है। यह एक उपेक्षित भाषा है। इस जाति के पूर्वज और नेता मीर बरक के नाम पर इसे बरगस्ता या बरगिस्ता कहते हैं। यह जनगणना क्षेत्र से बाहर वज़ीरिस्तान के कनीगोरम तथा अफगानिस्तान की लोगर घाटी में बसे हुए केवल कुछ हजार व्यक्तियों की ही भाषा है। यद्यपि यह अफगानिस्तान के ठीक मध्य में बोली जाती है, किन्तु वज़ीरी पठानों से घिरी होने पर भी, उधार लिये शब्दों के अतिरिक्त, पश्तो से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि सीमित अर्थ में इसका सम्बन्ध पूर्वीय ईरानी भाषा से है, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह कुर्दिश भाषा से सम्बन्धित है। इस जाति में एक असम्भावित किंवदन्ती प्रचलित है जिसके अनुसार ये लोग अरब-स्थित यमन-प्रदेश से आये और आज से चार सौ वर्ष पूर्व उमर लबान नामक एक प्राचीन वयोवृद्ध विद्वान् ने इनकी भाषा का आविष्कार किया था। पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा बहावलपुर राज्य में भी बहुसंख्यक ओर्मुड़ी लोग बस गये हैं, किन्तु यहाँ वे पूर्णतया अपनी मातृभाषा छोड़ चुके हैं। इस भाषा में किसी प्रकार के साहित्य का सर्वथा अभाव है, लेकिन पश्तो द्वारा अपनायी गयी अरबी-फ़ारसी लिपि में इसे लिखने का एक दो बार प्रयत्न किया गया है।

पश्तो

पश्तो ब्रिटिश सीमा के अन्तर्गत सिन्धु नदी के उभयतटवर्ती जिलों में दक्षिण की ओर डेरा इस्माइल खां तक बोली जाती है। उत्तर की ओर यूसुफ़ज़ाई प्रदेश बजौर, स्वात और बुनेर तक, तथा जहाँ से सिन्धु नदी दक्षिण की ओर मुड़ती है, सिन्धी कोहि-स्तान से लेकर कम से कम कंडिया नदी तक इसका प्रसारक्षेत्र है। स्वात, बुनेर और

कोहिस्तान के उत्तरी भागों के अधिकांश निवासी अपने घरों में दर्दीय कुल की भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु इधर पश्तो, सार्वभौम रूप से जनसाधारण के पारस्परिक व्यवहार की भाषा है। ब्रिटिश राज्य में इसकी पूर्वीय सीमा सामान्यतः सिन्धु नदी के बराबर मानी जा सकती है, यद्यपि हज़ारा और अटक ज़िलों में भी पश्तो-भाषी उपनिवेश हैं तथा मियाँवाली में यह सिन्धु नदी के दोनों तटों की भाषा है। डेरा इस्माइल खां के ज़िले में प्रवेश करने पर सिन्धु के काँठे के निचले प्रदेश को लहँदा भाषा के अधिकार में छोड़ती हुई, इसकी पूर्वीय सीमा धीरे-धीरे सिन्धु नदी से हटती जाती है। चौधवान शहर से प्रायः ३० मील दक्षिण की ओर यह बलोची भाषा से मिलकर पश्चिम की ओर घूम जाती है। इसकी दक्षिणी सीमा शोरवाक से होती हुई क्वेटा के दक्षिण तब तक बढ़ती जाती है, जब तक बलोचिस्तान की मरुभूमि से वह अवरुद्ध नहीं हो जाती। वहाँ से प्रायः पूर्वीय अक्षांश की ६१वीं डिग्री तक, नदी के नीचे के उपनिवेशों के साथ, जो पश्चिम से दक्षिण की ओर जाती है, यह रेगिस्तान की उत्तरी एवं पूर्वीय सीमाओं का अनुगमन करती है। वहाँ से यह उत्तर की ओर, हेरात के दक्षिण, लगभग ५० मील तक चली जाती है, जहाँ यह अपनी पश्चिमोत्तरी सीमा से मिल जाती है। इसकी

पश्तो की बोलियाँ

	सर्वेक्षण
पूर्वोत्तर बोली	८,०६,९७४
दक्षिण-पश्चिमी बोली	६,७६,४०२
अनिर्दिष्ट	६३,३४९
ब्रिटिश सीमा के बाहर की अनुमानित संख्या	२३,५९,०००
योग	३९,०५,७२५

उत्तरी सीमा पूर्व की ओर लगभग हज़ारा प्रदेश तक चली जाती है। यहाँ के निवासी पश्तो भाषा का प्रयोग न करके फ़ारसी अथवा उस भाषा का व्यवहार करते हैं, जो मंगोल-वंशोत्पन्न भाषा है। हज़ारा प्रदेश को पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की ओर से घेरती तथा ग़ज़नी शहर को छोड़ती हुई, अन्तिम रूप से यह उत्तर में, हिन्दूकुश की ओर अग्रसर होती है। काफ़िरिस्तान को इसके पूर्व और पश्चिम की ओर छोड़ते हुए यह सामान्यतः जलालाबाद तक काबुल नदी का अनुगमन करती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका

है, वहाँ से यह कुनार की ओर बढ़कर बजौर और स्वात को सम्मिलित कर लेती है।[१] यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस ऊबड़-खाबड़ प्रदेश की समस्त जनता पश्तो-भाषी नहीं है। ब्रिटिश राज्य के हिन्दू लहंदा बोलते हैं। तत्रभवान् अफ़ग़ानिस्तान के शाह के राज्य में जातियों का अत्यधिक सम्मिश्रण हुआ है, जिनमें ताजिक, हज़ारा, किज़िलबाशी तथा काफ़िर अपनी विभिन्न-मूलोत्पन्न मातृभाषाओं का व्यवहार करते हैं। साधारण रीति से हम यह कह सकते हैं कि वे प्रदेश, जहाँ की बहुसंख्यक जनता मातृभाषा के रूप में पश्तो बोलती है, दक्षिणी एवं पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान, सिन्धु नदी के दक्षिणी मोड़ पर स्थित डेरा इस्माइल खां के पश्चिमी भाग एवं उत्तरी बलोचिस्तान के संकीर्ण प्रदेश हैं।

यदि स्थानों के नाम ठीक हैं तो अपने वर्तमान रहने के स्थान के कम-से-कम एक भाग में पश्तो भाषा-भाषी लोग गत ढाई हज़ार वर्षों से रहते आये हैं। उनकी तुलना हेरोडोटस के 'पक्त्येस' एवं वेदों के 'पक्थस्' से की गयी है। इसी प्रकार अफ़रीदियों को, जो अपने को 'अप्रीदी' कहते हैं, प्राचीन युग के 'अपर्यतै' के प्रतिनिधि होने की सम्भावना की गयी है। उनके परवर्ती इतिहास से यहाँ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है; केवल सूचना के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उन्होंने भारत पर कई बार आक्रमण किया है। उनकी एक बड़ी संख्या उसी देश में बस गयी है, जो पठान (यह 'पश्तान' या 'पख़्तान' का विकृत रूप है) के नाम से प्रसिद्ध हैं; और यह कि दिल्ली सम्राट शेरशाह भी इसी अफ़ग़ान वंश का था। अफ़ग़ानों का एक अन्य वर्ग भारत में प्रति वर्ष शरद ऋतु में आता है और समूचे देश में यह फेरीवालों तथा घोड़े के व्यापारियों और कभी-कभी छोटी-मोटी वस्तुओं के विक्रेताओं के रूप में, हेमन्त ऋतु तक घूमता रहता है। पश्तो का साहित्य बहुत ही समृद्धिशाली है और इसमें श्रेष्ठ ग्रंथ भी उपलब्ध हैं जो संशोधित फारसी लिपि में लिखे गये हैं। इसने भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट किया है। इसकी ध्वनियों की रुक्षता इसके बोलनेवालों के स्वभाव एवं उनके पर्वतीय निवास के अनुरूप है, किन्तु अन्य पूर्वीय देशों के अत्यन्त परिमार्जित कानों के लिए यह कटु है। सोलोमन बादशाह के युग के परम्परागत भाषा-सर्वेक्षण का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ।[२] उस समय पश्तो की ध्वनि का बोध कराने के लिए आसफ ने

१. ऊपर के सभी स्थान सर्वेक्षण के दसवें खण्ड के पृष्ठ ५ के सामनेवाले पृष्ठ पर स्पष्टता से अंकित किये गये हैं।

२. पृष्ठ ३ की पादटिप्पणी २ देखो।

एक बर्तन में पत्थर का टुकड़ा डालकर उसे हिलाया था। यहाँ मैं एक प्रसिद्ध लोकोक्ति का उल्लेख करूँगा, जिसके अनुसार अरबी विज्ञान है, तुर्की सिद्धि है, फारसी शर्करा है, हिन्दोस्तानी नमक है, किन्तु पश्तो गधे का रेंकना है ! इन प्रतिकूल आक्षेपों तथा कर्कश ध्वनि के बावजूद भी यह शक्तिशाली भाषा है और किसी भी भाव को अत्यन्त स्पष्ट एवं यथार्थ रूप में व्यक्त करने में यह सक्षम है। अन्य सामान्य विशेषताओं में यह बलोची से कम प्राचीन है। इसने भारतीय स्रोतों से प्रचुर परिमाण में केवल शब्द ही उधार नहीं लिये हैं अपितु कुछ अंशों में इस पर भारतीय भाषाओं के व्याकरण का भी प्रभाव है। सभी दृष्टियों से विचार करने से, यद्यपि पश्तो एकरूपता-सम्पन्न भाषा है तथापि इसकी दो स्वीकृत बोलियाँ—पूर्वोत्तरीय अथवा 'पख़्तो' और दक्षिणी-पश्चिमी या 'पश्तो' हैं। उच्चारण के अतिरिक्त इन दोनों बोलियों में बहुत कम अन्तर है और इस अन्तर के सुन्दर उदाहरण इनके नाम ही हैं जो एक ही शब्द के दो रूप हैं। इनमें से प्रत्येक की अनेक क्षेत्रीय उपबोलियाँ भी हैं जिनके उच्चारण-स्थान में अन्तर हैं। किसी भी भारतीय जनगणना में समस्त पश्तो भाषा-भाषियों की संख्या नहीं दी गयी है, क्योंकि यह केवल ब्रिटिश क्षेत्र में बसे हुए पश्तो बोलनेवालों तक ही सीमित है।

ग़ल्चः उपशाखा—वख़ी, शिगनी, इश्काश्मी, मुंजानी

अफ़ग़ानिस्तान को छोड़ते हुए तथा काफ़िरिस्तान एवं चित्राल प्रदेश के उत्तर से होते हुए हम पूर्वी ईरानी भाषाओं की ग़ल्चः उपशाखा के क्षेत्र में आते हैं। वे पामीर एवं तटवर्ती प्रदेशों में बोली जाती हैं और एक का दूसरी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये हैं—वखन में बोली जानेवाली 'वख़ी', तग़दुम्बश, पामीर एवं सरीकोल की अपनी उपबोली 'सरीकोली' सहित शग़नान तथा रोशन प्रदेश की 'शिगनी या ख़ुगनी' भाषाएँ; इश्काश्म तथा ज़ेबक देश की अपनी उपबोलियों, संगलीची और ज़ेबकी सहित इश्काश्मी भाषा; 'मुद्ग़ा' नामक उपबोली सहित मुन्जान की 'मुन्जानी या मुंगी' भाषा; और कुछ अधिकारी विद्वानों के अनुसार पामीर के उत्तर तथा ज़रफ़शान नदी के उद्गम प्रदेश के आसपास बोली जानेवाली 'यग़नोबी' भाषा। इनमें से केवल एक भाषा—'मुद्ग़ा' अथवा 'ल्योटकुह-ए-वार' से ही हमारा तात्कालिक सम्बन्ध है। यह पामीर से दोरा दर्रे के द्वारा हिन्दूकुश की पर्वतमाला को पार कर 'लुद्खो' घाटी से चित्राल तक बोली जाती है। अन्य भाषाएँ भी चित्राल तथा समीप वर्त्ती प्रदेशों में बोलते सुनी जाती हैं किन्तु केवल आगन्तुकों के मुख से ही। निश्चित रूप से ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत, आप्रवासियों के उत्तरी हुंजा प्रदेश (गुहयाल) के उपनिवेशवासियों द्वारा बोली जानेवाली युद्ग़ा तथा वख़ी के अतिरिक्त, इनमें से कोई भी भाषा मातृभाषा के रूप में

नहीं व्यवहृत होती। इन दोनों के आँकड़े एकत्र करने में भी सर्वेक्षण असफल रहा है। वख़ी और शिग़नी के सम्बन्ध का हमारा ज्ञान शॉ के अनुसन्धानों पर अवलम्बित है। सर आरेल स्टाइन द्वारा प्रदत्त इश्काश्मी से सम्बन्धित तथ्य रॉयल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित ग्रन्थ में ज़ेब की भाषा संबंधी मेरी खोजों के सर्वेक्षण के परिणामों के साथ संश्लिष्ट कर दिये गये हैं। मुंजानी तथा उसकी बोली युद्ग़ा के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात हो सका है। युद्ग़ा के शब्दसमूह तथा व्याकरण की एक संक्षिप्त रूपरेखा जनरल बिड्डुल्फ ने प्रस्तुत की है। वस्तुतः सर्वेक्षण द्वारा उपस्थित किये गये नवीन तथ्यों के पूर्व, मुंजानी के सम्बन्ध में छात्रों की जानकारी तथा बाद की अन्य रचनाओं के लिए यही आधारभूत थी। भाषाशास्त्रियों के लिए ग़ल्चः भाषाएँ बड़े महत्त्व की हैं। इनके व्याकरणसम्बन्धी कतिपय रूप दक्षिण की दर्दीय भाषाओं के समान हैं और इस प्रकार ये दर्दीय एवं ईरानी भाषाओं की जोड़नेवाली कड़ी हैं।

दसवाँ अध्याय

दर्दीय अथवा पिशाच शाखा

निष्क्रमण-मार्ग

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि फ़ारस में बस जानेवाले आर्यों की भाषा साधारणतः ईरानी भाषाओं के रूप में पल्लवित हुई, जब कि भारत की ओर अग्रसर होनेवाले आर्यों से जो पृथक् हो गये थे, उनकी भाषा के विकास की गति बड़ी मन्द रही। इसने एक लम्बे समय तक मूल आर्यों की संयुक्त भाषा की विशेषताओं को सँजोये रखा। प्राचीन ईरानी भाषा के विकास के आदि-युग में—जब कि फ़ारस के आर्यों ने मूल आर्यभाषा के अधिकांश रूपों को सुरक्षित रखा, और इसकी तथा भारतीय आर्य-भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ बहुत कुछ समान थीं—कतिपय ईरानी आर्यों ने, हिन्दूकुश के उत्तर से पूर्व की ओर निष्क्रमण कर पामीर प्रदेश को अधिकृत कर लिया। वहाँ से उन्होंने एक दल या अनेक दलों के रूप में, हिन्दूकुश को दक्षिण की ओर से पार कर उस देश में प्रवेश किया जो आज दर्दिस्तान के नाम से विख्यात है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में यह देश हुन्ज़-नगर में पाये जानेवाले आर्येतर भाषा—बुरुशस्की-भाषियों—के पूर्व-पुरुषों द्वारा आबाद था। यह बहुत संभव है कि वे पश्चिमोत्तर भारत के आदि-वासियों के अवशेष रहे हों, और प्रथम भारतीय आर्य-आक्रमणकारियों के आगमन पर वहाँ भगा दिये गये हों। इस ऊबड़-खाबड़ तथा बर्बर देश में उत्तर से आनेवाले आर्य आक्रमणकारियों की भाषा निश्चित रूप से वहाँ के पूर्व-निवासियों की उस आर्येतर भाषा से प्रभावित हुई, जो अपने ढंग से विकसित हुई थी। यह न तो ईरानी

१. विकास की अवस्था पर विचार न करते हुए हम इसको दूसरे ढंग से भी कह सकते हैं, वह यह है कि फारस के मूल आर्यों के कबीलों की अपनी बोलियाँ थीं और इनमें से कुछ बोलियाँ अन्य बोलियों की अपेक्षा ईरानी के रूप में विकसित हुईं। इस अवस्था में दर्द लोगों के पूर्वज भी एक कबीले या कबीलों के समूह होंगे और इनकी बोली भारत में गमन करनेवाले आर्यों की बोली से समानता रखते हुए भी वही नहीं थी।

थी और न भारतीय ही, वरन् दोनों के मध्य की भाषा थी। अन्य परवर्ती ईरानी-भाषियों ने उनका अनुसरण किया और उपरिलिखित ग़ल्चः भाषा-भाषियों के पूर्व-पुरुषों के रूप में पामीर प्रदेश में बस गये। इस प्रकार हम वर्तमान युग में हिन्दूकुश को दो ऐसी भाषाओं के विभाजक के रूप में पाते हैं, जिनका सम्बन्ध एक दूसरी से अधिक दूर का नहीं है। ये हैं, उत्तर में पामीर की ग़ल्चः भाषाएँ, जो वास्तविक ईरानी हैं, और दक्षिण में अर्ध-ईरानी दर्दीय भाषाएँ। इसके अतिरिक्त दर्दिस्तान की भाषागत परिस्थितियों के अध्ययन के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मूल आर्यों के इधर आकर बस जाने के अतिरिक्त, सरलता से प्रवेश योग्य क्षेत्रों में परवर्ती ग़ल्चः लोगों के कई आक्रमण हुए। इससे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि काफ़िरिस्तान के दुर्गम प्रदेश की दर्दीय भाषा की अपेक्षा, पामीर से बड़ी आसानी से प्रवेश योग्य, चित्राल घाटी की खोवार भाषा का ग़ल्चः भाषाओं से कहीं अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नामकरण

दर्दिस्तान के निवासियों का प्राचीन साहित्य में प्रायः उल्लेख मिलता है। संस्कृत साहित्य में इन्हें 'दारद' अथवा 'दरद' कहा गया है। यह नाम केवल भौगोलिक ग्रन्थों में ही अनेक बार नहीं मिलता वरन् महाकाव्यों तथा पुराणों में भी इसका प्रयोग हुआ है। हेरोडोटस ने यद्यपि यह नाम नहीं दिया है तथापि उसने अपने "सोना खोदनेवाली चिटियों" के प्रसिद्ध विवरण (iii पृष्ठ १०२ . . .) में इसका उल्लेख किया है। ये नाम हैं—टालेमी का 'दरद्राइ', स्त्राबो का 'देर्दाइ', प्लिनी तथा नोन्नुस के 'दर्दाय्' और दायोनिसिओस पेरियेगेतेस का दर्दनोई। पश्चिमोत्तर भारत के अन्य निवासियों के साथ, भारतीय विद्वान् उन्हें 'बर्बर' अथवा 'नृष्ट आर्य' कहकर पुकारते थे। उनके रीति-रिवाज़ भी बड़ी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। उनके मनुष्यभक्षी होने की कथाएँ भी लोकप्रचलित थीं। इसीलए अन्य उपयुक्त नामों में उन्हें "पिशाच" शब्द से विभूषित किया गया, जिसका प्रयोग मनुष्य के मांस पर निर्भर रहनेवाले 'राक्षस" के अर्थ में किया जाता है। यह कहा नहीं जा सकता कि पिशाच उनका जातीय नाम था जिसका अर्थ बाद में विस्तृत होकर इस प्रकार का दैत्य हो गया अथवा केवल बुराई करने के लिए दर्द-देश के निवासियों को कच्चा मांस खानेवाला कहा गया। इनके सम्बन्ध में इतना अवश्य ज्ञात है कि लोग इनकी भाषा के अध्ययन में प्रवृत्त रहे[1] और

१. यह सम्भव है कि भारतीय वैयाकरणों ने जिस भाषा का अध्ययन किया

भारतीय वैयाकरणों ने पैशाची के अन्तर्गत इसका विवरण भी दिया है। यही कारण है कि इस सर्वेक्षण के प्रारम्भिक भागों में, मैंने दर्द भाषा के विभिन्न रूपों का सामूहिक रूप से 'पिशाच भाषा' नाम दिया है, किन्तु चूँकि 'पिशाच' शब्द के द्व्यर्थक होने से भ्रम एवं निरादर की भावना उत्पन्न हो सकती है, इसलिए बाद के भागों में मैंने यह नाम छोड़ दिया और अब उसे 'दर्द' नाम से ही पुकारता हूँ।

दर्दिस्तान

दर्द भाषाओं का वर्तमान देश, दर्दिस्तान, पूर्व से पश्चिम, गिलगित तथा कश्मीर, सिन्ध और स्वात, कोहिस्तान, चित्राल और काफिरिस्तान को अपनी सीमाओं में समाविष्ट करता है। काफिरिस्तान ब्रिटिश सीमा के अन्तर्गत नहीं है किन्तु पूर्णता की दृष्टि से उसकी भाषाओं के अध्ययन का भी प्रयत्न किया गया है। दर्द-भाषाओं के रूप अफगानिस्तान के सीमावर्ती—लग़मन, निग्रहार—और तिराही प्रदेशों में भी पाये जाते हैं। तिराही प्रदेश की दर्द भाषा किसी समय तीरा घाटी में बोली जाती थी जहाँ अब अफ़रीदी पठानों का निवास है। प्राचीन काल में दर्द भाषाओं का क्षेत्र और भी विस्तृत था। किसी समय तो बाल्टिस्तान तथा पश्चिमी तिब्बत तक इनका प्रसार था। अब इधर के निवासी तिब्बती-बर्मी भाषाएँ बोलते हैं।[1] शास्त्रीय दृष्टि से भाषाओं के अध्ययन से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि किसी समय सम्पूर्ण पंजाब पर दर्द भाषा-भाषियों का अधिकार अवश्य रहा होगा, क्योंकि उस प्रान्त की वर्तमान पंजाबी और लहँदा भाषाओं में आज भी प्राचीन दर्द-भाषाओं के रूप मिलते हैं। इसी प्रकार अफ़रीदी प्रदेश के दक्षिणस्थित पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान की ओर्मुड़ी भाषा में दर्द भाषा के अवशेष मिलते हैं, यद्यपि यह हम देख चुके हैं कि यह ओर्मुड़ी ईरानी भाषा ही

वह मूल दर्द भाषा नहीं थी, अपितु वह उत्तर-पश्चिमी भारत की आर्यभाषा थी, जो दर्द लोगों के मुख में पड़कर भ्रष्ट रूप में उच्चरित होती थी।

१. इन भाषाओं का प्रसार लद्दाख-स्थित लेह के आगे खलत्से तक था। इस सम्बन्ध में ए० एच० फ्रैन्के का जे० ए० एस० बी० खण्ड ६३ भाग १, १९०४ के पृष्ठ ३६२ तथा उसके आगे के पृष्ठों में 'ए लैंग्वेज् मैप आफ वेस्ट तिब्बत' शीर्षक लेख देखें; तथा उसी विद्वान् लेखक का १९०६ के एम० ए० एस० बी० के ४१३ तथा उसके आगे के पृष्ठों में प्रकाशित "द दर्द आफ खलत्से इन वेस्टर्न तिब्बत" निबन्ध देखें।

है। अतएव यह निश्चित है कि ओर्मुड़ी-भाषियों के बसने के समय, वज़ीरिस्तान में दर्द लोग अवश्य ही रहे होंगे। इसके और भी दक्षिण में लग़री पर्वतमालाओं की खेत्रान जाति के लोग दर्द भाषा के विभिन्न रूपों से मिश्रित एक विचित्र प्रकार की वर्ण-संकर लहँदा भाषा का व्यवहार करते हैं। इससे भी दक्षिणस्थित सिन्धी में दर्द भाषा के लक्षण मिलते हैं, किन्तु साहित्यिक भाषा की अपेक्षा दक्षिणी सिन्ध की लाड़ी नामक ठेठ ग्रामीण भाषा में ये लक्षण अधिक वर्तमान हैं। यहाँ से जब हम उत्तर की ओर उन्मुख होते हैं तो चम्बा से नेपाल तक, हिमालय के तराई प्रदेश की भारतीय आर्यभाषाओं में स्पष्ट रूप से दर्द-भाषा के अवशेष मिलते हैं। खस लोग दर्द-वंशीय थे। उन्होंने इस समूचे प्रदेश को किसी समय जीत लिया था और इसे अपनी भाषा से प्रभावित भी किया था।[1] किन्तु बात इतनी ही नहीं है। पश्चिमी मध्यभारत की भीली भाषाओं तथा सुदूर दक्षिण में गोआ की कोंकणी-मराठी में भी हमें यत्र-तत्र ऐसे तत्त्व मिलते हैं, जिनकी व्याख्या तब तक संभव नहीं, जब तक कि हम उन पर प्राचीन दर्द भाषा का प्रभाव[2] न मान लें। अन्ततोगत्वा यह तो भली-भाँति विदित ही है कि यूरोप के जिप्सी तथा आर्मेनिया एवं सीरिया के निवासी उनके सजातीय बन्धु, अपने वर्तमान निवासस्थान में, भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से होकर ही गये थे। निस्सन्देह रोमनी भाषा में आज भी ऐसे अनेक रूप मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति दर्दीय भाषा की सहायता से ही की जा सकती है।

आधुनिक दर्द भाषा के तीन वर्ग हैं—काफ़िर, खोवार और दर्द। इनमें से खोवार एक ही भाषा के रूप में स्थित है, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह अन्य भाषाओं से

दर्द भाषा के तीन वर्ग

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
काफ़िर वर्ग	..	..
खोवार वर्ग	..	१२१
दर्द वर्ग	११,९५,९०२	१३,०४,१९८
योग	११,९५,९०२	१३,०४,३१९

१. खण्ड IX, भाग IV, पृष्ठ २ और उसके आगे
२. खण्ड IX, भाग III, पृष्ठ २, खण्ड VII, पृ० १६८

प्राय: भिन्न है। सर्वेक्षण में, दर्द वर्ग के एक भाग के अतिरिक्त अन्य किसी की भी जनसंख्या उपलब्ध नहीं है।

काफ़िर वर्ग

काफ़िर वर्ग की चार विभाषाएँ काफिरिस्तान अथवा विधर्मियों के देश में बोली जाती हैं। यह चित्राल के पश्चिम, पर्वतमालाओं से घिरी अफ़ग़ान सीमा के अन्तर्गत पड़ता है। यहाँ 'काफ़िरी' नाम की कोई भाषा नहीं है, यद्यपि बहुधा लिखा यही जाता है।[1] यह देश कई क़बीलों की भाषाओं में विभाजित है। इनमें से सर्वेक्षण में वर्णित चार इस प्रकार हैं—बशगली, वाइअला, वासिवेरी अथवा वेरोन तथा अश्कुन्द। इनके अनन्तर ऐसी पाँच भाषाएँ और हैं, जिनका वास्तव में काफ़िरी भाषा से निकट का सम्बन्ध है, किन्तु वे काफ़िरिस् तान में बोली नहीं जातीं।

कलाशा-पशई उपवर्ग

ये कलाशा-पशई उपवर्ग के अन्तर्गत आती हैं। ये हैं—कलाशा, गवरबति अथवा नर्साती, पशई, लग़मानी या देह्‌गानी, दीरी और तिराही। इनमें से किसी के भी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

बशगली

काफ़िरिस्तान की बशगल नदी हिन्दूकुश के दक्षिणी भाग से प्रवाहित होकर नर्सत के निकट चित्राल नदी में मिल जाती है। इसकी काँठा ही वस्तुतः बशगली काफिरी भाषा का क्षेत्र है। साधारणतया यह सियाह-पोश (काला वस्त्र धारण करनेवाले) काफिरों की बोली है। ऐसा प्रतीत होता है कि काले रंग का वस्त्र धारण करनेवाली समस्त जातियाँ जब आपस में मिलती हैं, तो एक दूसरे को शीघ्र ही पहचान लेती हैं और बिना किसी हिचक के वे सरलतापूर्वक वार्तालाप भी करती हैं। सर्वेक्षण के लिए एकत्र की गयी सामग्री के अतिरिक्त इस दिलचस्प भाषा का कर्नल डेविड्सन द्वारा लिखित एक व्याकरण भी उपलब्ध है।

---

१. एक चतुर भद्रपुरुष ने इस देश के वर्णन में इसका एक नमूना उपस्थित किया था। किन्तु परीक्षण करने पर यह दक्षिण अफ्रीका का अमजुलु काफिर सिद्ध हुआ।

वाई

सफेद-पोश (श्वेत वस्त्रधारी) काफिर मध्य तथा दक्षिण-पूर्व काफिरिस्तान में निवास करते हैं। इनके तीन क़बीले हैं—वाई, प्रेसुन या वेरोन और अश्कुन्द। वाई जाति की भाषा का बशगली से निकटतम सम्बन्ध है। यह वैगल नदी के निचले काँठे में बोली जाती है। वैगल नदी काफिरिस्तान के भीतरी क्षेत्र से निकलती है और वेज़गल नदी (जिसके काँठे में वासिवेरी भाषा बोली जाती है) से मिलकर अस्मर के निकट कुनार प्रदेश में प्रवेश करती है।

वासिवेरी

यहाँ प्रेसुन लोग बशगल क्षेत्र के पश्चिम में उस देश के मध्य की एक अगम्य उपत्यका में निवास करते हैं। इनकी भाषा का नाम वासिवेरी अथवा वेरोन है। यह बशगली से नितान्त भिन्न है। इन दोनों ही भाषाओं के बोलनेवाले परस्पर एक-दूसरे की भाषा समझने में असमर्थ रहते हैं। वाई और वासिवेरी का सर्वेक्षण में पहली ही बार वर्णन आया है। वासिवेरी के नमूने तो बड़ी कठिनाई से प्राप्त किये जा सके हैं। इसके विषय में हमें जो कुछ भी ज्ञात है उसका आधार एक जंगली एवं भयभीत भेड़ चराने वाले प्रेसुन की भाषा है जिसे सीमान्त प्रदेश के दौत्य-कार्य करनेवाले कर्मचारी फुसलाकर इस कार्य के लिए चित्राल लाये थे। इसकी व्याख्या भी एक बशगाली-भाषी शेख़ ने की थी जो उसकी भाषा से थोड़ा परिचित था।

अश्कुन्द

शेष भाषा अश्कुन्द, प्रेसुन लोगों से आबाद दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में बोली जाती है। इसके नाम, स्थान तथा इस बात के अतिरिक्त कि यह काफिरों के लिए अबोध्य है,[1] इसके सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। प्रायः इस वर्ग की भाषा के सभी

१. उपर्युक्त विवरण लिखे जाने के बाद डाक्टर मार्गेन्सटियर्न को इस भाषा के परीक्षण का-सुयोग प्राप्त हुआ, जब वे काबुल गये थे। उन्होंने मुझे यह बताया कि यद्यपि यह बशगली से मिलती-जुलती है तथापि वाई से इसका अधिक निकट का सम्बन्ध है। सन् १८६२ के रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल पृष्ठ १ तथा आगे के पृष्ठों में प्रोफेसर ट्रम्प ने, 'भारतीय काकेशस के तथाकथित काफिरों की भाषा' का विवरण प्रस्तुत किया है। भाषा-सर्वेक्षण के

बोलनेवाले ब्रिटिश भारत की सीमा के उस पार रहते हैं। इनमें से अधिकांश वस्तुतः अफगानिस्तान के सम्राट की प्रजा हैं।

कलाशा

कलाशा काफिरों की बस्तियाँ बशगल तथा चित्राल नदियों के दोआबे में हैं किन्तु वास्तविकता यह है अब वे 'काफिर' नहीं रहे, क्योंकि उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया है। अब वे चित्रालियों की प्रजा हैं यद्यपि बशगली उन्हें अपना दास मानते हैं। सर्वेक्षण के पूर्व डा० लेटनर का ग्रन्थ ही इस जाति की भाषा के सम्बन्ध में एकमात्र प्रामाणिक कृति थी। चित्राल नदी के नीचे की ओर इसके और बशगल नदी के संगम के निकटवर्ती नर्सत प्रदेश में, गवर लोग निवास करते हैं। इनकी भी अपनी भाषा है, जो 'गवर बति' या 'गवर बोली' के नाम से विख्यात है। इसके शब्द-समूह का अध्ययन जनरल बिडुल्फ ने 'नरिसति' शीर्षक के अन्तर्गत किया है।

दीरी

नर्सत के और पूर्व में दीर के नवाब का राज्य है। श्री लीच ने सन् १८३८ में यहाँ 'दीरी' नाम की एक भाषा का पता लगाया था जिसके शब्दों की एक लघु सूची को उन्होंने प्रकाशित भी करवाया था। तब से ऐसा प्रतीत होता है कि या तो पश्तो के द्वारा अधिकृत कर लिये जाने के कारण अथवा स्वात कोहिस्तान की निकटवर्ती गर्वी में मिल जाने से यह भाषा समाप्त हो गयी।

पशाई

चित्राल नदी--जो अब कुनार नाम से प्रख्यात है—के नीचे की ओर उसके दक्षिण तट पर पशाई लोग निवास करते हैं। सर्वेक्षण के पूर्व उनकी भाषा से सम्बन्धित सामग्री केवल बर्नेस और लीच द्वारा संगृहीत शब्दों की एक छोटी सूची मात्र ही थी। वस्तुतः पशाई लग़मान तथा उसके पूर्व के कुनार क्षेत्र तक के देहगान लोगों की भाषा है। लग़मान

ग्रन्थ ८, भाग २, पृष्ठ ३१ में इसका संकेत किया गया है, जहाँ मैंने इस बात का भी निर्देश किया है कि वहाँ की वर्णित भाषा बशगली से मेल खाती है। डाक्टर मार्गेन्सटियर्न ने अब मुझे यह सूचना दी है कि निश्चित रूप से यह अश्कुन्द की किसी न किसी बोली के समान अवश्य है।

प्रदेश (टालेमी ने लम्बगाई लोगों के निवास-स्थान का उल्लेख किया है) में बोली जाने के कारण इसे लग़मानी कहते हैं; और चूँकि इसके अधिकांश बोलने वालों का देहगान वंश से सम्बन्ध है इसलिए इसे देहग़ानी नाम से भी पुकारा जाता है। इस भाषा की सीमा, मोटे तौर पर पश्चिम में लग़मान नदी, उत्तर में काफिर प्रदेश की सीमा तक, पूर्व में कुनार नदी और दक्षिण में काबुल नदी तक है, यद्यपि काबुल नदी के तीरवासी पश्तो बोलते हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी नाम की इसकी दो उल्लेखनीय विभाषाएँ भी हैं।

तिराही

पशई के दक्षिण में काबुल नदी के उस पार स्थित निग्रहार प्रदेश में तिराही भाषा, उस जाति के लोग बोलते हैं, जिन्होंने निरन्तर गृहयुद्ध के कारण अपने मूलस्थान, तीरा घाटी का परित्याग कर दिया था। ये लोग अपने पड़ोसियों में बुरी तरह बदनाम हैं और ये स्वभावतः किसी भी बाहरवाले को अपने मूल स्थान का पता नहीं बताते। सन् १८३८ ई० में लीच उनके कुछ शब्दों के संग्रह में सफल हुए थे, किन्तु सर्वेक्षण के समय किसी भी स्रोत से इनके सम्बन्ध में और सामग्री न प्राप्त हो सकी। सर आरेल स्टाइन की उदारतापूर्ण सहायता के कारण ही सर्वेक्षण के समाप्त हो जाने के बाद, अब मेरे पास उस भाषा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के लिए यथेष्ट सामग्री आ गयी है। यह परिशिष्ट में दे दी गयी है। इसके आधार पर यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस तिराही का पशई और गवरबति से घनिष्ट सम्बन्ध है। अफ़ग़ानिस्तान के मध्य में इन दो दर्द भाषाओं का होना नृतत्त्व-विशारदों तथा भाषा-शास्त्रियों के लिए अत्यधिक महत्त्व का विषय है।

खोवार वर्ग

खोवार चित्राल राज्य की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण जाति ख़ोस की भाषा है। इसके पश्चिम में काफिर भाषाएँ हैं और इसके पूर्व में गिलगित तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में शिणा भाषा बोली जाती है। यह शिणा दर्द-वर्ग से सम्बन्धित है। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि काफिर तथा दर्द-वर्ग की भाषाएँ खोवार की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक निकटतापूर्वक सम्बद्ध हैं। दूसरी ओर उत्तर में पामीर की ग़ल्चः भाषा के सम्बन्धसूत्र खोवार में भी मिलते हैं किन्तु ऊपर की दोनों भाषाओं (काफिर एवं दर्द) में इसका अभाव है। इस प्रकार ग़ल्चः की कतिपय विशेषताएँ ग्रहण कर विकसित हुई भिन्न स्वभाववाली यह भाषा दोनों वर्गों को पृथक् छोड़ती हुई उन दोनों के बीच एक पच्चड़ के समान प्रतीत होती है। यह ख़ोस लोगों की अपनी परम्परा से ही सिद्ध

हो जाता है, जो उनके इधर बाद में आने का भी संकेत करती है। अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुए भी, यह निश्चित है कि वर्तमान युग में खोवार एक दर्दी भाषा ही है, और किसी भी रूप में ग़ल्च: भाषाओं की तरह ईरानी के अन्तर्गत इसका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इसे 'चतरारी' भी कहते हैं, जिसका उच्चारण यूरोप के लोग 'चित्राली' के रूप में करते हैं। यह चित्राल तथा यसीन प्रदेश के उस भाग की प्रमुख भाषा है, जिसे शिण लोग 'अरिनह' कहते हैं। अन्तिम शब्द के आधार पर डा० लेट्नर इसे 'अर्न्यिअ' भाषा कहते हैं। इसका विस्तार-क्षेत्र चित्राल नदी की धारा के साथ-साथ द्रोश तक चला गया है। उत्तर में यह हिन्दूकुश से घिरा है। इसकी एक भी विभाषा नहीं मिलती। लेटनर, बिड्डुल्फ तथा ओ' ग्रियर्सन इस भाषा के अधिकारी विद्वान हैं।

दर्द वर्ग

दर्द शब्द का प्रयोग वास्तव में कश्मीर से सटे हुए उसके उत्तर में बसनेवाली सभी जातियों के लिए होना चाहिए, किन्तु वर्तमान समय में इसका अर्थ-विस्तार हो गया है और दर्दिस्तान की सभी जातियों से इसका तात्पर्य लिया जाता है। इसी को आधार

दर्द वर्ग की भाषाएँ

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
शिणा	..	२८,४८२
कश्मीरी	११,९५,९०२	१२,६८,८५४
कोहिस्तानी	..	६,८६२
योग	११,९५,९०२	१३,०४,१९८

मानकर मैंने दर्दिस्तान की समस्त भाषाओं के लिए 'दर्दीय' शब्द का प्रयोग किया है, और 'दर्द' शब्द को पूर्वीय दर्दिस्तान की—शिणा, कश्मीरी तथा कोहिस्तानी वर्ग की भाषा के लिए सुरक्षित रखा है। शिणा गिलगित की घाटी तथा बाल्टिस्तान से तंगीर नदी तक की सिन्धु के काँठे की भाषा है। यह दक्षिण-पूर्व की ओर तंगीर नदी तक विस्तृत है और उधर, यह बाल्टिस्तान एवं कश्मीर घाटी के मध्यवर्ती विशाल पर्वतीय प्रदेशों को अपने में समेटे हुए है। इस प्रकार यह वास्तव में दर्द-देश की भाषा है और इस

वर्ग की अन्य सभी भाषाओं से कहीं अधिक विशुद्ध है। जैसा कि पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है, पूर्व युग में यह अपनी वर्तमान सीमाओं के पार तक प्रसरित थी और बाल्टि-स्तान एवं पश्चिमी तिब्बत तक इसका विस्तार था। इधर अब तिब्बती-बर्मी भाषाओं ने पुनः प्रसार पा लिया है। इसकी कई सुनिश्चित विभाषाएँ हैं, जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गिलगित काँठे की 'गिलगिती' है। शिणा देश में बोली जानेवाली विभाषाओं के अतिरिक्त इधर बाल्टियों द्वारा पुकारी जानेवाली 'ब्रोक्पा' अथवा 'पर्वतीय बोली' आदि उपभाषाएँ भी हैं। यह ब्रोक्पा द्रस की भाषा है, जो गुरेज़ में बोली जानेवाली शिणा से किंचित् ही भिन्न है। स्कर्दु की ब्रोक्पा आस्तोर की शिणा के समान ही है। किन्तु शिणा का एक पृथक् एवं विचित्र उपनिवेशीय रूप, जो बाल्टिस्तान तथा लद्दाख़ की सीमारेखा के निकट बोला जाता है डाह् और हनू की ब्रोक्पा के नाम से विख्यात है। यह किसी समय सुदूर पूर्व में बोली जानेवाली दर्द-भाषा का अवशेष मात्र है। वास्तविक दर्द-देश से दूर, तिब्बती-भाषी प्रदेश के मध्य-भाग में बोली जानेवाली यह विभाषा, अन्य दो ब्रोक्पा बोलियों से इतनी अधिक भिन्न है कि लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा समझ नहीं पाते। नित्य-व्यवहार के लिए उन्हें तिब्बती-बाल्टी का सहारा लेना पड़ता है। शिणा के सम्बन्ध में कई अधिकारी विद्वानों ने लिखा है, जिनमें सर्वप्रथम हैं लेट्नर और बिड्लफ। इसके बाद कर्नल लारीमर तथा डा० ग्राहम बेली ने इसका सुचारु रूप से अध्ययन किया है। इसी प्रकार डाह्-हनू बोलियों का विवरण शा ने प्रस्तुत किया है।

कश्मीरी

कश्मीरी का क्षेत्र कश्मीर की घाटी तथा उसके दक्षिण-पूर्व की निकटवर्ती उपत्य-काएँ हैं। इन सीमाओं के परे यह राष्ट्रभाषा के रूप में नहीं प्रयुक्त होती। पंजाब में यह कश्मीर से आये हुए लोगों, विशेष कर पण्डितों, जुलाहों तथा बढ़इयों द्वारा बोली जाती है। उत्तर प्रदेश में भी कतिपय कश्मीरी परिवार स्थायी रूप से बस गये हैं। ये सभी प्रायः शिक्षित तथा हिन्दू हैं। कश्मीरी एक मिश्रित भाषा है। इसका आधार दर्द भाषा है जिसका शिणा से निकट सम्बन्ध है। यदि इसके जटिल उच्चारण के सम्बन्ध में न भी विचार करें तो भी निश्चित रूप से यह मूलतः दर्दीय है। इसकी हैप्पीवैली में भारतवर्ष से बहुत लोग आकर बस गये हैं। शताब्दियों पूर्व से ही यह संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र रही है और इसके क्षेत्रीय साहित्य का विकास भी संस्कृत साहित्य के आधार और आदर्श पर हुआ है। इस प्रकार किसी भी साधारण निरीक्षक, यहाँ तक कि स्वतः विद्वान कश्मीरियों के लिए भी यह मराठी

और हिन्दोस्तानी की ही भाँति वास्तविक भारतीय भाषा प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ की सम्पूर्ण सभ्यता भारतवर्ष से ही आयी है और दर्दिस्तान की केवल यही एक ऐसी भाषा है जो साहित्यिक रूप में विकसित हुई है। अत्यन्त प्राचीन काल से किसी भी विद्वान ने कश्मीर की विद्वत्ता एवं प्रतिभा का उस रूप में मूल्यांकन नहीं किया है जिस रूप में वर्तमान लेखक ने। कश्मीर में प्रचलित दन्त-कथाओं के अनुसार भारत के ही लोग कश्मीर में बसे। बहुत संभव है कि अभिजात वंशों के प्रति यह सत्य भी हो, किन्तु किसी भी भाषाशास्त्री को ऐसा सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि कश्मीरी भाषा का मूलाधार दर्दीय नहीं है। पिछले तीस वर्षों से कश्मीरी भाषा का अध्ययन किया जा रहा है। अब हमारे पास इसका एक पूर्ण व्याकरण है तथा इसके शब्दकोष का संग्रह-कार्य भी पूर्ण होने जा रहा है। भाषा-शास्त्रियों के लिए यह बड़ी रुचि का विषय है कि अब यह भाषा विश्लेषणात्मकता से संश्लेषणात्मकता में रूपान्तरित होने लगी है। अपिनिहित के अत्यधिक प्रयोग के कारण विदेशियों के लिए इसका उच्चारण उतना ही कठिन हो गया है, जितना कि अंग्रेजी का। इसकी ध्वनियों में स्वरभंग भी इतना अधिक है कि वे सरलतापूर्वक लिपिबद्ध नहीं की जा सकतीं।

कश्मीरी

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	१०,३९,९६४
कष्टवारी	७,४६४
मिश्रित बोलियाँ	४५,३१६
अनिर्णीत	१,०३,१५८
योग	११,९५,९०२

साधारण रूपान्तरों के अतिरिक्त कश्मीरी की एक विशिष्ट उपभाषा कष्टवारी भी है, जो मुख्य घाटी से दक्षिण-पूर्व के किश्तवार क्षेत्र में बोली जाती है। घाटी के दक्षिण में भी तीन-चार मिश्रित बोलियाँ मिलती हैं, जो पंजाबी की ओर उन्मुख हैं। कश्मीरी का एक महत्त्वपूर्ण विभाजन इस प्रकार भी हो सकता है—मुसलमानों की कश्मीरी (जो संख्या में अधिक किन्तु अशिक्षित हैं) और हिन्दुओं की कश्मीरी (जो अल्पसंख्यक किन्तु शिक्षित हैं)। मुसलमानी कश्मीरी ने विदेशी—खास कर फ़ारसी शब्दों को उनके विकृत रूपों में ग्रहण कर लिया है। हिन्दुओं की कश्मीरी फ़ारसी के मिश्रण से बहुत

कुछ मुक्त है, और पंडितों की घरेलू भाषा में तत्सम शब्दों का व्यवहार नहीं के बराबर होता है। इसके शब्द-समूह का अधिकांश भाग विशुद्ध तद्भवों से निर्मित है।[1]

कश्मीर में अधिकांश साहित्य संस्कृत में लिखा गया है। उसे उसके अनुरूप ख्याति भी मिली है। कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों की रचना कश्मीरी में भी हुई है, जिनमें शैवमत सम्बन्धी कविताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये कविताएँ कवयित्री लाल देद द्वारा लिखी गयी हैं। इसी प्रकार एक रामायण तथा कृष्णचरित की रचना भी कश्मीरी में उपलब्ध है। कश्मीर में इसकी दो लिपियाँ प्रचलित हैं। इनमें से एक तो फारसी में कुछ परिवर्तन करके बनायी गयी है और मुसलमानों में प्रचलित है। दूसरी लिपि शारदा है। यह प्राचीन लिपि है और नागरी से बहुत मिलती जुलती है। हिन्दू लोग आज भी इसका व्यवहार करते हैं। गत शताब्दियों के प्रारम्भ में सिरामपुर के मिश्नरियों ने बाइबिल का कश्मीरी अनुवाद शारदा लिपि में प्रकाशित कराया था किन्तु आधुनिक अनुवाद फारसी लिपि में है।

कोहिस्तानी

सिन्धु नदी, बाल्तिस्तान से निकलने के पश्चात् मोड़ लेती हुई बहुत कुछ पश्चिम दिशा की ओर चिलास प्रदेश में तब तक चलती जाती है, जब तक कि कंडिया नदी इसमें मिल नहीं जाती। कंडिया नदी का उद्गम-स्थान चिलास और चित्राल के उत्तर में स्थित दुर्गम पर्वतमालाओं में है। इस स्थान से इसके ब्रिटिश सीमा में प्रवेश करने तक, सिन्धु नदी दक्षिण दिशा की ओर उन गिरिश्रृंखलाओं के मध्य से प्रवाहित होने लगती है, जो सामूहिक रूप से सिन्धी कोहिस्तान के नाम से विख्यात हैं।

मैयाँ

यह पर्वतीय जातियों से आबाद है, जो शिणा से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की दर्द भाषा बोलती हैं। इनमें लहँदा तथा पश्तो का मिश्रण रहता है। इसका नाम है सिन्धी कोहिस्तानी अथवा मैयाँ।

गार्वी, तोरवाली

सिन्ध-कोहिस्तान के पश्चिम में क्रमशः स्वात, पञ्जकोर तथा कुनार नदियों के काँठे पड़ते हैं। इनमें से प्रथम दो क्रम से स्वात तथा पञ्जकोर कोहिस्तानि के नाम से

१. तत्सम और तद्भव के सम्बन्ध में पृष्ठ २३५-३६ देखें।

प्रसिद्ध हैं। यहाँ की अधिकांश जनता की भाषा पहले तो मैयाँ से संयुक्त दर्द की एक विभाषा थी, लेकिन अब पठान-शासन होने के कारण यहाँ की भाषा स्थायी रूप से पश्तो है। कुछ थोड़े से ही सनातनी लोग ऐसे हैं जो प्राचीन भाषा से अब भी चिपके हुए हैं, यद्यपि उन्होंने आर्य-धर्म का परित्याग कर दिया है। वे जिस बोली का नित्य व्यवहार करते हैं, वह गार्वी और तोरवाली नाम से प्रसिद्ध है। कोहिस्तानी विभाषाएँ बोलनेवाली जातियाँ कलाप्रियता के लिए प्रसिद्ध नहीं हैं और कोहिस्तानी में किसी भी प्रकार के साहित्य का अभाव है। इसके बोलनेवालों की संख्या के आँकड़े भी उपलब्ध नहीं हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

भारतीय आर्यशाखा—भूमिका

क्रमानुगत निष्क्रमण

पहले हम यह देख चुके हैं कि आर्य लोग संयुक्त समूह के रूप में ईरान आये थे। उनकी भाषा के ईरानी रूप में विकसित होने के पूर्व के प्रारम्भिक युग से ही उनमें से कुछ लोग पूर्व की ओर बढ़ते हुए भारत में आते रहे। हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि यह सब एक ही आक्रमण में हुआ होगा। एक के बाद दूसरी लहर की भाँति वे आगे बढ़ते गये और सर्वप्रथम अफगानिस्तान को उन्होंने अपना निवास-स्थान बनाया। वहाँ से अन्य लहरों के रूप में वे काबुल की घाटी से होकर भारत में प्रविष्ट हुए।[१] इस क्रमागत प्रगति के चिह्न हमें वेदों में भी मिलते हैं। यदि प्रोफसर हिलेब्रांट का निष्कर्ष ठीक है,[२] तो जिस जाति पर राजा दिवोदास शासन करते थे वह आर्कोशिया (कन्धार) की निवासिनी थी, जब कि उनके वंशज सुदास के राज्यकाल में, उसके सदस्य सिन्धु

१. यह प्रायः स्वीकृत विवरण है। इसे लिखते समय श्री पार्जिटर ने (Mr. Pargiter) ने अपने एंशेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन (Ancient Indian Historical Tradition) में एक नवीन तथा यत्किंचित् आश्चर्य में डाल देनेवाला यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि आर्य लोग उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की ओर से भारत में प्रविष्ट नहीं हुए, अपितु वे मध्य हिमालयवर्ती क्षेत्र से आये। यह ऐसा मत है जिसे स्वीकार या अस्वीकार करने के पूर्व पर्याप्त वाद-विवाद की अपेक्षा है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का वाद-विवाद आज तक नहीं हुआ है। वास्तव में यह प्रश्न भाषाशास्त्रियों की अपेक्षा नृ-विज्ञानियों तथा इतिहास के पण्डितों से अधिक सम्बन्ध रखता है। अतः इस प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में बिना कुछ कहे ही यहाँ पर आर्यों द्वारा भारत के आक्रमण के उस सिद्धान्त को ही मान लिया जाता है जो सामान्य रूप से स्वीकृत है।

२. 'वेदिशे माइथालोजिए' (Vedische Mychologie, 1,107 etc.)

नदी के तट पर पहुँच गये थे और उस समय तक अपने पूर्वजों के पराक्रम की गाथाओं को पौराणिक गाथाओं का रूप दे चुके थे। इसमें निश्चित रूप से कई युग लगे होंगे। यहाँ यह बात सरलतापूर्वक स्वीकार की जा सकती है कि आदिमयुग में, जब हमें भारत-वर्ष का बहुत थोड़ा ज्ञान था, पंजाब भारतीय आर्यों के कई जनवर्गों (ट्राइब्ज) के अधिकार में था। यह निश्चय नहीं है कि एक जन-वर्ग का दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार था और वे बहुधा विभिन्न बोलियाँ बोला करते थे। प्रायः प्रत्येक नूतन जन-वर्ग लहर के रूप में पश्चिम से आया। यहाँ आकर उसने पूर्वागत आर्यों को या तो एक ओर ढकेल दिया या उन्हें चारों ओर से घेर लिया।

प्राचीनतम लेख

इस युग के भारतीय आर्यों की भाषा के नमूने हमें उनके प्राचीनतम लेख वेदों में मिलते हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि यहाँ भी आर्य लोग ठीक उन्हीं नामवाले देवताओं की अर्चना करते रहे जिनका ज्ञान उनके मण्डा देश-स्थित पूर्वज आर्यों को भी था। वैदिक मंत्रों की रचना विभिन्न युगों एवं विभिन्न स्थानों में हुई थी। इस रचना में समय एवं स्थान दोनों का अत्यधिक व्यवधान था। इनमें से कतिपय मंत्रों की रचना आर्कोशिया (वर्तमान अफगानिस्तान) में हुई थी,[1] किन्तु कुछ मंत्र यमुना के तटवर्ती प्रदेशों में रचे गये थे। इसके संग्रह-कर्ताओं ने इन मंत्रों का वर्तमान रूप में इस प्रकार सम्पादन किया कि बोलीगत अन्तरों के बहुत थोड़े से लक्षणों को ही आज सरलता पूर्वक पहिचाना जा सकता है। यह सत्य है कि इस प्रकार की गवेषणा का उचित प्रयास किया गया है किन्तु वास्तविकता यह है कि तथ्य रूप में उपस्थित ऋचाओं की भाषा से तुलना करने पर वे विशेष महत्त्व के नहीं ठहरते।[2]

१. प्रो० हर्टेल [Prof. Hertel] की यह निश्चित धारणा है कि आर्यों के भारत-आगमन के पूर्व ही ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओं की रचना ईरान में हो चुकी थी। और उनका यह भी मत है कि ईरान से आर्यों के निष्क्रमण के पूर्व की ये सबसे पवित्र ऋचाएँ थीं। देखो 'Das Brahman' in 'Indogermanische Forschungen' XLI, p. 188.। यह सर्वथा सम्भव है और ये आर्यों (मण्डा) देवताओं के जो नाम मितन्नी में खोज करने पर मिले हैं, उनसे मिलते जुलते हैं।

२. वैदिक मंत्रों की भाषा जिस रूप में आज मिलती है, वह निश्चित रूप से उस समय की अथवा उससे थोड़ी पुरानी है, जिस समय इसके सम्पादकों ने इसका पाठ

पूर्वापर-देशान्तर-गमन का सिद्धान्त

लहरों के रूप में अनुक्रमिक आक्रमणों को एक दूसरे से पृथक् करना असम्भव है किन्तु प्रथम और अन्तिम में भेद करना अत्यन्त सरल भी है। सन् १८८० ई० में

तैयार किया था। इसके पूर्व ये मन्त्र मौखिक परम्परा के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में आते रहे और जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया अनजान में ही प्रत्येक पीढ़ी भाषा के (उच्चारण में) यत्किंचित् परिवर्तन करती गयी। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में भाषा का जो परिवर्तन हुआ वह अत्यल्प था, किन्तु कई शताब्दियों को मिलाकर यह परिवर्तन अधिक हो गया। यदि हम इस बात को मान भी लें कि मन्त्रों की पवित्रता कट्टरता के साथ सुरक्षित की जाती थी और वे शब्द अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखे जाते थे, जो या तो विशेष रूप से पवित्र थे या जिनके अर्थ का लोगों को बोध न था, तिस पर भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस मूल भाषा में प्राचीनतम मंत्रों की रचना हुई थी, वह इससे जरूर भिन्न रही होगी और वह आज के प्राचीनतम ढंग से सुरक्षित भाषा की अपेक्षा भी बहुत ही प्राचीन विकास की अवस्था में होगी। इस सम्बन्ध में प्रो० एच० ओल्डेनवर्ग (H. Oldenwerg) कृत डाइ हिम्न्स डे ऋग्वेद (Die Hymnen Des Rigveda, Vol I pp. 370 तथा इसके आगे) तथा प्रो० वाकरनागल कृत आल्टिन्डीशे ग्रामेटिक (Prof. Wackernagel's Altindische Grammatic I, p X) तथा डब्लू० पीटर्सन का लेख (W. Petersen) जर्नल आफ द् अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी (Journal of the American Oriental Societis, XXXII (1912), p. 419) देखें।

ठीक इसी प्रकार की समता कश्मीरी कवयित्री लालदेद् की रचना में मिलती है जो १४वीं शताब्दी में हुई थी। इसके पदों को पेशेवर गायकों ने बहुत सावधानी के साथ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सुरक्षित रखा है, और ये पद गत पाँच सौ वर्षों से केवल मौखिक रूप में ही चलते आये हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि वे आज भी पवित्र हैं किन्तु उनकी भाषा आधुनिक कश्मीरी हो गयी है, यद्यपि भाषा के कुछ रूप विचित्रता तथा अबोध-गम्यता के कारण सुरक्षित रह गये हैं। सौभाग्य से लालदेद् के समय की कश्मीरी में एक दूसरी कृति भी हमें उपलब्ध है जो अपने मूल रूप में सुरक्षित है। अतएव लालदेद् तथा उसके समकालीन कवियों की भाषा के नमूने आज हमारे पास हैं, जिनके द्वारा हम इस बात का पता लगा लेते हैं कि मूल शब्द समय के कारण किस रूप में परिवर्तित हो गये हैं। देखो, ग्रियर्सन तथा बार्नेट कृत 'लल्लावाक्यानि' पृष्ठ १२८।

हार्नले ने[1] यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि भारतवर्ष की वर्तमान तथा उनकी पूर्वज भाषाओं के साक्ष्य से इस मत का समर्थन हो जाता है कि भारत पर एक एक करके आर्यों के लगातार दो आक्रमण हुए। दो विभिन्न समूहों के आक्रमणकारी ये आर्य-गण दो विभिन्न भाषाएँ भी बोलते थे जिनका आपस में एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध था। मैं महान् विद्वान् के ऊपर के सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार करने में असमर्थ हूँ क्योंकि भाषा-गत पार्थक्य की व्याख्या के लिए दो विभिन्न आक्रमणों की कल्पना मुझे अनावश्यक प्रतीत होती है।[2] इसे असंदिग्ध तथ्यों के आधार पर इस प्रकार सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है कि आर्यों के ये आक्रमण अथवा देशान्तरवास एक सुदीर्घ काल तक धीरे-धीरे होते रहे। चाहे हम दो पृथक आक्रमणों की भाषाओं में भेद करें, चाहे प्रथम तथा अन्तिम देशान्तरवासियों की भाषा में, परिणाम एक ही है। पूर्वागत देशान्तरवासी एक भाषा बोलते थे और पश्चादागत दूसरी, जो भी हो हार्नले अपने सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़े। उन्होंने पश्चादागत आक्रमणकारियों के पंजाब में प्रवेश को एक पच्चड़ के रूप में लिया। ये नवागन्तुक सीधे पंजाब के मध्य में जा घुसे। इसे पूर्वागत आक्रमण-कारी पहले से ही अधिकृत किये बैठे थे। इनके आगमन का परिणाम यह हुआ कि प्रथम आक्रमणकारी तीन दिशाओं—पूर्व, दक्षिण तथा पीछे पश्चिम—में फैलने के लिए बाध्य हुए। यद्यपि में इसे पूर्णतया अस्वीकार नहीं करता, किन्तु मैं यहाँ पुनः उनके 'पच्चड़ सिद्धान्त' को वर्तमान ज्ञान के आधार पर आवश्यक रूप से ठीक मान लेने को तैयार नहीं हूँ। यह सर्वथा सम्भव है कि सबसे बाद में आनेवालों ने विपरीत मार्ग का अवलम्बन किया हो और वे पूर्वागत आर्यों के चारों ओर होते हुए सिन्धु नदी के काँठे में पहुँच गये हों तथा वहाँ से अवान्तर युग में भारत के आरपार पूर्वागत आर्यों के दक्षिण और अन्ततोगत्वा उनके पृष्ठ भाग की ओर पूर्व में बस गये हों। दोनों ही दशाओं में राजनीतिक निष्कर्ष बहुत कुछ समान ही होगा। इस प्रकार भी कुछ लोग केन्द्र में

१. **गौडियन भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण** (Comparative Grammar of the Gaudian Languages, p. XXXI)

२. **यह बात में स्पष्ट रूप से कहने के लिए बाध्य हूँ, क्योंकि एक से अधिक बार यह कहा गया है कि में हार्नले (Hoernle) का पूर्ण रूप से समर्थक हूँ। वास्तव में लोगों ने इसे हार्नले तथा ग्रियर्सन के दो आक्रमणों का सिद्धान्त [Two invasion theory] तक कहा है। हार्नले का ऋण स्वीकार करते हुए भी, मेरा सदैव यह मत रहा है कि दो भिन्न आक्रमणों को मानना आवश्यक नहीं है।**

रहेंगे और उन्हें पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व में अन्य लोग घेरे रहेंगे। यदि भारत-प्रवेश का 'पच्चड़-सिद्धान्त' ठीक है तो केन्द्रीय निवासी, और यदि गलत है तो बाहरी आर्य ही अन्तिम आगन्तुक रहे होंगे। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति का पता भारतीय परम्परा से विदित होता है। वेदों में हम सुदास, जिनका राज्य पश्चिम में सिन्धु तट पर स्थित था, और भरतों को पौरवों के विरुद्ध युद्ध करते हुए पाते हैं। पौरव-जन आर्य थे और उन्हें वेद में 'म्टध्रवाच्' अर्थात बर्बर भाषा-भाषी कहा गया है।[1] इनका निवास-स्थान सुदूर पूर्व में रावी और यमुना का निकटवर्ती प्रदेश था। वेद में सरस्वती तथा सिन्धु तटवासी प्रतिद्वन्दी ऋषियों के पारस्परिक विरोध का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कौरवों तथा पांचालों के बीच हुए महाभारत युद्ध से हमें मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध होती है। लासेन के समय से ही अब यह सिद्ध हो गया है कि पांचाल लोग कौरवों से पहले आये थे। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने गंगा के पूर्व के ऊपरी क्षेत्र तथा मध्य दोआब प्रदेश के हृदय को अधिकृत कर लिया था। बाद में यही प्रदेश 'मध्यदेश' के नाम से प्रख्यात हुआ। महाभारत-युद्ध में जो आकस्मिक सम्बन्ध हुए उन्हें यदि छोड़ दें और विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करें तो जैसा कि पार्जिटर ने स्पष्ट कर दिया है,[2] यह युद्ध ऐसा था जिसमें पांचाल एवं मध्य देश के दक्षिण के निवासी एक ओर थे और दूसरी ओर भारत के—पश्चिम, दक्षिण एवं पूरब के—अन्य निवासी थे। इस युद्ध में पांचालों के मुख्य सहायक पाण्डव थे। ये पर्वत के निवासी थे और इनमें बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी। हिमालय की अन्य जातियों से इनका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। इतना ही नहीं, लासेन ने तो आगे बढ़कर यह भी कहा है कि पांचाल लोग कौरवों से इतने पहले आये थे कि भारतीय जलवायु के कारण उनका वर्ण परिवर्तित हो गया था, और यह कि यह युद्ध वस्तुतः श्याम तथा गौरवर्ण जातियों के बीच हुआ था। महाभारत को आज हम जिस रूप में पाते हैं, वह पाण्डवों की प्रशंसा में लिखा गया महाकाव्य है। इसमें सिन्धु-तट-वासी जातियों को म्लेच्छ की संज्ञा दी गयी है। ये निस्सन्देह रूप से आर्य थे, किन्तु यहाँ उनके सामान्य आर्यत्व को भी स्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण

१. प्रोफेसर हिलब्रान्ट [Prof. Hillebrandt] ने इसे इसी रूप में अनूदित किया है। देखिए, वेदिशे माइथालाजिए (Vedische mythologie, 1, 90, 114, See Rigveda, VII, XVIII, 13.)

२. देखो जे० आर० ए० एस० १९०८ पृ० ३३३ और ६०२

इस ग्रन्थ से उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु स्थान की कमी से ऐसा करना संभव नहीं है।[1]

मध्यदेश

यह अनुमान करना तर्कसंगत है कि मध्य वर्ग की जातियाँ समय की प्रगति के साथ-साथ प्रसरित हुई होंगी, और उन्होंने उन जातियों को, जिनसे वे घिरी हुई थीं,

१. यह कई बार कहा गया है कि बाद में आनेवाले आर्य आवश्यक रूप से उसी मार्ग से आये होंगे जिस मार्ग से उनके पूर्वागत आर्य आये थे। डा० स्पूनर (Dr. Spooner) का जे० आर० ए० एस० १९१५, पृ० ४२६, ४३० में कथन है कि प्राचीन मग लोग समुद्र के द्वारा गुजरात आये और वहाँ से वे लोग मध्य देश के दक्षिण तथा पूर्वी भारत की ओर चले गये। श्री पार्जिटर (Mr. Pargiter) ने एन्शियण्ट इन्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन (Ancient Indian Historical Tradition pp. 295) में विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करते हुए कहा है कि समग्र रूप में आर्य लोग भारत के उत्तर-पश्चिमी मार्ग से न आकर मध्य हिमालय के मार्गं से आये। जैसा कि मैं ऊपर (पाद टिप्पणी १, पृष्ठ २११) में कह चुका हूँ, इस सिद्धान्त की अभी तक छानबीन नहीं हुई है और इसके आधार पर भाषासम्बन्धी कोई भी परिणाम निकालना ठीक न होगा; किन्तु इस समय वर्तमान अवस्था में भी यह स्वीकृत किया जा सकता है कि महाभारत के युद्ध में पांचाल तथा उनके सहायक लोग सम्भवतः उन आर्यों के प्रतिनिधि हों जो उत्तर-पश्चिमी मार्ग से न आकर किसी अन्य मार्ग से आये हों। इस अवस्था में बाद के आनेवाले लोग आधुनिक बाहरी उपशाखा के बोलनेवालों के पूर्वज होंगे। यह भी असम्भव नहीं है कि बाहरी उपशाखा के आर्य हिन्दूकुश तक उसी मार्ग से आये हों, जिस मार्ग से दर्द लोगों के पूर्वज आये थे और वे लोग दर्द लोगों के अग्रभाग में, जो कि पंजाब तथा उसके आगे आर्यों के चारों ओर पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व में बसे हुए थे, बस गय हों। किन्तु इस समय ये सभी कल्पनाएँ हैं और इस सम्बन्ध में कोई भी निर्णयात्मक तर्क नहीं दिये जा सकते। फिर भी यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि बाहरी उपशाखा की जातियों की बोलियाँ दर्दीय भाषाओं से मिलती हैं; किन्तु वे मध्यवर्ती जातियों की बोलियों से नहीं मिलतीं। इस अन्तिम बात के सम्बन्ध में देखो, हिलब्रान्ट, अस् अल्त्-उन्द् न्यून्दिएन् (Hillebrandt, Aus-Alt-und Neuindien, P. II)

प्रत्येक दिशा की ओर धकेला होगा। विकल्प में विनाश के अतिरिक्त उनके लिए कोई अन्य मार्ग न था। मध्ययुग के भूगोल सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों में हमें निरन्तर एक ऐसे प्रदेश का उल्लेख मिलता है जिसे विशुद्ध आर्यों का निवास-स्थान बतलाया गया है। इसे 'मध्यदेश' के नाम से अभिहित किया गया है। इसका विस्तार उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत मालाओं तक, और पश्चिम में वर्तमान सरहिन्द (वास्तव में सहरिन्द) से पूर्व में गंगा-यमुना के संगम तक था। पौराणिक कथाओं के अनुसार वैदिक युग में मध्यदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक अदृष्ट सरस्वती की पवित्र धारा प्रवाहित होती थी, जिसके तट पर इन मध्यवर्ती आर्यों का प्रमुख निवेश था।

भीतरी तथा बाहरी उपशाखाएँ

आज आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ दो मुख्य उपशाखाओं में विभक्त हैं। इनमें एक तो उस सघन प्रदेश की भाषा है जहाँ प्राचीन मध्यदेश था। दूसरी उपशाखा की भाषा प्रथम उपशाखा के चारों ओर उस वृत्त के तीन चौथाई भाग में प्रचलित है जो (अब पाकिस्तान स्थित) हज़ारा जिले से प्रारम्भ होकर पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, महाराष्ट्र प्रदेश, मध्य भारत, उत्कल, बिहार, बंगाल और असम प्रदेश को स्पर्श करता है। हम यह जानते हैं कि गुजरात प्रदेश, वस्तुतः मध्यदेश स्थित मथुरा के लोगों द्वारा विजित किया गया था। भारतवर्ष का यही एकमात्र भाग ऐसा है, जिसमें हम आज भी बाहरी शाखा की प्राचीरों को नष्ट करने वाली भीतरी शाखा की भाषा का प्रसार पाते हैं।

दोनों के ध्वनि-तत्त्वों की तुलना

इन दोनों उपशाखाओं की भाषाओं में अनेक विशिष्ट विरोधी तत्त्व मिलते हैं। उच्चारण के सम्बन्ध में इनमें से एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न है। दोनों में ऐसे अनेक स्थल हैं जो प्रत्येक भाषा-शास्त्री का ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय अन्तर ऊष्म-वर्णों के उच्चारण का है जिसका उल्लेख हेरोडोटस तक ने किया है। भीतरी उपशाखा की भाषाओं में इनका उच्चारण अधिक दबा कर कठोर ढंग से होता है और यहाँ शिन्-ध्वनि दन्त्य 'स' के रूप में उच्चरित होती है। बाहरी उपशाखा की भाषाओं में (ईरानी शाखा की भाँति ही), बिना किसी अपवाद के, इस 'स' के उच्चारण में कठिनाई प्रतीत होती है। ग्रीक विद्वानों ने ईरान (फारिस) में, 'स्' को 'ह्' रूप में उच्चरित होते पाया। उन्होंने कहीं-कहीं यह भी देखा कि इस 'ह्' का भी लोप हो गया है। 'सिन्धु' के लिए ग्रीक 'इन्दुस' इसका सर्वोत्तम उदाहरण

है। पूरब में प्राकृत वैयाकरणों को 'स्' का कोमल उच्चारण 'श्' मिला। देश-परक यह उच्चारण आज भी उसी रूप में चल रहा है। बंगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में 'स्' निर्बल होकर 'श्' हो जाता है और पूर्वी बंगाल तथा असम प्रदेश में तो यह और भी अधिक निर्बल होकर जर्मन 'ख़' के समीप पहुँच जाता है। दूसरी ओर पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा कश्मीर में यह विशुद्ध 'ह' में परिवर्तित हो जाता है।[१]

संज्ञा के रूप

संज्ञा शब्दों के रूपों में भी इन दोनों शाखाओं की भाषाओं में पर्याप्त अन्तर है। भीतरी उपशाखा मुख्यतः ऐसी भाषाओं का समूह है जो विश्लिष्टावस्था में हैं। इसमें मूल विभक्तियाँ अधिकांशतः लुप्त हो चुकी हैं और यहाँ व्याकरणगत आवश्यकताओं की पूर्ति सहायक शब्दों के संयोग से की जाती है। ये सहायक शब्द आज भी मूल शब्दों (प्रातिपदिकों) के अंग नहीं बन पाये हैं। उदाहरणस्वरूप हिन्दी के 'का', 'को', 'से' आदि को लिया जा सकता है। बाहरी उपशाखा की भाषाएँ विकास के पथ पर एक पग और आगे बढ़ चुकी हैं। किसी समय वे प्राचीन संस्कृत रूप में संश्लिष्टावस्था में थीं। तत्पश्चात् उन्होंने विश्लिष्टावस्था को पार किया—कुछ तो अब भी उस अवस्था को पार करने में लगी हैं, यथा—सिन्धी और कश्मीरी। इस शाखा की अन्य भाषाएँ तो सहायक शब्दों को मूल शब्दों के साथ संयुक्त करके एक बार पुनः संश्लिष्टावस्था की ओर उन्मुख हो रही हैं। बंगला के सम्बन्धकारक की—'एर'—विभक्ति इसका सुन्दर उदाहरण है।

क्रिया के रूप

क्रिया रूपों में भी इसी प्रकार की अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। यहाँ इसके सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना आवश्यक होगा। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन संस्कृत के दो कालों तथा तीन कृदन्तों के रूप ही आधुनिक भाषाओं में

१. यह कहा जा सकता है कि स का श में विभिन्न भाषाओं में परिवर्तन हो जाने के भिन्न-भिन्न कारण हों। यह ठीक है, किन्तु वे ही कारण तो मध्य देश में भी थे और वहाँ ऐसा परिणाम नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में बाहरी उपशाखा की भाषाएँ सिन् ध्वनिवाले वर्णों को सुरक्षित न रख सकीं; किन्तु भीतरी उपशाखा के वर्णों में ये सुरक्षित रहे।

सुरक्षित हैं। ये हैं—वर्तमान तथा भविष्यत्काल एवं वर्तमान कर्तृवाच्य तथा अतीत और भविष्यत् के कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप। प्राचीन संस्कृत के अतीत काल के रूप पूर्णतया लुप्त हो गये हैं। प्राचीन वर्तमानकाल प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं में वर्तमान है, और यदि ध्वनि-विकास सम्बन्धी परिवर्तनों को स्वीकार कर लें तो सभी भाषाओं में इसका रूप एक ही है। यह दूसरी बात है कि विभिन्न भाषाओं में इसके अर्थ में पर्याप्त अन्तर आ गया है, उदाहरणस्वरूप कश्मीरी में यह भविष्यत् निर्देशक (Future Indicative) और हिन्दी में यह प्रायः वर्तमान संयोजक (Subjunctive) के रूप में प्रयुक्त होता है। प्राचीन भविष्यत् काल यत्र-तत्र, विशेषतया पश्चिमी भारत की भाषाओं में वर्तमान है। अन्य आधुनिक भाषा-भाषी इसके बदले प्राचीन संस्कृत पर आधारित भविष्यत् कर्मवाच्य के कृदन्त के यौगिक अथवा मिश्र रूप का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार जब वे यह कहना चाहते हैं कि, 'मैं मारूँगा', तो वास्तव में अनजाने वे यह कहते हैं कि 'यह मेरे द्वारा मारा जाने वाला है'। संस्कृत का मूल अतीतकाल इन भाषाओं में पूर्णरूप से लुप्त हो गया है और उसके स्थान पर सभी आधुनिक भाषाएँ भविष्यत् की ही भाँति अतीत कर्मवाच्य कृदन्तीय के यौगक-काल का प्रयोग करती हैं। 'मैंने उसको मारा' कहने के स्थान पर, आधुनिक भाषा-भाषी बिना किसी अपवाद के यह कहते हैं कि 'वह मेरे द्वारा मारा गया'। इस प्रकार यहाँ हम भीतरी तथा बाहरी उपशाखा की भाषाओं में क्रिया की गठन में पर्याप्त अन्तर पाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि कर्मवाच्य कृदन्तीय रूपों से प्रसूत कालों में क्रिया का कर्ता 'मैं' प्रायः अपादान (करण ?) कारक में रख दिया जाता है और इन परिस्थितियों में होने के कारण इसे कर्तृ नाम से पुकारते हैं। वस्तुतः यहाँ 'मैं' परिवर्तित होकर 'मेरे द्वारा' बन गया है। प्राचीन संस्कृत में 'मेरे द्वारा' को दो प्रकार से प्रकट किया जाता था।[१] इनमें से एक था "मया" और दूसरा था "मे"। "मया" का प्रयोग पृथक् रूप में हो सकता था किन्तु "मे" जो सर्वनाम का लघु रूप था, अकेले नहीं प्रयुक्त होता था। यह अपने पूर्व के शब्द से संयुक्त हो जाता

१. संस्कृत के पण्डित इस बात को मानते हैं कि यह अक्षरशः सत्य नहीं है। वैयाकरणों के अनुसार सर्वनाम का लघु रूप में सम्प्रदान तथा सम्बन्ध कारक का है, करण कारक का नहीं। वे इस बात को भी स्वीकार करेंगे कि कारकों के रूप परिवर्तन से, जो कि संस्कृत भाषा में बहुत पहले हुआ था, इसका कुछ महत्त्व नहीं है। मिलाओ, पिशेल जेड० डी० एम० जी० [Pischel in Z D M G. XXXV **१८८१ पृ० ७१४**]

था। ठीक इसी प्रकार मध्यम पुरुष सर्वनाम के दोनों वचनों में भी दो प्रकार के—पूर्ण तथा लघु—रूप मिलते हैं। सर्वनामों के इन लघु रूपों से यूरोपीय भली-भाँति परिचित हैं। लैटिन में 'मुझे दो' के लिए 'दाते मिहि' (date mihi) कहा जाता है, इटली में यह 'दातेमि' (datemi) के रूप में है जिसमें 'मि' (mi) सर्वनाम का लघु रूप है। इसी प्रकार हमें अंग्रेजी में भी सर्वनाम का लघु रूप मिलता है, जब कि परिहास में 'गिव मि' (give me) के लिए 'गिम्मी' (gimme) का प्रयोग होता है। आधुनिक आर्यभाषाओं के क्रियापदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाहरी उपशाखा की भाषाएँ संस्कृत की उस विभाषा अथवा विभाषाओं से प्रसूत हैं, जो स्वतंत्रतापूर्वक सर्वनामीय लघु रूपों का कर्मवाच्य कृदन्तों के साथ प्रयोग करती थीं और भीतरी उपशाखा की भाषाएँ उस विभाषा या विभाषाओं से विकसित हुई हैं जो उन दशाओं में ऐसे रूपों का प्रयोग नहीं करती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भीतरी उपशाखा की भाषाओं में केवल कृदन्तों का प्रयोग प्रत्येक पुरुष के साथ बिना किसी परिवर्तन के होता है। उदाहरणार्थ भीतरी उपशाखा की भाषा हिन्दी में 'मैंने मारा', 'तूने मारा', 'उसने मारा', 'हमने मारा', 'तुमने मारा' तथा 'उन्होंने मारा' में 'मारा' का रूप एक ही रहेगा। किन्तु बाहरी उपशाखा में सर्वनामीय लघुरूप सामान्यतः स्थायी रूप से कृदन्तों के साथ संयुक्त होकर लैटिन तथा ग्रीक के रूपों की भाँति पुरुषवाची तिङ-प्रत्यय बन गये हैं। यही कारण है कि इन भाषाओं में 'मैंने मारा', 'तूने मारा', 'उसने मारा' आदि में 'मारा' का रूप विभिन्न पुरुषों के अनुसार परिवर्तित हो जाता है जिससे तिङ-रूपों को देखकर ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मारनेवाला कौन था। इन दोनों का विशिष्ट अन्तर मूलतः इनके वे सभी विभिन्न रूप हैं, जिन्हें ये दोनों उपशाखाएँ प्रस्तुत करती हैं। भीतरी उपशाखा की प्रत्येक भाषा का व्याकरण कुछ ही पृष्ठों में लिखा जा सकता है, जब कि बाहरी उपशाखा की किसी भी भाषा से परिचित होने के लिए कई पृष्ठों में लिखित, न्यूनाधिक रूप से जटिल कारकों तथा क्रियारूपों पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक होता है।

भीतरी उपशाखा की भाषाओं की भौगोलिक स्थिति

भारतीय आर्य भाषाओं की इन दोनों उपशाखाओं की सीमा निम्नलिखित रूप में निर्धारित की जा सकती है। भीतरी उपशाखा उत्तर में हिमालय से घिरी हुई है, पश्चिम में मोटे तौर पर इसकी सीमा झेलम तक है और पूर्व में यह उस देशान्तर रेखा तक है जो बनारस तक होकर जाती है। इसकी पश्चिमी और पूर्वी सीमाएँ एक दूसरी से बहुत दूर हैं। कई स्थानों में ये एक दूसरी की सीमा का अतिक्रमण करती हैं और

इस रूप में मिल जाती हैं कि यहाँ की भाषा के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन हो जाता है। यदि भीतरी उपशाखा की भाषा के शुद्ध रूप को ध्यान में रखकर इन सीमाओं को संकुचित किया जाय, तो पश्चिमी सीमा को निश्चित रूप से पटियाला जिले के सरहिन्द तक स्थिर करना होगा और पूर्वी सीमा को उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले के आस-पास मानना पड़ेगा। सरहिन्द और झेलम के बीच की भाषा पंजाबी है। इसके कई रूप हैं। जैसे जैसे हम पश्चिम की ओर बढ़ते जाते हैं तथा सरहिन्द अथवा सरस्वती के पश्चिम में पहुँचते हैं, वैसे वैसे हम उस प्रदेश में प्रवेश करते हैं जहाँ प्राचीन काल में आंशिक रूप में दर्दीय भाषा-भाषी तथा आंशिक रूप में बाहरी उपशाखावाले निवास करते थे। कालान्तर में भीतरी उपशाखावालों ने उन्हें पराजित किया और उन्हें अपने में आत्मसात् करके उन पर अपनी भाषा लाद दी। यह बात ठीक उसी रूप में हुई होगी जिस रूप में आज हिन्दुस्तानी पंजाबी को आत्मसात् कर रही है। पंजाबी वस्तुतः भीतरी उपशाखा की भाषा है, किन्तु इसमें कतिपय ऐसे रूप भी उपलब्ध हैं जो दर्दीय अथवा बाहरी उपशाखा की भाषा से आये हैं। इलाहाबाद तथा बनारस के बीच में, अथवा यों कहें कि अवध, बघेलखण्ड तथा छत्तीसगढ़ प्रदेश की भाषा पूर्वी हिन्दी है। यह एक ऐसी मध्यवर्ती भाषा है जिसमें दोनों ही उपशाखाओं की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। दक्षिण में भीतरी उपशाखा की भाषा की सीमा स्पष्ट है। मोटे तौर पर यह नर्मदा नदी की दक्षिणी जलविभाजक रेखा (वाटरशेड) तक पहुँचती है। पश्चिम में यह सीमा राजस्थानी से होते हुए सिन्धी के बाह्य भाग को और पंजाबी से होते हुए लहँदा (के बाह्य) प्रदेश को स्पर्श करती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह सीमा बाहरी उपशाखा की सुदृढ़ प्राचीरों को विच्छिन्न करके गुजराती के द्वारा गुजरात के समुद्र तक जा पहुँचती है। गुजराती में आज भी बाह्य उपशाखा की भाषा के अवशेष मिलते हैं। शेष भारतीय आर्य भाषाएँ बाहरी उपशाखा की हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का अन्तिम वर्गीकरण

समस्त भारतीय आर्य-भाषाओं को सामूहिक रूप से निम्नलिखित समुदायों में विभाजित किया जा सकता है। पश्चिमोत्तरी समुदाय, दक्षिणी समुदाय तथा पूर्वी समुदाय (बाहरी उपशाखा से सम्बन्धित), मध्य उपशाखा (बाहरी तथा भीतरी उपशाखा की मध्यवर्तिनी) और केन्द्रीय तथा पहाड़ी समुदाय (भीतरी उपशाखा से सम्बन्धित)। इस प्रकार हम निम्नलिखित भाषाओं की जनसंख्यायुक्त सूची प्रस्तुत करते हैं—

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
(संस्कृत)	..	(३६५)
अ—बाहरी उपशाखा	११,७७,७८,३४२	१२,३३,२८,८२५
(क) उत्तर-पश्चिमी समुदाय	१,०१,६२,२५१	९०,२३,९७२
(१) लहँदा या पश्चिमी पंजाबी	७०,९२,७८१	५६,५२,२६४[1]
(२) सिन्धी	३०,६९,४७०	३३,७१,७०८
(ख) दक्षिणी समुदाय	१,८०,११,९४८	१,८७,९७,८३१
(३) मराठी	१,८०,११,९४८	१,८७,९७,८३१
(ग) पूर्वी समुदाय	८,९६,०४,१४३	९,५५,०७,०२२[2]
(४) उड़िया	९०,४२,५२५	१,०१,४३,१६५
(५) बिहारी	७,७१,८०,७८२	३,४३,४२,४३०[2]
(६) बंगाली	४,१९,३३,२८४	४,२९,९४,०९९
(७) असमी	१४,४७,५५२	१७,२७,३२८
आ—मध्य उपशाखा	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[2]
(घ) बीच का समुदाय	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[2]
(८) पूर्वी हिन्दी	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[2]
इ—भीतरी उपशाखा	८,३७,७०,६२२	८,३६,३६,४९२[2]
(ङ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय	८,१६,६५,८२१	८,१७,४५,९५५[2]
(९) पश्चिमी हिन्दी	३,८०,१३,९२८	४,१२,१०,९१६[2]
(१०) पंजाबी	१,२७,६२,६३९	१,६२,३३,५९६[3]

१. जनगणना में बहुत से लहँदी भाषाभाषी पंजाबी के अन्तर्गत रखे गये हैं।

२. यह संख्या प्रायः अनुमानित है। जनगणना में ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी तथा पूर्वी हिन्दी के प्रायः सभी भाषा भाषी पश्चिमी हिन्दी का व्यवहार करते से दिखाये गये हैं। असम्बद्ध जनगणना इस प्रकार होगी—

बिहारी	७,३३१
पूर्वी हिन्दी	१३,९९,५२८
पश्चिमी हिन्दी	९,६७,१४,३६९

३. इस संख्या में लहँदा-भाषी भी हैं।

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
(११) गुजराती	१,०६,४६,२२७	९५,५१,९९२
(१२) भीली	२६,९१,७०१	१८,५५,६१७
(१३) खानदेशी	१२,५३,०६६	२,१३,२७२
(१४) राजस्थानी	१,६२,९८,२६०	१,२६,८०,५६२
(च) पहाड़ी समुदाय	२१,०४,८०१	१९,१७,५३७
(१५) पूर्वी पहाड़ी या नेपाली	१,४३,७२१	२,७९,७१५
(१६) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी	११,०७,६१२	३,८५३[१]
(१७) पश्चिमी पहाड़ी	८,५३,४६८	१६,३३,९१५
अनिर्णीत	..	५४
योग	२२,६०,६०,६११	२२,९५,६०,५५५

ऊपर की सूची में मराठी तथा पूर्वी हिंदी बोलियों के समुदाय हैं न कि भाषाओं के। पहाड़ी समुदाय की भाषाएँ हिमालय की तराई में बोली जाती हैं। पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली को वहाँ के बोलनेवाले 'खसकुरा' नाम से पुकारते हैं। केन्द्रीय पहाड़ी के अन्तर्गत नैनीताल तथा मसूरी के आस-पास की पर्वतीय बोलियाँ भी सम्मिलिति हैं। ये हैं—कुमायूनी और गढ़वाली। पश्चिमी-पहाड़ी से तात्पर्य है पंजाब के उत्तर-स्थित पर्वतीय बोलियों का समुदाय। ये हैं—जौनसारी, सिरमौरी, क्योंठाली, कुल्लुई तथा चमआली।

भारतीय आर्य-भाषा-भाषियों की सम्पूर्ण संख्या प्रायः यूरोप की अनुमानित जनसंख्या (४०,००,००,०००) की आधी से अधिक है।

१. जनगणना में बहुत से पहाड़ी बोलनेवाले हिन्दी बोलते हुए दिखाये गये हैं।

बारहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाओं का विकास

आधुनिक भाषाओं का विकास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतीय आर्यभाषाओं की वास्तविक बोलचाल के रूपों के प्राचीनतम नमूने हमें ऋग्वेद के मंत्रों में मिलते हैं। ब्राह्मण-युग में विकसित कृत्रिमतापूर्ण लौकिक संस्कृत से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः अधिकांश ऋचाओं की रचना निश्चय ही उनके ऋषियों द्वारा व्यवहृत नैसर्गिक एवं अकृत्रिम बोलचाल की भाषा में ही की गयी होगी। यद्यपि संहिता के रूप में ब्राह्मणों ने मंत्रों का सम्पादन इस रूप में किया है कि उनकी भाषागत विशेषताएँ लुप्त हो जायें, तथापि इनकी भाषा के अध्ययन से यह बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो जाती है कि भारत के प्राचीनतम निवासी आर्यों की भाषा का क्या स्वरूप था।

प्रथम प्राकृत

अशोक (२५० ई० पू०) के शिलालेखों तथा महर्षि पतंजलि (१५० ई० पू०) के ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में उत्तर भारत में आर्यों की विविध बोलियों से युक्त एक भाषा प्रचलित थी। जनसाधारण की नित्य व्यवहार की इस भाषा का क्रमागत विकास वस्तुतः वैदिक युग की बोलचाल की भाषा से हुआ था। इसके समानान्तर ही इन्हीं बोलियों में से एक बोली से ब्राह्मणों के प्रभाव द्वारा एक गौण-भाषा के रूप में लौकिक संस्कृत का विकास हुआ। कालान्तर में इसने मध्ययुगीन लैटिन की ही भाँति अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। शताब्दियों से भारतीय आर्य-भाषा प्राकृत नाम से पुकारी जाती रही है। प्राकृत का अर्थ है—नैसर्गिक एवं अकृत्रिम भाषा। इसके विरुद्ध संस्कृत का अर्थ है—संस्कार की हुई, तथा कृत्रिम भाषा। 'प्राकृत' की इस परिभाषा से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक मंत्रों की बोलचाल की भाषाएँ बाद के मंत्रों की कृत्रिम संस्कृत भाषा की तुलना में वास्तव में प्राकृत (नैसर्गिक) भाषाएँ थीं। वस्तुतः इन्हें भारतवर्ष की प्रथम प्राकृत कहा जा सकता है।

द्वितीय प्राकृत

इससे जो भाषा विकसित हुई और जो संस्कृत के समानान्तर विकास के पथ पर अग्रसर होती गयी[1] उसे द्वितीय प्राकृत के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस प्राकृत का विकास संस्कृत व्याकरण के कारण बहुत कुछ अवरुद्ध था और यह संस्कृत के आदर्श पर ही लोकभाषा के रूप में विकसित हुई थी।

तृतीय प्राकृत

अन्त में आधुनिक भाषाओं एवं बोलियों के विकसित रूप को 'तृतीय प्राकृत' कह सकते हैं। वस्तुतः यह तृतीय ही हमारे अध्ययन का विषय है।

प्रत्येक अवस्था के मध्य की विभाजक सीमारेखा

यह तथ्यपूर्ण बात है कि प्रथम प्राकृत तथा द्वितीय प्राकृत अथवा द्वितीय प्राकृत तथा तृतीय प्राकृतों के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।[2] हमारे पास द्वितीय प्राकृत के प्रारम्भिक युग की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसके पूर्ण विकास का प्रथम दर्शन हमें अशोक के अभिलेखों में होता है।

१. श्री पीटर्सन [Mr. Petersen] ने अपने लेख वैदिक संस्कृत एण्ड प्राकृत [Vedic Sanskrit and Prakrit J. A. O. S. XXXII] १९१२, पृ० ४२३ में लिखा है कि प्राकृत वह संस्कृत है जिसे यहाँ के आदिवासी दास लोग अशुद्ध उच्चारण के रूप में बोलते थे। इन्होंने इस अवस्था की तुलना अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में बोली जानेवाली नीग्रो अंग्रेजी तथा बच्चों द्वारा बोली जानेवाली अशुद्ध उच्चारण की भाषा से की है। यह सुझाव आकर्षक है; किन्तु इसे मैं स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। संस्कृत से प्राकृत का परिवर्तन इतना स्पष्ट और भाषा के क्रमबद्ध विकास का उदाहरण है और यह परिवर्तन लैटिन से रोमन भाषाओं के परिवर्तन के इतना समानान्तर है कि इसके लिए किसी अन्य व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। यह हो सकता है कि आदिवासियों की टूटी-फूटी संस्कृत का, प्राकृतों के ऊपर थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा हो, किन्तु मेरे विचार से प्राकृतों के विकास का यह कारण नहीं हो सकता।

२. यह निश्चित है कि वैदिक युग में भी व्यावहारिक रूप में प्रयुक्त होनेवाली भाषा में, बहुत से शब्द विकासक्रम से पालि तक पहुँचनेवाली अवस्था के होंगे यद्यपि पालि की गणना द्वितीय प्राकृत के अन्तर्गत है।

प्रथम तीनों प्राकृतों की विशेषताएँ

दूसरी ओर हमें यह ज्ञात है कि द्वितीय प्राकृत से तृतीय प्राकृत के रूप म परिवर्तन इतने धीरे-धीरे हुआ कि दोनों की विभाजक रेखा के आस-पास यह कहना अत्यन्त दुरूह हो जाता है कि यह द्वितीय प्राकृत है अथवा तृतीय। यह होते हुए भी प्रत्येक समूह की मुख्य विशेषताओं को पहचानने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। प्रारम्भिक अवस्था में भाषा की प्रकृति संश्लिष्ट थी और कठोर संयुक्त व्यंजनों के प्रति उसका कोई विरोध न था। द्वितीय प्राकृत युग में भी भाषा संश्लिष्ट ही थी, किन्तु सन्ध्यक्षरों तथा कठोर संयुक्त व्यंजनों का प्रायः अभाव हो गया। बाद के कृत्रिम साहित्यिक विकास के युग में स्वरों का प्राबल्य तथा व्यंजनों की अत्यधिक न्यूनता हो गयी। यह प्राकृत केवल स्वरों का संग्रह-मात्र ही रह गयी और इसमें व्यंजनों का उपयोग केवल आकस्मिक स्थलों पर ही होने लगा। इसकी दुर्बलता स्वयं अपने ही नाश का कारण बनी और तृतीय प्राकृत-युग में उच्चारण-सौकर्य के लिए दो स्वरों के बीच य-व-श्रुतियों का समावेश किया जाने लगा। इस अवस्था में संज्ञा तथा क्रिया-पदों के रूपों में भी परिवर्तन हुआ। धीरे-धीरे स्वरों पर आधारित प्रत्यय घिसकर समाप्त हो गये और एक नवीन भाषा अस्तित्व में आयी। अब भाषा संश्लिष्ट से विश्लिष्ट हो चली और उसके नवीन रूपों में पुनः संयुक्त व्यंजनों की वह प्रवृत्ति अस्तित्व में आयी जो तीन सहस्र वर्ष पूर्व थी किन्तु जो गत दो सहस्र वर्षों से समाप्त हो गयी थी। इससे भी विचित्र बात यह है कि आधुनिक भाषाएँ—विशेषतया बाहरी उपशाखा की भाषाएँ—विश्लेषावस्था से संश्लिष्टावस्था की ओर उन्मुख हो रही हैं। यह विकास ठीक उसी रूप में हो रहा है जैसा मध्य यूरोप अथवा साइबेरिया की भारोपीय भाषा-भाषी खानाबदोश जातियों की बोलियों में हुआ है।

द्वितीय प्राकृत की विभाषाएँ

आज यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है कि इस द्वितीय प्राकृत की प्राचीनतम अवस्था में इसकी विभाषाएँ भी थीं अथवा नहीं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक भाषा की विभाषाएँ थीं उसी प्रकार इसकी भी विभाषाएँ रही होंगी। यह सिन्धु से कोसी तक के विस्तृत भूभाग में प्रचलित थी और यह बड़ी आश्चर्यजनक बात होगी यदि इसमें कोई स्थानीय अन्तर न रहे हों। इसके अतिरिक्त २५० ई० पू० अशोक के शिलालेखों में हमें यही मिलती है। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय आर्य-भाषा की दो विभाषाएँ, पूर्वी तथा पश्चिमी प्राकृत, थीं।

पालि

उस समय तक द्वितीय प्राकृत विकास की जिस अवस्था तक पहुँच चुकी थी, उसका रूप, बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण बहुत हद तक निश्चित हो गया। बुद्ध की पवित्र-वाणी का आकलन भी इसी में हुआ और यही भाषा पालि के नाम से प्रख्यात है।

प्राकृतों का सर्वोत्कृष्ट रूप

बोलचाल की भाषा के रूप में यह विकास के पथ पर आगे बढ़ती गयी और बाद में, देशभेद के अनुसार, यह कई विभाषाओं में विभक्त हो गयी। ये ही उत्कृष्ट प्राकृतें कहलायीं। जब हम प्राकृत की चर्चा करते हैं तब हमारा तात्पर्य इन बाद की प्राकृतें से ही होता है। इनका समय पालि के बाद तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास के पूर्व था।

साहित्यिक प्राकृतें

धार्मिक एवं राजनीतिक प्रभावों के कारण बाद के युगों में ये प्राकृत भाषाएँ साहित्यिक अध्ययन का विषय बन गयीं। इनमें काव्य तथा धर्मग्रन्थों की रचना होने लगी और स्वतंत्र रूप में, नाटकों में भी, इनका प्रयोग होने लगा। इनके कतिपय व्याकरण तो समकालीन लेखकों द्वारा लिखे गये थे किन्तु इनके कुछ ऐसे व्याकरण भी उपलब्ध हैं जो इनके मृतक होने के कुछ समय बाद ही प्रणीत हुए थे। सुविधा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि १००० ई० के लगभग ये प्राकृतें मृतक भाषा के रूप में परिणत हो गयी थीं। इनके सम्बन्ध में आज हमें जो कुछ ज्ञान है उसका आधार इनमें उपलब्ध साहित्य तथा इनके व्याकरण-ग्रंथ हैं। दुर्भाग्यवश हम इन्हें उस वास्तविक बोलचाल की भाषा के नमूने के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते जिस पर ये आधारित हैं। इन प्राकृतों को साहित्यिक रूप देने के लिए लेखकों ने इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर डाले। ग्राम्य रूप प्रायः छोड़ दिये गये और बोलचाल के अनेक रूप, संस्कृत रूपों के समान, नियमबद्ध किये गये। इस प्रकार भारत में बहु-प्रचलित प्रथा के अनुसार उस कृत्रिम साहित्य के लिए अनेक कृत्रिम बातों की उद्भावना की गयी। इन साहित्यिक प्राकृतों को किसी भी रूप में, किसी भी युग की वास्तविक जनभाषा का सच्चा प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। यद्यपि ये उन्हीं जनभाषाओं पर आधारित हैं किन्तु इनके तथा जनभाषाओं के बीच एक ऐसा आवरण पड़ा हुआ है जिसका हटाना प्रायः सरल नहीं है।

पश्चिमी तथा पूर्वी प्राकृत

तो भी हम इनका विभाजन (जैसा कि अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है) पश्चिमी तथा पूर्वी प्राकृतों के रूप में कर सकते हैं। इन दोनों की अपनी विशेषताएँ हैं। पश्चिमी प्राकृत का प्रधान रूप 'शौरसेनी' नाम से अभिहित किया जाता था। यह शूरसेन प्रदेश अथवा गंगा के मध्य-दोआब तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश की भाषा थी। पूर्वी प्राकृत की प्रमुख भाषा थी 'मागधी'। यह वर्तमान दक्षिणी विहार के मगध प्रदेश की भाषा थी। इन दोनों के मध्य एक प्रकार का तटस्थ क्षेत्र था, जहाँ की भाषा को 'अर्ध-मागधी' नाम से पुकारा जाता था। इसमें दोनों ही भाषाओं के लक्षण विद्यमान थे। इसकी पश्चिमी सीमा वर्तमान इलाहाबाद के आस-पास कहीं थी, किन्तु इसकी पूर्वी सीमा के विस्तार के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि इसी भाषा में जैनमत के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने अपना उपदेश दिया था (वे भारत के इसी भाग में उत्पन्न हुए थे) और इसी पर आधारित भाषा में प्राचीन जैनग्रन्थों की रचना हुई थी। महाराष्ट्र प्रदेश की 'महाराष्ट्री प्राकृत' इसके बहुत निकट थी। उसका झुकाव पश्चिमी प्राकृत की अपेक्षा पूर्वी प्राकृत की ओर अधिक था। यह बरार तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों की भाषा थी। बाद में यह प्राकृत-काव्यों की प्रमुख भाषा बनी। दूसरी ओर, भारत के सुदूर पश्चिमोत्तर प्रान्त में, ईरानी भाषाओं की सीमा पर, वर्तमान अफगानिस्तान तथा बलोचिस्तान प्रदेश में, निश्चित रूप से एक प्राकृत प्रचलित थी। इस प्राकृत का नाम आज हमें ज्ञात नहीं है किन्तु इसके अस्तित्व का पता हमें द्वितीय काल की प्राकृत के विकास से चलता है। इसके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा। इस प्राकृत का विकास प्राचीन संस्कृत की उस विभाषा से हुआ था जो सिन्धु नदी के तट पर बोली जाती थी।

अपभ्रंश

ब्राह्मण-गुरुकुलों में अध्ययन-अध्यापन के कारण जिस प्रकार संस्कृत का रूप स्थिर हो गया था, उसी प्रकार जब प्राकृत में ग्रंथ-रचना होने लगी और कई पीढ़ियों तक वह साहित्यिक भाषा के रूप में अपरिवर्तित गति से चलती रही तो उसका रूप भी बहुत कुछ स्थिर हो गया। उधर प्राकृतों की आधारभूत बोलचाल की जन-भाषाएँ प्रगति के पथ पर अग्रसर होती गयीं। साहित्यिक प्राकृतों के प्राचीनतम नमूने संस्कृत नाटकों (इन नाटकों की प्राकृत व्याकरण-सम्बन्धी कठोर नियमों से आबद्ध है) तथा सुयोग्य कवियों के गीत-काव्यों में सुरक्षित हैं। प्राकृत में प्रबन्ध (वर्णनात्मक) काव्य की रचना बहुत बाद में होने लगी। यद्यपि ऐसे काव्य-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं

हैं तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के काव्य अर्ध शिक्षित लोगों में प्रचलित थे।[1] ऐसे काव्यों की रचना विद्वानों के तत्त्वावधान में नहीं हुई थी किन्तु ये जनसाधारण के लिए रचे गये थे और तत्कालीन साहित्यिक प्राकृत के विपरीत, इन कृतियों में जन-भाषा से स्वतंत्रतापूर्वक शब्द उधार लिये गये थे। उदाहरणस्वरूप, शब्दसमूह तथा वाक्य-रचना की दृष्टि से, इस प्रकार के अवध तथा गुजरात में लिखित प्राकृत-ग्रंथों की भाषा में महान् अन्तर होना स्वाभाविक था। इन प्राकृत-रचनाओं में व्यवहृत देश्य (देशी अथवा स्थानीय) शब्द प्रामाणिकता की कोटि में न आ सके और नियमानुकूल साहित्यिक प्राकृत में उनके लिए कोई स्थान न था। ये शब्द स्थिर भी न रह सके क्योंकि स्थानीय-भाषाओं में परिवर्तन होने के कारण धीरे-धीरे इनके अर्थ में भी परिवर्तन आता गया। अर्थपरिवर्तन के साथ-साथ ऐसे शब्द प्रायः अप्रचलित हो जाते थे और उनके स्थान पर अन्य शब्द व्यवहृत होने लगते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि समय की प्रगति के साथ-साथ ये प्रबन्ध-काव्य जनता के लिए दुर्बोध होते गये और पुनः उन्हें जनता की भाषा में अनूदित करके उनमें देशी शब्द भरे गये। इस प्रकार के ग्रन्थों की स्थानीय प्राकृत को अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट कहा गया, और जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, स्थान के अनुसार इनके रूप में भी पर्याप्त अन्तर था।

साहित्यिक अपभ्रंश

जैसे-जैसे स्थानीय अपभ्रंशों की रचनाएँ अधिकाधिक प्रसिद्ध होती गयीं, उनकी शैली की एक परम्परा ही बन गयी; और 'नागर अपभ्रंश' नाम से विख्यात उनकी

१. इस सम्बन्ध में प्रो० जेकोबी [Jacobi] कृत सनत्कुमारचरितम् के संस्मरण को पृ० xviii तथा उसके आगे देखिए। इन प्रबन्ध-काव्यों में एक प्रबन्ध काव्य तरंगवती नाम का 'पदलिप्त' नामक व्यक्ति द्वारा अवध में लिखा गया था। इसकी रचनातिथि पाँचवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती। प्रान्तीय शब्दों की अधिकता के कारण धीरे-धीरे यह ग्रंथ लोगों के लिए अबोधगम्य हो गया और इसके हजार वर्ष बाद यह किसी अज्ञात लेखक द्वारा 'तरंग-लोला' के नाम से साहित्यिक अप-भ्रंश में अनूदित हुआ। तरंगवती काव्य लुप्त हो गया है, किन्तु तरंग लोला उपलब्ध है। इसका एक सुन्दर संस्करण प्रो० ल्यूमेन [Prof Leumann] ने जाइट स्रिफ्ट फुर बुद्धिज्म [Zeit schrift fur Buddhism; III, pp 193] में किया है। यह अत्य-धिक मनोरंजक तथा आकर्षक है।

एक विशिष्ट अपभ्रंश को, प्राकृतों की ही भाँति, साहित्यिक भाषा का स्थान प्राप्त हो गया। बाद में, इसी में पश्चिमी भारत के अपभ्रंश ग्रन्थों की रचना की गयी। जन-साधारण की स्वीकृति से लाभान्वित हो जाने पर भारतवर्ष के बड़े भाग की साहित्यिक रचनाओं की वाहिका के रूप में इसकी प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार के प्रयोग से, स्थान-स्थान पर इसमें यत्किञ्चित् अन्तर आता गया किन्तु इसके विभिन्न रूपों को उपभाषाओं की संज्ञा देना उचित न होगा। यहाँ यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि किसी भी प्रकार ये विभिन्न रूप उन अनेक स्वतंत्र तथा स्थानीय अपभ्रंशों अथवा भाषाओं की भाँति नहीं थे जो उनके बोलनेवालों द्वारा साहित्य में प्रयुक्त की जाती थीं। इनमें से प्रत्येक में जो स्थानीय भेद थे वे स्थानीय बोलियों के नहीं अपितु वे साहित्यिक अपभ्रंश के भेद थे। भारतीय वैयाकरणों ने साहित्यिक अपभ्रंश के कम से कम सत्ताईस भेदों की सूची प्रस्तुत की है। इसके साथ ही उन्होंने प्रत्येक की संक्षिप्त विशेषताएँ तथा उन प्रदेशों के नाम भी दिये हैं, जहाँ ये भाषाएँ व्यवहृत होती थीं।[१] इस रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर (यत्किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तन होने पर भी) यह भाषा शब्द-समूह के विषय में साहित्यिक प्राकृत के अति निकट थी, किन्तु इसके व्याकरण का देश्य रूप (देशी रूप) उसी युग का था जब वह साहित्यिक रूप धारण करके जड़ता को प्राप्त हुई थी।[२] इस प्रकार जहाँ साहित्यिक अपभ्रंश को देश के किसी भी भाग की प्रति-निधि भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता अथवा इसे भाषा के विकास की किसी भी विशिष्ट अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हुए नहीं माना जा सकता, वहाँ मोटे तौर पर यह हमारे समक्ष साहित्यिक प्राकृत के बाद के युग का सुन्दर चित्र उपस्थित करती है और कम से कम, जहाँ तक व्याकरण का सम्बन्ध है, उनके तथा तृतीय प्राकृत के प्रारम्भिक काल के बीच की कड़ी है। नागर अपभ्रंश तो साहित्यिक रचना के लिए स्वीकृत थी और सापेक्षिक दृष्टि से इसमें परिवर्तन भी बहुत कम हुए। मृतक हो जाने के बहुत बाद तक तथा तृतीय प्राकृत के पूर्णतया प्रतिष्ठापित हो जाने पर भी यह बहुत

१. इनका जो विवरण मिलता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रदेश के नाम पर इनका नाम पड़ा हो, वहाँ की ये बोल-चाल की भाषाएँ नहीं थीं। ये अपभ्रंश भाषाएँ उन प्रदेशों में भी मिलती हैं जहाँ की स्थानीय भाषाएँ द्रविड़ थीं।

२. यह बात मोटे तौर पर कही जा सकती है क्योंकि इनके शब्द-समूह में भी कुछ-न-कुछ पुराने तथा नये देशी शब्द आ गये थे, किन्तु इसके साथ ही साथ पुरानी प्राकृत के व्याकरण के रूप भी कभी-कभी मिलते हैं।

समय तक साहित्यिक रूप में चलती रही। इसका पूर्ण विवरण पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने दिया है। उनका समय १२वीं शती ईसवी है और उनके लिए यह भाषा उतनी ही साहित्यिक तथा व्याकरणसम्पन्न थी जैसी संस्कृत। उस युग तक यह मृतक भाषा हो चुकी थी और केवल साहित्यिक रूप में सुरक्षित थी। वस्तुतः अपने व्याकरणग्रंथ में हेमचन्द्र ने इसी का विवरण दिया है। इसकी आधारभूत, गुजरात तथा पश्चिमी राजस्थान में किसी युग में बोली जानेवाली अपभ्रंश-भाषा थी। अपने व्याकरण में उन्होंने इसी बोली के अनेक साहित्यिक पदों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यह मनोरंजक बात है कि इसके कतिपय पद तो आवश्यक ध्वनि-परिवर्तन के साथ पश्चिमी राजस्थान की आधुनिक भाषा में शब्दशः सुरक्षित हैं और बोलचाल की भाषा में उनका आज भी प्रयोग होता है।[1]

अपभ्रंश तथा तृतीय प्राकृत का कालनिर्णय

साहित्यिक अपभ्रंश के प्रतिष्ठापित हो जाने के कारण स्थानीय अपभ्रंशों का प्रचलन कब समाप्त हो गया, यह निश्चित रूप से कहना असम्भव है। कहा जाता है कि भाषा अथवा किसी स्थानीय अपभ्रंश में सम्भवतः छठी शती ईसवी में पद-रचना हुई थी और दसवीं शती ईसवी में तो संस्कृत तथा प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश भी साहित्यिक रूप में व्यवहृत होने लगी थी। इस प्रकार अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण करने की तिथि, निश्चित रूप से इन दोनों (६०० ई० तथा १००० ई०) के बीच में रही होगी।[2] दूसरी ओर, कम से कम १३ वीं शती ईसवी के प्रारम्भ से ही, तृतीय प्राकृत का साहित्य में व्यवहार होने लगा था। किसी भी भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होने की योग्यता सिद्ध करने के लिए उचित समय देते हुए हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक भाषाओं ने १००० ई० के आस-पास प्राकृत का पल्ला छोड़ दिया था। यह वही समय था जब महमूद गज़नवी ने भारत पर अपने पन्द्रह आक्रमणों में से प्रथम का सूत्रपात किया था।

१. इस सम्बन्ध में नवीन सीरीज की संवत् १९७८ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका के द्वितीय खण्ड में पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख देखें। विशेष रूप से पृ० १८ तथा उसके आगे और पृ० ४४ की सामग्री द्रष्टव्य है।

२. बाण (छठी शताब्दी) कृत श्री हर्षचरित के अनुसार बाण का एक मित्र भाषाकवि भी था। बाण ने उसके नाम का विशेष उल्लेख किया है।

अपभ्रंश की विभाषाएँ

इस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकाससम्बन्धी विवरण के लिए हमें साहित्यिक प्राकृत अथवा इससे भी अधिक संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश की ओर ही ध्यान देने की आवश्यकता है। यद्यपि संस्कृत और विशेष रूप से साहित्यिक प्राकृतें हमारी खोजों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाल सकती हैं तथापि हमारे तत्काल अनुसन्धानों का आधार अपभ्रंश को ही होना चाहिए। यह सत्य है कि साहित्य में केवल पश्चिमी भारत की नागर अपभ्रंश के नमूने ही सुरक्षित हैं,[१] किन्तु प्राकृत वैयाकरणों के सहयोग से उन स्थानीय अपभ्रंशों की रूपरेखा तैयार करना कठिन नहीं है जिनसे आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई हैं। यहाँ आधुनिक भाषाओं के साथ-साथ उन स्थानीय अपभ्रंशों की सूची दे देना ही पर्याप्त होगा जिनसे ये प्रसूत हुई हैं। सिन्धु नदी के निचले प्रदेश की अपभ्रंश 'ब्राचड' नाम से विख्यात थी। इसका सीधा सम्बन्ध हम सिन्धी तथा लहँदा से जोड़ सकते हैं। इनमें से लहँदा तो प्राचीन केकय प्रदेश की बोली थी। इसमें सन्देह नहीं कि जिस क्षेत्र में आज ये दोनों भाषाएँ प्रचलित हैं वहाँ की जनता का एक बहुत बड़ा भाग दर्दीय भाषा-भाषी रहा होगा क्योंकि उनकी स्पष्ट छाप आधुनिक सिन्धी तथा लहँदा पर दृष्टिगोचर होती है। नर्मदा नदी के दक्षिण में अरबसागर से उड़ीसा (उत्कल प्रदेश) तक निश्चित रूप से वैदर्भ अथवा दाक्षिणात्य अपभ्रंश से सम्बन्धित अनेक विभाषाएँ रही होंगी। इनका केन्द्र विदर्भ प्रदेश अथवा आधुनिक बरार था जिसे संस्कृत में महाराष्ट्र कहते थे। यह तथा इसकी सहायक अपभ्रंश भाषाएँ आधुनिक मराठी की पूर्वज भाषाएँ हैं। दाक्षिणात्य के पूर्व में, बंगाल की खाड़ी तक औड्र अथवा औत्कल अपभ्रंश का क्षेत्र था। इसी से आधुनिक उड़िया की उत्पत्ति हुई है। औड्र के उत्तर में, प्रायः वर्तमान छोटा नागपुर तथा बिहार के अधिकांश भाग के साथ-साथ

१. वैदिक युग में भी बोलियाँ थीं, इसका प्रमाण अपभ्रंश में मिलता है। सच बात तो यह है कि द्वितीय प्राकृत में व्याकरणसम्बन्धी अनेक ऐसे रूप मिलते हैं जिनकी व्याख्या पाणिनीय संस्कृत द्वारा नहीं की जा सकती। इनमें से एक अपादान अथवा सप्तमी की विभक्ति 'हि' है जो पालि तथा प्राचीन संस्कृत 'धि' से उद्भूत हुई है, साहित्यिक संस्कृत से नहीं। 'धि' का ही रूप प्रत्ययरूप से ग्रीक में 'थि' मिलता है। वैदिक युग में भी इस प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। किन्तु जिस परिनिष्ठित बोली से संस्कृत प्रादुर्भूत हुई है उसमें इसका अभाव है। देखो प्रोफेसर वाकरनागल कृत आल्टिण्डीशे ग्रामेटिक [Prof Wackernagel's Altindische Grammatik, p XX]

पूर्वी उत्तर प्रदेश के आधे भाग, बनारस तक, प्रसिद्ध मागध अपभ्रंश का प्रसार था। आधुनिक विहारी भाषाओं का प्रादुर्भाव इसी से हुआ है और इसकी एक बोली मगही आज भी पुराना नाम अपनाये हुए हैं। मागध अपभ्रंश वस्तुतः मुख्य अपभ्रंश थी और प्राचीन पूर्वी प्राकृत से यह प्रसूत हुई थी। इस प्राचीन पूर्वी प्राकृत से केवल पूर्वकथित औड्र ही नहीं अपितु इसी से बाद में गौड भी विकसित हुई थी। ये तीनों ही प्राचीन पूर्वी प्राकृत से उद्भूत भाषाएँ हैं। मागध के पूर्व में गौड या प्राच्य अपभ्रंश का क्षेत्र था। इसका प्रमुख केन्द्र वर्तमान मालदा जिले का गौर नामक नगर था। यह दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व की ओर प्रसरित हुई और यहीं यह आधुनिक बँगला की जननी बनी। दक्षिणी प्रसार के अतिरिक्त गौड अपभ्रंश गंगा के उत्तरी प्रदेश से होती हुई पूर्व की ओर फैलती गयी। यहाँ यह वर्तमान युग में उत्तरी बँगला तथा असम घाटी में असमी अथवा असमियाँ नाम से विकसित हुई। उत्तरी बंगाल तथा असम ने अपनी भाषाओं को, खास बंगाल से प्राप्त न करके सीधे पश्चिम से ग्रहण किया है। वस्तुतः मागध अपभ्रंश का प्रसार पूर्व तथा दक्षिण में तीन ओर माना जा सकता है। यह उत्तर-पूर्व में उत्तरी बँगला और असमी, दक्षिण में उड़िया एवं इन दोनों के बीच में बँगला के रूप में विकसित हुई है। इन तीनों में से प्रत्येक भाषा, समान रूप से सीधे एक ही पूर्वज भाषा से सम्बन्धित है। इसी लिए हम उत्तरी बँगला को, कई बातों में, खास बंगाल की बँगला की अपेक्षा, दूरस्थ दक्षिण में बोली जानेवाली उड़िया के समान पाते हैं, यद्यपि इसका वर्गीकरण साधारणतया बँगला की उपभाषा के रूप में ही किया जाता है।

इस प्रकार यहाँ हमने अपभ्रंश की उन विभाषाओं का सर्वेक्षण समाप्त कर लिया है जिनका सम्बन्ध पूर्वकथित बाहरी उपशाखा की आर्य भाषाओं से है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूर्वी तथा पश्चिमी प्राकृतों के बीच में एक मध्यवर्ती प्राकृत भी थी। इसका नाम अर्धमागधी था। इससे विकसित अपभ्रंश की वर्तमान प्रतिनिधि भाषा अवध, बघेलखण्ड तथा छत्तीसगढ़ प्रदेशों में बोली जानेवाली पूर्वी हिन्दी है। पूर्वी हिन्दी की पूर्वी सीमा मोटे तौर पर बनारस तक मानी जा सकती है। पश्चिम में इलाहाबाद के कुछ पश्चिम तक, अन्त में बाँदा तक इसका विस्तार है।

जहाँ तक भीतरी उपशाखा की भाषाओं का सम्बन्ध है, इनकी आधारभूत मुख्य अपभ्रंश अभी तक साहित्यिक भाषा के रूप में सुरक्षित है। यह नागर अपभ्रंश के नाम से प्रख्यात थी और जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है, यह गुजरात तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों की अपभ्रंश थी, जहाँ आज भी नागर ब्राह्मणों का समाज में प्रमुख स्थान है। यदि हम आधुनिक भाषाओं के आधार पर विचार करें तो निश्चित रूप से इसकी कई विभाषाएँ रही होंगी और इनके रूप में यह अवश्य ही दूरस्थ पश्चिमोत्तर

प्रदेश को छोड़कर डेकेन (दक्षिण प्रदेश) के उत्तर समस्त पश्चिमी भारत में प्रसरित रही होगी। इन्हीं में से मध्य दोआब की[1] शौरसेनी अपभ्रंश भी थी जो पश्चिमी हिन्दी की जननी बनी।

इसके अति निकट सम्पर्क की उत्तरी मध्य पंजाब की टक्क तथा सम्भवतः दक्षिणी पंजाब की उपनागर अपभ्रंश भाषाएँ थीं। पंजाब की विभिन्न बोलियों की उत्पत्ति इन्हीं अपभ्रंशों से हुई है। इस (नागर) अपभ्रंश की अन्य विभाषाओं में से एक तो राजस्थानी की जननी आवन्त्य थी जिसका प्रधान केन्द्र वर्तमान उज्जैन के चारों ओर का समीपवर्ती प्रदेश था और दूसरी थी आधुनिक गुजराती की जननी गौर्जर अपभ्रंश। अन्तिम दोनों भाषाएँ, निश्चित रूप से परिनिष्ठित नागर अपभ्रंश के अति निकट की थीं।

अब उत्तरी समुदाय की आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना आवश्यक है। ये हिमालय प्रदेश में, पूर्वी पंजाब से नेपाल तक बोली जाती हैं और हमें इस क्षेत्र की किसी विशिष्ट प्राकृत अथवा अपभ्रंश का पता नहीं है। इनके बोलनेवालों की अधिकांश जनसंख्या का आधार तिब्बती-बर्मी जातियाँ थीं जो बाद के युगों में आर्यों से मिश्रित हो गयीं। पंजाब के उत्तर में टक्क अपभ्रंश ने उन्हें अवश्य ही प्रभावित

१. यह निश्चित नहीं है कि शौरसेनी प्राकृत में (जो शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न है) जिस रूप में आज साहित्य उपलब्ध है वह दोआब में प्रचलित बोलचाल की भाषा का प्रतिनिधि है। यह एक छोटे प्रदेश की अपेक्षा विशाल पश्चिमी भारत की भाषाओं की सामान्य विशेषताओं को अपनाती हुई कृत्रिम साहित्यिक भाषा हो सकती है। एक बात निश्चित है और वह शौरसेनी की एक विशेषता है (इसका सम्बन्ध भविष्यत् काल से है) जो आज के गंगा-यमुना के दोआब में नहीं मिलती, किन्तु यह गुजराती में उपलब्ध है। इस तथ्य की व्याख्या है किन्तु उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतों की अपेक्षा जहाँ तक शब्दसमूह का सम्बन्ध है, संस्कृत के निकट है। इसमें ऐसे देशी शब्दों का अभाव है, जो प्राचीन बोलचाल की संस्कृत से आये हैं, तथा उस बोली से भिन्न हैं, जिसके आधार पर पाणिनीय संस्कृत निर्मित हुई है। यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित हो जाती है कि परम्परा के अनुसार यह बोली वही थी जो कि वैदिक युग में तथा उसके बाद भी सरस्वती के किनारे तथा दोआब के ऊपरी भाग में प्रचलित थी। ग्रीक लेखकों ने भी शूरसेन का प्रसिद्ध नगर मथुरा माना है और उनका नाम ग्रीक ग्रंथों म मोदूरा [Modura] मिलता है।

किया था। इसके बाद तो दर्दीय-मूल की भाषाएँ बोलनेवाली खस तथा अन्य जातियों के इधर कई आक्रमण हुए और मध्य एशिया से आनेवाली गुर्जर जाति भी सम्भवतः अपने साथ आर्य-भाषा ले आयी थी। अन्ततः यहाँ राजपूताना से भी निष्क्रमणकारी आये और इनकी भाषा पूर्वगित लोगों की भाषा से मिश्रित हो गयी और मोटे तौर पर यही भाषा प्रसरित भी हुई। इस प्रकार इस समुदाय की भाषाओं में विभिन्न तत्वों का मिश्रण मिलता है, यद्यपि मुख्य रूप से उनकी गठन राजपूताने में बोली जानेवाली भाषाओं के रचना-विधान का स्मरण दिलाती है। सभी बातों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी उत्पत्ति आवन्त्य अपभ्रंश से हुई।

लौकिक संस्कृत

आधुनिक भाषाओं के इस लम्बे विकास के साथ ही साथ लौकिक संस्कृत का उद्भव भी प्रथम प्राकृत की किसी विभाषा से हुआ। आगे चलकर यह वैयाकरणों के परिश्रम के परिणामस्वरूप अपने वर्तमान रूप में स्थिर हुई। ईसा-पूर्व चौथी शती में तो यह प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के ग्रंथ (अष्टाध्यायी) में उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हो गयी। ब्राह्मणों ने अपने गुरुकुलों में, अति यत्नपूर्वक इस पवित्र भाषा को सुरक्षित रखा और उनसे इसे पाण्डित्य एवं धर्म का वरदान प्राप्त हुआ। इसने स्वतंत्रतापूर्वक द्वितीय प्राकृत से अपनी शब्दावली ग्रहण की और बदले में उसने भी इससे यथेच्छापूर्वक बहुत कुछ उधार लिया। आज भी विशिष्ट प्राकृत-भाषी शिक्षित समुदाय के वार्तालाप में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य रहता है। इन उधार लिये हुए संस्कृत-शब्दों की भी वही दशा हुई जो प्राचीन प्रथम प्राकृत से सीधे आये हुए शब्दों की हुई थी। प्राकृत भाषा-भाषियों के मुख से उच्चरित होने के कारण ये संस्कृत-शब्द विकृत हो गये और यद्यपि व्युत्पत्ति की दृष्टि से ये प्राकृत के शब्द न थे किन्तु उच्चारण की दृष्टि से अन्ततोगत्वा ये प्राकृत के शब्द बन गये।

तत्सम तथा तद्भव

संस्कृत से उधार लिये गये ये शब्द तत्सम कहलाते थे। तत्सम का अर्थ है, तत् + सम, अर्थात् उस (संस्कृत) के समान। मूल प्राकृत शब्द जो सीधे प्रथम प्राकृत से वंशपरम्परा रूप में आये थे, तद्भव कहलाये। तद्भव का मूल अर्थ है, तत् + भव, अर्थात् उस (संस्कृत) से उत्पन्न। (यहाँ संस्कृत शब्द को भी व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। वास्तव में इसका उस प्रथम प्राकृत से तात्पर्य है जिसकी एक विभाषा से लौकिक अथवा पाणिनीय संस्कृत का विकास हुआ था।) यहाँ इनके साथ एक तीसरे प्रकार के शब्दों

को भी सम्मिलित कर सकते हैं। ये वे तत्सम शब्द थे जो प्राकृतभाषी लोगों के मुख में पड़कर विकृत हो गये थे किन्तु वास्तव में ये (संस्कृत से) उधार लिये हुए शब्द ही थे। साधारणतः यूरोपीय विद्वान् इन्हें 'अर्धतत्सम' नाम से अभिहित करते हैं। यह स्पष्ट है कि विकास क्रम की नैसर्गिक गति से, समस्त तत्सम शब्दों के परिवर्तन की प्रकृति अर्ध-तत्सम की ओर थी और अन्ततः बाद के युग में, इन शब्दों के रूप इतने अधिक विकृत हो गये कि इनमें तथा तद्भव शब्दों में भेद करना कठिन हो गया।

देश्य

एक अन्य वर्ग के शब्दों का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। ये हैं भारतीय वैयाकरणों के तथाकथित 'देश्य' अथवा स्थानीय शब्द। इस वर्ग के अन्तर्गत वे समस्त शब्द आ जाते हैं जिनके मूल रूपों को भारतीय वैयाकरण संस्कृत में नहीं खोज सके। कोषकारों के अज्ञान के कारण भी इस वर्ग में अनेक शब्द समाविष्ट कर लिये गये हैं। अन्य तद्भव शब्दों की भाँति इनमें अधिकांश शब्दों की व्युत्पत्ति आधुनिक विद्वान् संस्कृत से दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी शब्द हैं जो मुंडा अथवा द्रविड़ भाषाओं से लिये गये हैं। इस वर्ग में अधिकांश शब्द तो प्रथम प्राकृत की उस विभाषा से आये हैं जिससे संस्कृत की उत्पत्ति नहीं हुई है। इस प्रकार ये वास्तविक तद्भव शब्द हैं, यद्यपि भारतीय वैयाकरण तद्भव शब्द का अर्थ उस रूप में नहीं लेते, क्योंकि उनके समक्ष प्राचीन प्रथम प्राकृत का कोई अस्तित्व न था। ये देश्य शब्द स्थानीय बोलियों के रूप हैं और जैसी कि आशा की जा सकती है, ये अधिकतर लौकिक संस्कृत के मूलस्थान मध्यदेश से दूर, गुजरात प्रदेश के साहित्यिक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। हम इन्हें तद्भव के समान ही मान सकते हैं।

आधुनिक भाषाओं में तत्सम और तद्भव शब्द

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हम ठीक यही स्थिति पाते हैं। यदि विदेशी (जैसे मुंडा, द्रविड़, अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी से उधार लिये गये) शब्दों को छोड़ दें तो इनमें से प्रत्येक के शब्दसमूह को हम तीन भागों—तत्सम, अर्ध-तत्सम तथा तद्भव—में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से अन्तिम (तद्भव) वर्ग के शब्द तो आधुनिक भाषाओं में या तो प्रथम प्राकृत से ग्रहण किये गये हैं अथवा ये लौकिक संस्कृत के द्वितीय प्राकृत में परिवर्तन के फलस्वरूप आये हैं। आज की दृष्टि से यह निष्प्रयोजन है कि मूलतः इनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई थी। द्वितीय प्राकृत-युग में ये तद्भव या तत्सम रहे होंगे किन्तु तृतीय प्राकृत-युग में इनके तद्भव होने का यही प्रमाण बहुत है कि ये उस

[द्वितीय प्राकृत] अवस्था से होकर वर्तमान रूप में आये। दूसरी ओर, वर्तमान तत्सम तथा अर्धतत्सम शब्द उधार लिये गये शब्द हैं। ये नव्य भाषाओं में, आधुनिक युग में ही संस्कृत से ग्रहण किये गये हैं। [ये उस स्रोत से नहीं आये हैं जिससे द्वितीय प्राकृत की उत्पत्ति हुई है।] उदाहरणस्वरूप आधुनिक भाषा का 'आज्ञा' शब्द सीधे लौकिक संस्कृत से आया है। इसका अर्ध-तत्सम रूप 'आग्या' कतिपय भाषाओं में मिलता है; हिन्दी में इसका तद्भव रूप 'आन' है। इसकी उत्पत्ति द्वितीय प्राकृत के 'अण्णा' शब्द से हुई है। इसी प्रकार 'राजा' तत्सम शब्द है किन्तु इसी से प्रसूत 'राय' अथवा 'राव' शब्द इसके तद्भव रूप हैं। वस्तुतः एक ही शब्द के तीनों अथवा दोनों रूप प्रयोग में नहीं आते। प्रायः एक ही शब्द के तत्सम अथवा तद्भव रूपों में से कोई एक प्रयुक्त होता है। यदा-कदा एक ही शब्द के तत्सम तथा तद्भव, दोनों रूपों का व्यवहार होता है किन्तु दोनों के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप लौकिक संस्कृत के 'वंश' शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) कुल (२) बाँस। इसी से सम्बन्धित हिन्दी में दो शब्द प्रचलित हैं। इनमें से एक है अर्धतत्सम शब्द 'बंस' जिसका अर्थ है 'कुल', किन्तु दूसरे तद्भव 'बाँस' शब्द का अर्थ है बाँस का वृक्ष।[1]

आधुनिक भाषाओं पर लौकिक संस्कृत का प्रभाव

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि गत कई सौ वर्षों से, लौकिक संस्कृत सशक्त रीति से आधुनिक भाषाओं के शब्द-समूह को प्रभावित करती रही है और आज भी कर रही है। सच तो यह है कि केवल शब्द-समूह पर ही संस्कृत का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है, इन भाषाओं के व्याकरण पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है। वैदिक युग से ही आधुनिक भाषाएँ अपने विकास-पथ पर अग्रसर होती जा रही हैं। कुछ बातों

१. यूरोपीय-भाषाओं में भी तत्सम एवं तद्भव शब्द मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप "lapsus calami" में lapsus शब्द तत्सम तथा 'lapse' अर्धतत्सम है। दोनों का अर्थ 'पतन' है। किन्तु इसी से प्रसूत lap शब्द तद्भव है और इसका अर्थ परिवर्तित होकर 'पोशाक का नीचे लटका हुआ भाग' हो जाता है। इसी प्रकार 'fragile' तथा 'redemption' शब्द अर्ध-तत्सम हैं किन्तु इनके प्रतिरूप शब्द 'frail' तथा 'ransom' शब्द तद्भव हैं। फ्रेंच 'cause' शब्द अर्ध-तत्सम है, क्योंकि यह लैटिन 'causa' से उद्भूत है किन्तु इसका तद्भव रूप chose है।

में संस्कृत ने इनके मार्ग में अवरोध भी उपस्थित किया किन्तु वह इनकी प्रगति रोक न सकी और जिस प्रकार इनके शब्दसमूह में संस्कृत शब्द आये उस प्रकार इनके व्याकरण में एक भी रूप नहीं आया। इतना ही नहीं, संस्कृत से उधार लिये गये शब्द इन भाषाओं में उसी रूप में व्यवहृत होते हैं जिस रूप में विदेशी शब्द और इन भाषाओं के शब्द-रूप भी संस्कृत व्याकरण का अनुसरण नहीं करते। उदाहरणार्थ हिन्दुस्तानी 'घोड़ा' शब्द का तिर्यक रूप होगा 'घोड़े' क्योंकि यह तद्भव शब्द है, किन्तु तत्सम शब्द 'राजा' का तिर्यक में परिवर्तन न होगा। समस्त आधुनिक भाषाओं में क्रिया के रूप में परिवर्तन आवश्यक है, किन्तु विभिन्न कारकों में, संज्ञा शब्द के रूप में परिवर्तन आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि तत्सम शब्द क्रियारूप में व्यवहृत नहीं होते। यदि ऐसा करना आवश्यक प्रतीत हुआ तो यह कार्य किसी अन्य तद्भव क्रिया की सहायता से सम्पन्न किया जाता है। दृष्टान्त के लिए तत्सम क्रिया-पद 'दर्शन' को लिया जा सकता है। यदि हम इसका प्रयोग 'वह देखे' के अर्थ में करना चाहें तो हम 'दर्शने' नहीं कह सकते, वरन् इसके लिए हमें एक मिश्रित वाक्य 'दर्शन करे' कहना होगा। दूसरी ओर समस्त आधुनिक भाषाओं में यह आवश्यक नहीं है कि संज्ञाशब्दों के रूप संश्लेषात्मक ढंग से चलाये जायँ। उधार लिये हुए संज्ञा-शब्दों के रूप तो सदैव विश्लेषात्मक ढंग से ही चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार तत्सम संज्ञा-पद (जिनका रूप विश्लेषात्मक पद्धति पर चलता है) आधुनिक भाषाओं में प्रायः व्यवहृत होते हैं और उच्चस्तरीय साहित्यिक शैली में इनका अत्यधिक प्रचलन है। यद्यपि इस सार्वभौम सिद्धान्त के कतिपय अपवाद भी हैं किन्तु मोटे तौर से इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भारतीय आर्य-भाषाओं के संज्ञाशब्द तो तत्सम, अर्धतत्सम अथवा तद्भव हो सकते हैं किन्तु इनके क्रिया-पद निश्चित रूप से तद्भव ही होंगे।

पिछली शती से मुद्रणकला के प्रसार तथा शिक्षा के प्रचार से कतिपय भाषाओं में तत्सम शब्दों के प्रयोग का एक फैशन सा चल पड़ा है। इसकी तुलना जान्सनीय अँग्रेजी की शैली से की जा सकती है जिसमें सैक्सन शब्दों की प्रचुरता रहती है। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में लिखित एक बँगला की पुस्तक के शब्दों की वास्तविक गणना करके यह दिखलाया गया है कि उसमें विशुद्ध संस्कृत शब्दों की संख्या अट्ठासी प्रतिशत है और उनमें से प्रत्येक शब्द अनावश्यक है क्योंकि उसके स्थान पर प्रचलित घरेलू शब्दों का व्यवहार किया जा सकता था। इसका परिणाम भी बहुत बुरा हुआ है। भाषा यहाँ दो वर्गों में विभाजित हो गयी है। इनमें से एक तो सर्वसाधारण द्वारा ग्राह्य भाषा है और दूसरी साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग मुद्रित पुस्तकों में होता है और जो

संस्कृत न जाननेवालों के लिए दुर्बोध है।[१] इस प्रकार अधिकांश जनता का साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु साहित्य की रचना करनेवालों के लिए यह साधारण सी बात है। जिस प्रकार देश के अधिनियमों का न जानना अनभिज्ञ लोगों का ही दोष है, उसी प्रकार जनता के लिए इस प्रकार की भाषा में लिखित साहित्य यदि दुर्बोध है तो अन्ततः यह उसी का दोष है। जैसा कि सर अथेल्स्टेन बेन्स ने अपनी सन् १८९१ की जनगणना की रिपोर्ट में कहा है—बँगला के संस्कृतगर्भित होने का कारण अंग्रेजों का हुगली में आबाद होना है क्योंकि इसी के परिणामस्वरूप पूर्वी भारत में विद्वत्ता एवं ज्ञान का पुनरुत्थान हुआ। मुगल-शासन-काल में जनता तथा पाण्डित्य की उपेक्षा के कारण जनभाषा या तो अपूर्ण या गँवारू थी, या गलती से उसे ऐसा मान लिया गया था। अँग्रेजी शासनकाल में जनभाषा के तन्तुओं को सुदृढ़ करने की आवश्यकता थी किन्तु इसके बदले उस समय की शिक्षा के एक मात्र केन्द्र कलकत्ते में संस्कृत के पुराने और कमजोर ढाँचे को अपनाया गया और इसी से शब्द लेकर पारस्परिक व्यवहार के लिए भाषा तैयार की गयी। स्विफ्ट का कथन है कि जो दूसरों के अनुदान पर निर्भर करता है वह सदैव निर्धन रहता है और भाषा के रूप में बँगला की ठीक यही दशा हुई। उसमें सदैव संस्कृत से ऐसे शब्द आते रहे जिन्हें वह पचा नहीं पाती और इस कारण उसका विकास अवरुद्ध हो गया। इस सम्बन्ध में बीम्स की उपमा तो और सुन्दर है। उनके अनुसार बँगला एक वयस्क बालक के समान है जो उस समय भी अपनी माँ का अंचल थामे हुए है तथा उसकी सहायता का इच्छुक है जब उसे स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले कुछ वर्षों से कतिपय अत्यन्त उत्कृष्ट बँगला लेखकों ने अपनी भाषा की इस कमजोरी का अनुभव किया है और गत पच्चीस वर्षों से ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है जिनमें संस्कृत के उन भारी-भरकम शब्दों का परित्याग किया गया है जो उसकी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध किये हुए थे। यह बड़ा आशाप्रद शकुन है किन्तु अब भी बहुत कुछ करना शेष है। संस्कृत से शब्द उधार लेने के सम्बन्ध में बँगला में बड़ा मोह है और तब तक इसमें देशानुकूल मनोहर एवं ओज-

१. And don't confound the language of the nation,
With long tailed words in 'osity' and 'ation'

J. H. Frere, The Monks and the Giants

[साधारण शब्दों के स्थान पर कठिन शब्दों का प्रयोग करके राष्ट्र की भाषा दुर्बोध न बनाओ]

पूर्ण रचना सम्भव नहीं है जब तक कोई महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति उत्पन्न होकर उसे इस इन्द्रजाल से मुक्त नहीं करता। अन्य आधुनिक भाषाएँ, विशेषतया हिन्दी, इसी प्राणघातक दिशा की ओर अग्रसर हो रही हैं। आजकल हिन्दीसाहित्य का केन्द्रस्थान बनारस (वाराणसी) है और यहाँ संस्कृत के पण्डितों का प्रभुत्व है। किन्तु बँगला की भाँति हिन्दी को इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वह संस्कृत का मुँह देखे। जिन बोलियों से हिन्दी का उद्भव हुआ है वे गत पाँच सौ वर्षों से स्वयं इतनी समर्थ रही हैं कि बाह्य सहायता के बिना ही ये किन्हीं भी ऐसे विचारों को जो मानव-मस्तिष्क में आ सकते हैं स्पष्टतया प्रकट कर सकती हैं। इसका अपना शब्द-समूह विशाल है और इसमें सूक्ष्म विचारों को प्रकट करने की पूर्ण शक्ति है। इसके प्राचीन साहित्य में कल्पना की ऊँची उड़ान तथा ऐसी धार्मिक भावनाओं की ओजपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है जिनका प्रादुर्भाव एशिया में हुआ था। इसमें ऐसे दर्शन तथा अलंकार सम्बन्धी ग्रंथों की रचना हुई है जिनमें संस्कृत के महान् लेखकों की भाँति ही, अति सूक्ष्म दृष्टि से, विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इन ग्रंथों में कठिनाई से ऐसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिन्हें शताब्दियों से मान्यता न प्राप्त हो। यद्यपि हिन्दी का शब्द-समूह इतना सम्पन्न है और उसमें भावों की अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी से कम क्षमता नहीं है तथापि इसमें इधर ऐसी पुस्तकों को प्रणयन करने का फैशन हो गया है जिनका उत्तर भारत के लाखों लोग उपयोग नहीं कर सकते और जिनमें लेखकों ने ऐसा पाण्डित्य प्रदर्शित किया है जिसका आनन्द संस्कृत जाननेवाले थोड़े पण्डित ही ले सकते हैं। इतने पर भी जब कभी दो विद्वान् आपस में बातें करते हैं तो वे एक भाषा का प्रयोग करते हैं किन्तु जब उनमें से कोई एक दूसरे को पत्र लिखता है तो वह दूसरी भाषा का प्रयोग करता है। इस सम्बन्ध में विचार करते हुए पिछली शती के अन्तिम भाग के सर्वश्रेष्ठ लेखकों में से एक ने, जो स्वतः बनारस के एक विद्वान् प्राध्यापक थे किन्तु जो अत्यन्त संस्कृतगर्भित भाषा के कट्टर विरोधी थे, अपनी अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है—"जब हिन्दी का लेखक हाथ में कलम लेता है तब वह संयमहीन होकर संस्कृत-सुरा का पान करने लगता है।" दुर्भाग्यवश अंग्रेजों का अत्यधिक शक्तिशाली प्रभाव, बहुत दिनों तक संस्कृत-प्रेमी लोगों के पक्ष में रहा है। इस संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग मिशनरियों ने अति विस्तृत रूप में किया है और पिछले कुछ वर्षों तक बाइबिल के समस्त अनुवाद इसी में होते रहे। उपर्युक्त प्राध्यापक महोदय की भाँति ही कतिपय अन्य भारतीय विद्वान् भी (तद्भव शब्दों से युक्त) विशुद्ध हिन्दी के पक्ष में खड़े हुए, किन्तु शक्तिशाली भ्रान्त प्रयत्नों के समक्ष उन्हें बहुत कम सफलता मिली। यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि विज्ञान तथा कलासम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करते समय

संस्कृत का प्रयोग आवश्यक है। इस तर्क में जान है और मैं इसे स्वीकार करता हूँ। किन्तु मेरा यह मत है कि संस्कृत से उधार लेने की क्रिया यहीं समाप्त भी कर देनी चाहिए। यदि कतिपय लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक नेतृत्व के लिए तैयार हो जायँ तो आज भी हिन्दी को बँगला के दुर्भाग्य से बचाया जा सकता है। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि इस प्रश्न से सम्बन्ध रखनेवाले शिक्षाधिकारियों द्वारा यह दूरदर्शितापूर्ण कार्य किया जा रहा है।

द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव

पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत में प्रवेश करनेवाले आर्य प्रारम्भिक युग में द्रविड़ों के सम्पर्क में आये। इन आगन्तुकों ने उनसे अन्तर्जातीय विवाह किये तथा इनके अनेक देवताओं और रीति-रिवाजों को अपना लिया। भाषा के क्षेत्र में आर्यों ने द्रविड़ों के कुछ शब्दों को ग्रहण किया। लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व साधारणतः लोगों की यह धारणा थी कि द्रविड़ भाषा के शब्दों को अधिक संख्या में अपनाया गया। इसके बाद पासा पलटा और दृढ़तापूर्वक इस बात का समर्थन किया जाने लगा कि इन भाषाओं से कुछ नहीं लिया गया। मेरा अपना विचार है कि द्रविड़ भाषा से आगत शब्दों के सम्बन्ध में जो इधर विद्वानों के विचार हैं उनसे कहीं अधिक शब्द आये, किन्तु दूसरी ओर यह विचार भी ठीक नहीं है कि ये शब्द व्यापक रूप से आये। विवाद की यह बात अब प्रधानतया मूर्धन्य वर्गों पर केन्द्रित हो गयी है। मूल आर्य (भारत-ईरानी) भाषा में इन वर्णों का अभाव है और भारतीय आर्यभाषाओं में, भारत की धरती पर ही ये अस्तित्व में आये। द्रविड़ तथा मुंडा भाषाओं में ये बहुत प्रचलित हैं और निश्चित रूप से ये इन भाषाओं में आर्य-भाषा से नहीं आये। वास्तव में विवाद का प्रश्न तो यह है कि भारतीय आर्यों ने उन्हें द्रविड़ों से ग्रहण किया या नहीं। दोनों में से कोई बात पूर्णतया सही नहीं है। विशुद्ध आर्यभाषा के शब्दों में भी इन (मूर्धन्य) वर्णों का प्रयोग हुआ है। इस सम्बन्ध में यह कथन अधिक संगत होगा कि अनेक दशाओं में, पड़ोस की अनार्य जातियों के प्रभाव से, आर्यभाषा के शब्दों के उच्चारण में परिवर्तन हो गया, क्योंकि इन अनार्य भाषा-भाषियों की संख्या आर्यों की अपेक्षा बहुत अधिक थी। परिवर्तन का शेष कार्य सादृश्य द्वारा पूरा हुआ। किन्तु आर्यभाषा में द्रविड़ भाषा से अनेक शब्द सीधे भी आये।[1] इन शब्दों के अन्तर्गत कतिपय नामवाची (ऐसे शब्द जिनका आर्यों

१. इस प्रकार के आगत शब्दों के मूल अर्थ में परिवर्तन हो जाता है और इनके

को मध्य एशिया में ज्ञान न था) तथा नित्य व्यवहार के शब्द थे। यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि जिन शब्दों में हमें द्रविड़ भाषा का प्रभाव अत्यल्प प्रतीत होता है वहाँ मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग प्रायः अस्थिर है। उदाहरणार्थ असमियाँ में लिखते समय तो दन्त्य तथा मूर्धन्य वर्णों का अन्तर स्पष्ट किया जाता है किन्तु उच्चारण में इसका सर्वथा अभाव है। उस समय जब एक ही भाव को द्योतित करने के लिए दो या तीन ढंग होंगे तो लोग स्वभावतः उसी शैली को अपनाते होंगे जिसका ध्वनि तथा अर्थ में आस-पास के अनार्य भाषा-भाषियों से साम्य होगा। उदाहरणस्वरूप प्राकृत में सम्प्रदान को अभिव्यक्त करने के कई ढंग थे। इनमें से एक था (प्राचीन संस्कृत 'कृते' से प्रसूत) 'कहुँ' अनुसर्ग। आधुनिक आर्यभाषाओं में इसके प्रचलित होने का अच्छा मौका था क्योंकि द्रविड़ भाषा में भी इसी के समान "कु" अथवा जिससे यह प्रसूत हुआ है, वह प्रत्यय मौजूद था। इस प्रकार इस "कु" प्रत्यय की उपस्थिति के कारण ही 'कहुँ' अनुसर्ग कई आर्यभाषाओं में सुरक्षित रह सका। यही आज "को" अनुसर्ग के रूप में हिन्दी में वर्तमान है। आर्येतर भाषा के, आर्यभाषाओं पर इसी प्रकार के अन्य प्रभावों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। यहाँ केवल दो ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। संस्कृत से द्वितीय प्राकृत में आते समय स्वरमध्यग कठोर व्यञ्जन सर्वप्रथम मृदु व्यञ्जन में परिवर्तित हुए। तदुपरान्त उनका लोप हो गया। उदाहरणार्थ प्राचीन संस्कृत का **'चलति'** (वह जाता है) पहले **'चलदि'** हुआ और बाद में **'चलइ'** में परिणत हो गया। द्वितीय प्राकृत की कतिपय विभाषाएँ तो अन्य प्राकृतों की अपेक्षा इस अवस्था में बहुत दिनों तक रहीं और उनमें मृदु व्यञ्जन सुरक्षित रहे। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो ये मृदु व्यञ्जन आधुनिक भाषाओं तक में चले आये। उदाहरण के लिए संस्कृत का **'शोक'** शब्द हिन्दी में **'सोग'** हो गया, **'सोअ'** नहीं। इस स्वरमध्यग व्यञ्जन की आकस्मिक संस्थिति को द्रविड़ भाषा के प्रभाव तथा उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है क्योंकि यह उसकी विशेषताओं में से है। कतिपय दर्दीय भाषाओं तथा बाहरी उपशाखा की कुछ भारतीय आर्यभाषाओं—मुख्यतः कश्मीरी, सिन्धी तथा बिहारी—में, अन्तिम स्वर—**'इ'** अथवा **'उ'** का लोप नहीं होता, जैसा कि भीतरी उपशाखा की भाषाओं में होता है, वरन् ये साधारणतः प्रचलित हैं पर इनका अल्प अथवा अर्धमात्रिक उच्चारण

अर्थ प्रायः घृणास्पद हो जाते हैं। उदाहरणार्थ द्रविड़ भाषा में 'पिल्लई' का अर्थ 'पुत्र' होता है किन्तु जब यही शब्द भारतीय आर्यभाषा में आता है तो इसका अर्थ 'पिल्ला' अर्थात् कुत्ते का बच्चा हो जाता है। ऐसी अवस्था में यही आशा भी की जाती है।

होता है। उदाहरणार्थ संस्कृत का **'मूर्ति'** भीतरी उपशाखा की हिन्दी में **'मूरत'** हो जाता है किन्तु विहारी में यह **'मूरति'** रूप में मिलता है। यह भी द्रविड़ भाषाओं की एक विशेषता है।

मुण्डा भाषाओं का प्रभाव

भारतीय आर्यभाषाओं पर मुण्डा भाषाओं का इस प्रकार का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। ये भाषाएँ, आर्यों की विजय के पूर्व ही, गंगा के मैदान में द्रविड़ों द्वारा समाप्त कर दी गयी थीं। किन्तु प्राचीन मुंडा तथा आस्ट्रो एशियाई भाषाओं के कतिपय शब्द संस्कृत में मिलते हैं। इनमें से कुछ तो वस्तुओं के नाम हैं, जैसे—पान, रुई, सूती कपड़े तथा बाँस के तीर के नाम। ये वस्तुएँ आर्यों के लिए नयी थीं।[1] इनके अतिरिक्त कतिपय भौगोलिक नाम भी उनसे ग्रहण किये गये, जैसे कोसल, तोसल, कलिंग, त्रिलिंग आदि।[2] वर्तमान युग में मुंडा भाषाएँ मैदानी प्रदेश के दक्षिणस्थित वन्य प्रदेशों तक ही सीमित हैं। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है,[3] मध्य हिमालय की तिब्बती-बर्मी भाषाओं में, पश्चिम में पंजाब के कनावर नामक स्थान तक इनके चिह्न मिलते हैं। आधुनिक आर्य भाषाओं में जो बीस-बीस करके गणना होती है वह भी मुण्डा का ही अवशेष है। भारतीय आर्य भाषाओं की अंक-प्रणाली निश्चित रूप से दशमलव पद्धति पर है। गणना के लिए कौड़ी शब्द का भी प्रयोग होता है जो सम्भवतः मुण्डा शब्द है। बीस वस्तुओं की कोड़ी होती है और गंगा के काँठे के अशिक्षित लोग बड़ी संख्याओं के लिए इसका प्रयोग करते हैं। उदाहरणस्वरूप बावन की संख्या को वे "दो बीस और बारह" अथवा "दो कौड़ी बारह" के रूप में प्रकट करते हैं। बीस के हिसाब से गिनना मुण्डा भाषाओं की एक विशेषता है। प्राचीन काल में गंगा के पूर्वी मैदान में मुण्डा जाति अत्यधिक शक्तिशाली थी और विहार की पूर्वी बोलियों पर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। यहाँ क्रियापदों का रूप अत्यधिक जटिल

१. देखो 'Bulletin de la Societe de Linguistique de Paris XXIV (१९२४) पृ० २५५ तथा उसके आगे और XXV (१९२४) पृ० ६६ तथा उसके आगे, Dr. J. Przyluski के लेख।

२. देखो Professor Sylvain Levi, Pre-aryen et Pre-dravidian danl Inde, in J. A. C.C III (१९२३) पृ० १ तथा उसके आगे।

३. देखो इसी पुस्तक के पृ० ६३ तथा पृ० १००, १०१

होता है क्योंकि यह कर्म के लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित होता है। उदाहरण-स्वरूप "मैं तुम्हें मार रहा हूँ" और "मैं उसे मार रहा हूँ" में "मारना" क्रिया के रूप दोनों में भिन्न-भिन्न होंगे। ये परिवर्तन मूलतः आर्य भाषा के हैं और पश्चिमोत्तर भारत की भाषाओं में भी इसी के समान रूप मिलते हैं किन्तु क्रियापदों के रूप मुण्डा की भाँति होते हैं।[1]

भारत-चीनी भाषाओं का प्रभाव

भारतीय आर्य-भाषाओं के शब्द-समूहों पर भारत-चीनी भाषाओं का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। केवल असमियाँ तथा पूर्वी बंगाल की भ्रष्ट बँगला में ही यह प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनमें कतिपय तिब्बती तथा आहोम भाषा के शब्द मिलते हैं। तिब्बती-बर्मी भाषा के प्रभाव से, असमियाँ में मूर्धन्य वर्णों का द्रविड़ उच्चारण समाप्त होता जा रहा है। इस भाषा में कुछ संज्ञाओं में संयुक्त होनेवाले सर्वनामीय प्रत्यय, यद्यपि असंदिग्ध रूप से आर्य-मूल के हैं, किन्तु सम्भवतः वे तिब्बती-बर्मी प्रभाव के कारण ही आये हैं। पड़ोस की आर्य-भाषाओं में संज्ञा के साथ इनका प्रयोग समाप्त हो चुका है किन्तु तिब्बती-बर्मी भाषाओं (जहाँ एक वर्ग की संज्ञा के साथ उपसर्ग का ही प्रयोग होता है, परसर्ग प्रत्यय का नहीं) के आदर्श के ही कारण ये असमियाँ भाषा में आज भी प्रचलित हैं। मेरा विचार है कि तिब्बती-बर्मी भाषाओं के प्रभाव के अन्य प्रकार के अनेक उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं। संस्कृत में अतीत काल को प्रकट करने के दो ढंग थे। "मैंने उसे मारा" अथवा "वह मेरे द्वारा मारा गया", इसी प्रकार "मैं गया" अथवा "मेरे द्वारा चला (जाया) गया"। इन दोनों ढंगों से हम संस्कृत में एक ही बात कह सकते हैं। आधुनिक भाषाओं में केवल दूसरी अर्थात् कर्मवाच्य की पद्धति ही प्रचलित है। किसी भी आधुनिक भाषा में "मैंने उसे मारा" अथवा "मैं गया" नहीं कहा जाता किन्तु सभी में "वह मेरे द्वारा मारा गया" अथवा "मेरे द्वारा चला (जाया) गया" ही कहा जाता है। संस्कृत में एक तीसरी पद्धति भी थी जिसका प्रयोग केवल अकर्मक क्रियाओं में होता था। यह भावे प्रयोग था जहाँ कि "मैं गया" के बदले "मेरे द्वारा चला (जाया) गया" प्रयुक्त होता था। संस्कृत में, सकर्मक क्रियाओं में यह प्रयोग नहीं चलता था किन्तु आधुनिक आर्यभाषाओं में तो इन क्रियाओं में भी यह प्रयोग बहुप्रचलित है।

१. इस सम्बन्ध में मुण्डा क्रियापदों के विषय में पृ० ६७, ६८ पर पीछे जो कहा गया है उसे देखो।

विभाषा का यह विभाजन शब्द-समूह पर नहीं अपितु वाक्य में शब्दों के क्रम पर निर्भर है। गत शताब्दी में विशुद्ध हिन्दी में एक कहानी (रानी केतकी की कहानी) का प्रकाशन हुआ था। इसमें आदि से अन्त तक एक भी फारसी शब्द का व्यवहार नहीं हुआ था तथापि हिन्दू लेखक इसकी भाषा उर्दू ही मानते हैं क्योंकि इसके वाक्यों का गठन फ़ारसी व्याकरण की शैली पर है। इसका लेखक एक मुसलमान था जो अपनी पाठ-शाला के दिनों में मौलवियों द्वारा पढ़ाये गये मुहावरों का परित्याग न कर सका।

अन्य भाषाओं ने भी भारतीय आर्य्य भाषाओं के शब्द-समूह की वृद्धि में योगदान किया है। इनमें से पुर्तगाली, डच तथा अंग्रेजी मुख्य हैं। यद्यपि नित्य व्यवहार के अनेक शब्द इन भाषाओं से लिये गये हैं तथापि आधुनिक आर्यभाषाओं पर इनका बहुत कम प्रभाव है। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, मुख्यतः रेलवे कर्मचारियों तथा सैनिकों के कारण निरन्तर बढ़ रहा है। किसी भी भाषा पर फौजी छावनी की भाषा का प्रभाव विस्तृत रूप से पड़ता है।

तेरहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाएँ—बाहरी उपशाखा

पश्चिमोत्तर समुदाय

यहाँ पृष्ठ २२२ पर दी गयी सूची के अनुसार भारतीय आर्य भाषाओं के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार किया जाता है। यह कार्य बाह्य उपशाखा की भाषाओं और उनमें भी पश्चिमोत्तर समुदाय से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं से प्रारम्भ किया जाता है।

इस समुदाय में मोटे तौर पर सिन्धु नदी के काँठे की पेशावर से समुद्र तक अथवा पश्चिमी पंजाब और सिन्ध के क्षेत्र की भारतीय आर्य-भाषाएँ आती हैं। यह क्षेत्र पेशावर से हजारा जिले के उत्तर-पूर्व तथा पूर्व स्थित प्रदेशों तक भी प्रसरित है। इसके उत्तर तथा उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में बाहरी उपशाखा दर्दीय भाषाओं के सम्पर्क में आती है। इसके पश्चिम में ईरानी-पश्तो है और दक्षिण में यह अरब सागर तक जाती है। यह केवल पूर्व में ही अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं के सम्पर्क में आती है। ये

पश्चिमोत्तर-समुदाय

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
लहंदा	७०,९२,७८१	५६,५२,२६४
सिन्धी	३०,६९,४७०	३३,७१,७०८
योग	१,०१,६२,२५१	९०,२३,९७२

हैं, क्रमशः उत्तर से दक्षिण की, पंजाबी, राजस्थान की मारवाड़ी उपभाषा और गुजराती। इन तीनों का ही भीतरी उपशाखा से सम्बन्ध है। किसी समय इस सम्पूर्ण क्षेत्र में दर्दीय भाषाएँ बोली जाती थीं जिनके चिह्न अभी तक सिन्धी और लहँदा भाषाओं में मिलते हैं। किन्तु दर्दीय भाषा के इस प्रभाव के होते हुए भी ये दोनों ही स्पष्टतः बाहरी उपशाखा की भाषाएँ हैं और पूर्वी भारत की बाहरी उपशाखा

की भाषाओं से इनका जितना सम्बन्ध है उतना ही पंजाबी और राजस्थानी में इस सम्बन्ध का अभाव है।[१]

आज जो प्रदेश पश्चिमी पंजाब के रूप में वर्तमान है उसे महाभारत में असभ्य तथा बर्बर कहा गया है और उसे भारतीय आर्य-सभ्यता की सीमा से पूर्णतया बाहर बतलाया गया है। इसमें तथा वर्तमान सिन्ध प्रदेश में तीन राज्य सम्मिलित थे। ये थे—सुदूर उत्तर का गांधार, सिन्धु के निचले भाग का केकय राज्य तथा उसके और भी नीचे का सिन्धु-सौवीर राज्य। इस दोष के होते हुए भी, जिसका आधार धार्मिक असहिष्णुता थी क्योंकि अति प्राचीन काल से ही पश्चिमी पंजाब बौद्ध-धर्म का केन्द्र था, यह निश्चित है कि प्रायः ६०६ ई० पू०, गांधार की राजधानी तक्षशिला में भारत का सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय था। इस विश्वविद्यालय के निकट ही, शालातुर में, संस्कृत के प्रख्यात वैयाकरण पाणिनि का, ईसा-पूर्व चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी में जन्म हुआ था। उन दिनों केकय प्रदेश भी अपनी विद्वत्ता के लिए विख्यात था। छान्दोग्य उपनिषद् (५–११) में बतलाया गया है कि किस प्रकार पाँच प्रकाण्ड वेदान्ती कठिन प्रश्नों के साथ एक ब्राह्मण के पास आये जिनका उत्तर वह न दे सका। उसने उन्हें केकय देश के क्षत्रिय नरेश अश्वपति के पास भेजा जिसने एक दूसरे सोलोमन की भाँति उनकी समस्त कठिनाइयों का समाधान कर दिया।

पश्चिमी पंजाब, सदैव से बाह्य आक्रमणकारियों के लिए उत्तर तथा पश्चिम की ओर से खुला था। प्रायः सर्वमान्य विवरणों के अनुसार आर्यों ने भारत में उन्हीं मार्गों से प्रवेश किया था। दूसरा आक्रमण, जिसका इतिहास में उल्लेख मिलता है, महात्मा बुद्ध के थोड़े ही समय बाद, ईरान के दारा प्रथम (५२१–४८५ ई० पू०) ने किया था। हेरोडोटस के अनुसार उसने इसे जीतकर दो क्षत्रपियों (क्षत्रप-राज्यों) में विभाजित कर दिया था। इनमें से एक तो गांधार का क्षत्रप-राज्य था (हेरोडोटस ३–९१); और दूसरा सिन्धु काँठे के निवासियों का बीसवाँ क्षत्रप-राज्य था[२] जिसका उन्होंने स्वयं निर्माण किया था। इसके आगे दारा का शासन न था, (३–१०१)। हेरोडोटस आगे लिखता है, 'जिन राष्ट्रों से हम परिचित हैं उनमें भारतीय राष्ट्र की जन-संख्या सबसे

१. इस सम्बन्ध में पूर्ण विवाद के लिए देखो Bulletin of the School of the Oriental Studies, Vol i Part iii पृष्ठ ७८ तथा उसके आगे।

२. इस सम्बन्ध में रावलिसन (Rawlinsons) का नोट, हेरोडोटस (Herodotus iii 98) के अनुवाद के लिए देखो।

अधिक है। ये लोग अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक कर देते हैं। यह कर ३६० स्वर्ण-मुद्राओं का है।' दारा और हेरोडोटस दोनों का भारत यही था (जब ये दोनों भारत की चर्चा करते हैं तो उनका तात्पर्य इसी भूभाग से होता है)। इस भूभाग पर दारा का इतना पूर्ण अधिकार था कि सिन्धु नदी के निचले भाग से होते हुए समुद्र की ओर उसने एक जलसेना भी भेजी थी जहाँ से उसके सैनिक पश्चिम की ओर अपने देश गये थे। यूनान के विरुद्ध जब उसके उत्तराधिकारी क्षयार्क (ज़र्कसीज़, ई० पू० ४८०) ने चढ़ाई की थी तो उसकी विशाल सेना में गांधार तथा पश्चिमी पंजाब के भी शिक्षित सैनिक थे। हेरोडोटस (७–६५, ६६) के अनुसार ये सैनिक सूती वस्त्र धारण किये हुए थे। इनके धनुष बेंत के थे और बाण भी बेंत के ही थे जिनके शिरोभाग पर लोहे की अनी जड़ी हुई थी। बेंत के बाणों का उल्लेख हमें इस बात का स्मरण दिलाता है कि बाँस से निर्मित बाण (सम्भवतः हेरोडोटस का इसी ओर संकेत है) भारत पर आक्रमण करनेवाले आर्यों के लिए नवीन वस्तु थी। इसी लिए उन्हें उनके लिए किरात (आस्ट्रो एशियाटिक) नाम ग्रहण करना पड़ा था।

सिकन्दर महान् का आक्रमण (३२७–३२५ ई० पू०) पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध तक ही सीमित था। सेल्यूकस निकेटर ने ३०५ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया और सिन्धु नदी को पार करके चन्द्रगुप्त महान् से सन्धि की। ईसा-पूर्व दूसरी शती में बैक्ट्रिया के दो ग्रीक राजवंशों ने पश्चिमी पंजाब में अपने राज्य स्थापित किये। इनमें से एक था इयुथिडेमस द्वारा स्थापित राज्य जो १५६ ई० पू० में समाप्त हो गया और दूसरा था इयुक्रेटाइडीज़ द्वारा स्थापित राज्य जिसका २० ई० पू० में अन्त हो गया। इनके बाद विभिन्न कालों में अन्य आक्रमणकारियों—सीदियनों, पार्थियनों, कुशाणों तथा हूणों—ने उत्तर-पश्चिमी मार्ग से भारत पर आक्रमण किया। अन्ततः उसी प्रवेशद्वार अथवा सिन्ध से होकर मुसलमान आक्रमणकारी, महमूद गज़नवी अथवा मुग़ल आये।

सम्पूर्ण पंजाब दो सर्वथा-भिन्न भारतीय आर्य भाषाओं की मिलन-भूमि है। इनमें से एक है प्राचीन बाहरी उपशाखा की भाषा जो यदि दर्द नहीं भी है तो भी दर्द भाषा से प्रभावित है। यह सिन्धु नदी के काँठे से पूर्व की ओर प्रसरित हुई है। दूसरी है मध्यदेश की प्राचीन भाषा जो आधुनिक पश्चिमी हिन्दी की जननी है तथा जो यमुना के काँठे से पश्चिम की ओर प्रसरित हुई है। पूर्वी पंजाब में प्राचीन लहंदा के साथ दर्दीय भाषा का प्रभाव समाप्तप्राय हो गया और इधर प्राचीन पश्चिमी हिन्दी ने अपना प्रभुत्व जमा लिया तथा इसके परिणामस्वरूप आधुनिक पंजाबी अस्तित्व में आयी। इसी प्रकार पश्चिमी पंजाब में प्राचीन पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव समाप्त हो गया और

प्राचीन लहँदा ने उधर अपना अधिकार जमा लिया। इसके फलस्वरूप आधुनिक लहँदा अस्तित्व में आयी। इस प्रकार आधुनिक लहँदा, मुख्यतः दर्दीय भाषा से प्रभावित बाहरी उपशाखा की भाषा है किन्तु इसमें प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के चिह्न भी वर्तमान हैं। पंजाबी में पश्चिमी हिन्दी के इस प्रकार के चिह्न अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हैं और ये हैं भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण। लहँदा को पश्चिमी हिन्दी के सम्पर्क से दूषित एक दर्दीय भाषा कहा जा सकता है जब कि पंजाबी दर्दीय भाषा से दूषित पश्चिमी हिन्दी का एक रूप है। इस भाषागत परिस्थिति से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक मिश्रित भाषा जो मुख्यतः बाहरी उपशाखा की थी तथा जो आंशिक रूप से दर्दीय थी, किसी समय सम्पूर्ण पंजाब में फैली हुई थी, किन्तु मध्यदेश के निवासियों ने जनसंख्या बढ़ जाने अथवा अन्य किसी कारण से धीरे-धीरे पंजाब पर अधिकार कर लिया और यहाँ के निवासियों पर आंशिक रूप से अपनी भाषा लाद दी। इसके अतिरिक्त, किसी भी अन्य प्रकार से पूर्वी पंजाब की मिश्रित भाषा की प्रकृति की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस सम्मिश्रण का एक परिणाम यह हुआ है कि पंजाबी और लहँदा के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींचना नितान्त असम्भव हो गया है। यदि सुविधा की दृष्टि से, हम मोटे तौर पर ७४° पूर्वी देशान्तर को सीमा-रेखा मान लें तो स्पष्ट रूप से लहँदा का अधिकांश भाग इसके पूर्व में तथा उसी रूप में पंजाबी का अधिकांश भाग इसके पश्चिम में पड़ेगा।

इसके ठीक प्रतिकूल, सिन्धी ने प्रायः अपनी बाहरी उपशाखा की भाषागत मूल विशेषता को सुरक्षित रखा है, किन्तु आंशिक रूप से इस पर भी दर्द भाषा का प्रभाव है। इसके पूर्व में राजस्थानी है न कि पंजाबी। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि यह पश्चिमी राजस्थान की मरुभूमि की भौगोलिक बाधा के कारण पूर्वीय आक्रमणों से सुरक्षित रही है। जहाँ कि आधुनिक लहँदा अदृश्य रूप से पंजाबी में विलीन हो जाती है वहाँ सिन्धी राजस्थानी में विलीन नहीं होती अपितु उससे नितान्त पृथक् रहती है। इस प्रकार की सीमावर्ती बोलियाँ केवल कृत्रिम मिश्रण हैं, न कि भाषागत परिवर्तन के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ।

यद्यपि बहुत प्राचीन समय से ही वह क्षेत्र जिसमें भारतीय आर्य-भाषाओं के पश्चिमोत्तरी समुदाय की भाषाएँ बोली जाती हैं, प्रायः विदेशी प्रभाव के अन्तर्गत रहा है, तथापि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि दर्दीय मिश्रित-बाहरी उपशाखा की भाषा पर इसका अत्यल्प प्रभाव पड़ा है। मुसलमानी शासन-काल में, इसके शब्द-समूह में अवश्य अनेक फारसी (अरबी) शब्द घुस आये हैं। वास्तविक दर्दीय भाषाओं में यूनानी भाषा के कतिपय शब्द आज तक सुरक्षित हैं, किन्तु लहँदा या सिन्धी में ऐसे शब्दों का अभाव है।

इन भाषाओं की भाषागत वंशावली के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा ही ज्ञात हो सका है। सिन्धी की सीधी पूर्वज अपभ्रंश व्राचड थी। इसके सम्बन्ध में भारतीय वैयाकरण मार्कण्डेय ने कुछ सामग्री उपस्थित की है। मार्कण्डेय इसके अतिरिक्त उसी प्रदेश में, उससे भिन्न रूप में बोली जानेवाली एक अन्य व्राचड-पैशाची का भी उल्लेख करते हैं और इस बात पर अधिक जोर देते हैं कि केकय-पैशाची वस्तुतः मुख्य प्राकृत है। हम यह पीछे (पृ० २००) देख चुके हैं कि पैशाची आधुनिक दर्द लोगों के पूर्वजों की भाषा थी। इस प्रकार पश्चिमोत्तर समुदाय की भाषाओं पर दर्दीय प्रभाव की संस्थिति इस साक्षी से सिद्ध हो जाती है कि किसी युग में पैशाची उसी क्षेत्र में बोली जाती थी।

लहँदा क्षेत्र में कौन अपभ्रंश प्रचलित थीं, इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। इस सम्बन्ध में मार्कण्डेय का केवल इतना ही कथन है कि इस क्षेत्र—प्राचीन गंधार तथा केकय—में जो साहित्यिक अपभ्रंश प्रचलित थी उसमें लगातार तथा दुहराने के अर्थ में एक ही शब्द दो बार प्रयुक्त होता था। गंधार प्रदेश के शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा में, सम्राट् अशोक (२५० ई० पू०) के दो प्रसिद्ध शिलालेख मिलते हैं जो उस समय की राज्यभाषा में लिखे गये हैं। यह पालि की ही एक विभाषा थी जिसमें अनेक ध्वन्यात्मक विशेषताएँ थीं। ये विशेषताएँ आज भी लहँदा, सिन्धी तथा दर्दीय भाषाओं में देखी जा सकती हैं।[1]

लहँदा

लहँदा पश्चिमी पंजाब की भाषा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसके तथा पंजाबी के बीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं है। ये दोनों (लहँदा तथा पंजाबी) भाषाएँ ७४° पूर्व देशान्तर के आस-पास, अदृश्य रूप से एक दूसरे में विलीन हो जाती हैं। लहँदा बोलनेवालों की संख्या ७० लाख है जो आस्ट्रिया की जन-संख्या के बराबर है। इसके अन्य नाम हैं—पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्ची तथा हिन्दकी। लहँदा का शाब्दिक अर्थ है 'सूर्यास्त' और व्यञ्जनात्मक अर्थ है पश्चिमी।[2] लहँदा को 'पश्चिमी

१. देखो, जे० आर० ए० एस० (J. R. A. S.) १९०४, पृ० ७२५

२. यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस शब्द का अर्थ संज्ञापद है, विशेषण नहीं, अतएव इसे हम स्त्री लिंग रूप में लहँदी नहीं लिख सकते, जैसा कि कतिपय लेखक चाहते हैं। पश्चिमी के लिए यहाँ शब्द लहँदा नहीं अपितु लेहन्दो-चड़ अथवा डिलाही है। यहाँ पर लहँदा विशुद्ध अंग्रेजी शब्द है और यह लहन्देदि बोली (अर्थात्

पंजाबी' नाम देने से यह ध्वनित होता है कि यह पंजाबी की ही एक विभाषा है किन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। इसके अतिरिक्त इस नाम के कारण उस समय और भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है जब हम पश्चिमोत्तरीय पश्चिमी पंजाबी तथा इसी प्रकार की नामवाली अन्य बोलियों का उल्लेख करते हैं। 'जटकी' से तात्पर्य है जाट लोगों की बोली अथवा भाषा जो लहँदा-क्षेत्र के मध्य भाग में एक बड़ी संख्या में आबाद हैं। किन्तु लहँदा बोलनेवालों में लाखों लोग ऐसे हैं जो जाट नहीं हैं और पूर्वी पंजाब के लाखों जाट लहँदा नहीं बोलते। उच्ची, उच्च कसबे की भाषा है। (नक्शे में यह नाम 'उच' या 'ऊच' रूप में मिलता है।) वस्तुतः यह लहँदा की मुल्तानी बोली का दूसरा नाम है। 'हिन्दकी' अथवा 'हिन्दको' हिन्दुओं (पठानों के अतिरिक्त लोगों) की भाषा है। लहँदा का यह नाम लहँदा के पश्चिमी क्षेत्र की भाषा होने के कारण पड़ा है। यहाँ इस्लाम धर्मावलम्बी पश्तो-भाषी पठान भी रहते हैं।

लहँदा की विभाषाएँ

लहँदा की विभाषाओं की संख्या बहुत अधिक है। सर्वेक्षण में प्रायः इसकी बाईस विभाषाओं का विवरण विभिन्न नामों के अन्तर्गत दिया गया है। ये दो मुख्य समुदायों

लहँदा की विभाषाएँ

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित (लहँदा)	१५,०७,८२७
मुल्तानी	२१,७६,९८३
खेत्रानी और जाफिरी	१४,५८१
थळी	७,५९,२१०
पश्चिमोत्तरी	८,८१,४२५
पूर्वोत्तरी	१७,५२,७५५
योग	७०,९२,७८१

पश्चिम की बोली) का परम्परागत संक्षिप्त रूप है। यहाँ पूर्वी पंजाबी की दृष्टि से इसका ऐसा नाम है।

में विभाजित है—पहला उत्तरी समुदाय, दूसरा दक्षिणी समुदाय। इनकी विभाजन-रेखा दक्षिण की नमक की पहाड़ियाँ हैं। जहाँ तक दक्षिणी समुदाय का प्रश्न है, हमें सबसे पहले नमक की पहाड़ियों के दक्षिणस्थित रेच्ना और जेच् के दोआब—अर्थात् शाहपुर, झंग, गुजरानवाला तथा गुजरात—के जिलों में बोली जानेवाली बहुसंख्यक विभाषाओं का उल्लेख करना है। सर्वेक्षण के अन्तर्गत शाहपुर ज़िले की भाषा परिनिष्ठित लहँदा के रूप में ली गयी है और अन्य ज़िले इससे संयुक्त हैं।

मुल्तानी, हिन्दकी, बहावलपुरी, सिराइकी हिन्दकी

रेच्ना दोआब के दक्षिण मुल्तानी विभाषा अथवा बोली का क्षेत्र है। (सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलनेवालों की संख्या २३,४२,९५४ थी।) यह मुल्तान, मुजफ्फरगढ़ तथा डेरा गाज़ी खाँ के ज़िलों में बोली जाती है। अन्तिम दो ज़िलों में यह हिन्दकी के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहावलपुर रियासत में भी बोली जाती है जहाँ इसे बहावलपुरी के नाम से पुकारा जाता है। इसके अतिरिक्त मुल्तानी, सम्पूर्ण सिन्ध प्रदेश में बिखरी हुई जातियों द्वारा बोली जाती है। यहाँ इसे 'सिराइकी हिन्दकी' कहते हैं। मुल्तानी परिनिष्ठित लहँदा तथा सिन्धी के बीच की भाषा है और यह अनेक बातों में सिन्धी के समान है।

थळी

उत्तर की ओर लौटने पर, सिन्ध सागर दोआब के आधे उत्तरी भाग तथा डेरा-इस्माइल खाँ जिले के समीपवर्ती प्रदेश में थळी अथवा थल या मरुस्थल की भाषा बोली जाती है। इसमें तथा शाहपुर ज़िले की परिनिष्ठित भाषा में अति निकट का सम्बन्ध है किन्तु उच्चारण में यह उससे भिन्न है और यह कई बातों में दर्द भाषा से सम्बन्ध रखती है।

खेत्रानी, जाफिरी

अन्ततः लग़ारी तथा सुलेमान पर्वत-मालाओं की सीमा के उस पार खेत्रान तथा जाफर लोगों में दो मिश्रित भाषाएँ प्रचलित हैं। ये दोनों ही डेरागाजी खां की लहंदा के बहुत अनुरूप हैं, किन्तु इनमें दर्द भाषाओं की अनेक विभाषाएँ भी मिलती हैं। जैसा कि इनकी भौगोलिक परिस्थिति से ही आशा की जा सकती है, इनमें बलूची भाषा के बहुत शब्द आये हैं।

नमक-पर्वतमाला तथा उसके उत्तरवर्ती प्रदेश की भाषाएँ दो उपसमुदायों—पश्चिमोत्तर उपसमुदाय तथा पूर्वोत्तर उपसमुदाय—में विभाजित हैं। ये एक-दूसरे से केवल शब्द-समूहों में ही नहीं, व्याकरण के रूपों में भी भिन्न हैं। व्याकरणीय रूपों में इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण भिन्नता सम्बन्ध-कारक के अनुसर्ग की है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी की भाँति इसका रूप—दा— है, किन्तु उत्तर-पूर्व में यह —ना—रूप में है जो इसका सम्बन्ध दर्द भाषा से जोड़ती है।

हिन्दको

पश्चिमोत्तर उपसमुदाय की भाषा, नमक-पर्वतमाला के मध्यभाग से प्रारम्भ होकर उत्तर में झेलम, कटक और हजारा जिले तक (जहाँ इसे हिन्दको नाम से पुकारा जाता है) चली जाती है। इसे पेशावर के हिन्दू भी बोलते हैं।

अवांकी, हिन्दको, पोठ्वारी

पूर्वोत्तर उप-समुदाय अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह नमक-पर्वतमाला के शेष भाग को न केवल पूर्वी किनारे तक वरन् पश्चिमी किनारे तक आच्छादित किये हुए है। यहाँ इसे अवान् क़बीले के लोग बोलते हैं। वहाँ से यह सिन्धु नदी को पार करके कोहाट में प्रवेश करती हुई हजारा तक चली जाती है, जहाँ यह हिन्दको नाम से विख्यात है। इसके उत्तर-पूर्व में यह पोठ्वारी नाम से प्रसिद्ध है। (सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलनेवालों की संख्या ४,२३,८०२ थी।) यह रावलपिण्डी, झेलम एवं गुजरात जिले के कुछ भाग में इसी नाम से विख्यात है। मरी की पहाड़ियों तथा हजारा जिले के कुछ भागों में यह अपनी विभाषाओं सहित बोली जाती है।

चिभाली, पुंछी

अन्तिम रूप में यह कश्मीर के दक्षिण की पर्वत शृंखलाओं के निचले प्रदेश की भाषा है। यहाँ यह चिभ् तथा अन्य जातियों और पुंछ रियासत की बोली है।

लहँदा तथा पंजाबी की तुलना

जहाँ तक शब्द-समूह का सम्बन्ध है, लहँदा पंजाबी से बहुत भिन्न है किन्तु इस विषय में यह सिन्धी के निकट है। इसके कतिपय शब्द कश्मीरी (जो एक दर्दीय भाषा है) में पाये गये हैं और इसमें ऐसे शब्द भी मिलते हैं जो किसी समय कश्मीरी में व्यवहृत होते थे किन्तु जो अब उसमें अप्रचलित हो गये हैं। पंजाबी से लहँदा का मुख्य अन्तर तो

इसके व्याकरण-सम्बन्धी रूपों में ही दृष्टिगोचर होता है। लहँदा में एक यथार्थ अथवा शुद्ध भविष्यत्काल है जिसका विशिष्ट वर्ण—स— है। (इसमें ष्य स्य—भविष्यत् काल है।) इसी प्रकार इसमें कर्मवाच्य—इ— प्रत्यय संयुक्त करके सम्पन्न होता है। इनमें से पहले का व्यवहार तो केन्द्रीय पंजाबी में बिलकुल नहीं होता और दूसरे का प्रयोग भी विरल ही होता है। लहँदा में सिन्धी तथा दर्दी भाषाओं से स्वतंत्र अनेक सर्वनामीय प्रत्यय तथा ऐसे अनुसर्ग व्यवहृत होते हैं जिनका पंजाबी में अभाव है। इसकी उत्तरी बोलियाँ दक्षिणी की अपेक्षा अधिक कठोर तथा सानुनासिक हैं और उनकी कतिपय अपनी विशेषताएँ हैं। इनमें से, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सम्बन्ध-कारक में—दा—के स्थान पर —ना—का प्रयोग, व्यंजनान्त संज्ञा-पदों का तिर्यक में व्यवहार तथा वर्तमानकालिक कृदन्त Present Participle के प्रयोग हैं।

साहित्य तथा लिपि

लोकगाथाओं तथा लोकगीतों के अतिरिक्त, लहँदा में अन्य कोई भी साहित्य नहीं है। चूँकि इसके बोलनेवालों में मुसलमानों की संख्या अधिक है, अतएव इसके लिखने के लिए प्रायः फारसी लिपि का व्यवहार होता है। कतिपय हिन्दू पंजाब तथा सिन्ध में सामान्यतया प्रचलित लंडा-लिपि[1] का भी व्यवहार करते हैं। यह लिपि बहुत अपूर्ण एवं दोषपूर्ण है। इसमें दो या तीन आदि स्वर हैं किन्तु अन्य स्वरों का समें अभाव है। इसके व्यंजन भी अस्पष्ट हैं और यह स्थान-स्थान पर बदलती जाती है। लिखनेवाले को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति के लिए इसका पढ़ना कठिन है और कभी-कभी तो लिखनेवाला भी इसे नहीं पढ़ पाता। सन् १८१९ में कैरी ने "उच्च" प्रदेश के आस-पास की बोली में बाइबिल का अनुवाद प्रकाशित कराया था। इसकी लिपि लंडा थी। उसने इस बोली को 'उच्ची' की संज्ञा दी थी।

सिन्धी

सिन्धी सिन्धु प्रदेश की भाषा है। सिन्ध प्रदेश सिन्धु नदी के उभय तटों पर २९° उत्तरी अक्षांश से प्रारम्भ होकर, उसके नीचे की ओर, समुद्रतट तक फैला हुआ है। उत्तर में सिन्धी लहँदा में विलीन हो जाती है जिससे कि इसका निकट का सम्बन्ध है।

१. इस शब्द का लहँदा शब्द से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जिसका कि अर्थ पश्चिम होता है।

सिन्ध प्रदेश में लहँदा की एक विभाषा सिराइकी हिन्दकी, पश्चिमी पंजाब से आगत बिखरी हुई जातियों द्वारा बोली जाती है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग साढ़े तेंतीस लाख है, जो न्यूनाधिक रूप में डेनमार्क की जनसंख्या के बराबर है। सिन्धी की छै स्वीकृत बोलियाँ हैं। ये हैं—विचोली, सिराइकी, थरेली, लासी, लाड़ी तथा कच्छी। इनमें से प्रथम सिन्ध के मध्य-भाग में बोली जाती है। यह परिनिष्ठित बोली है और इसमें साहित्य-रचना होती है। सिराइकी, वास्तव में विचोली का ही एक रूप है और इसे पृथक् बोली मानना उचित नहीं है। विचोली और इसमें एक मात्र अन्तर यह है

सिन्धी की बोलियाँ

	सर्वेक्षण
विचोली	१३,७५,६८६
सिराइकी	११,१२,९२६
थरेली	२,०४,७४९
लासी	४२,६१३
लाड़ी	४०,०००
कच्छी	४,९१,२१४
अनिर्णीत	७,०३१
योग	३२,७४,२१९

कि इसका उच्चारण बहुत स्पष्ट होता है। इसके शब्द-समूह में भी किंचित् भिन्नता है और कभी-कभी लोग भ्रमवश इसे तथा उसके पास ही बोली जाने वाली सिराइकी हिन्दकी को एक ही मान लेते हैं। सिन्धी में 'सिरो' शब्द का अर्थ किसी वस्तु का "सिर" होता है। इसका व्यंजनात्मक अर्थ होगा 'प्रतिस्रोत' (up stream) या 'उत्तरी'। यह अर्थ 'लाड़ु' अथवा निचले सिन्ध को ध्यान में रखकर किया गया है। सिन्धी लोगों के अनुसार सिराइकी पूर्ण शुद्ध भाषा है। एक प्रचलित सिन्धी मुहावरे में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'लाड़ु' का विद्वान् भी 'सिरो' में जाकर बैल बन जाता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव में 'सिरो प्रदेश' की सीमा भी सापेक्षिक ही है और स्थान के अनुसार इसमें अन्तर आता जाता है। सिन्धु के निचले भाग में रहने-वाले व्यक्ति के लिए 'सिरो' का क्षेत्र अधिक विस्तृत है और लाड़ु के निवासी के दृष्टि-

कोण से सिरो-क्षेत्र का, व्यावहारिक रूप में, विचोली अथवा सिन्ध के मध्यभाग से तात्पर्य है।

लासी, लाड़ी

लासी वस्तुतः सिन्धी का ही एक रूप है। यह लासबेला रियासत में बोली जाती है। यह विचोली एवं लाड़ी के बीच की कड़ी है। लाड़ी, लाड़ प्रदेश की बोली है और यह गँवारू और असभ्य मानी जाती है। किन्तु इसमें प्राचीन भाषा के बहुसंख्यक रूप उपलब्ध हैं और यह दर्दीय भाषाओं की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता का दिग्दर्शन कराती है। यह है, घोष—महाप्राण ध्वनि के हँकार के लोप की, जो अब विचोली में नहीं मिलती।

थरेली, कच्छी

थरेली तथा कच्छी दोनों मिश्रित बोलियाँ हैं। इनमें थरेली, थारु अथवा सिन्ध के रेगिस्तान के शिकारी तथा बहिष्कृत लोगों की बोली है। वस्तुतः यह सिन्ध तथा मारवाड़ की राजनीतिक सीमा की बोली है। यह सिन्धी तथा राजस्थानी के बीच की कड़ी है और ज्यों-ज्यों हम राजस्थान की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों इसके तथा राजस्थानी के कृत्रिम मिश्रण द्वारा अन्ततोगत्वा सिन्धी, राजस्थानी में विलीन हो जाती है।

दूसरी ओर कच्छी, सिन्धी और गुजराती का सम्मिश्रण है। यह कच्छ प्रदेश में बोली जाती है।

साहित्य तथा लिपि

सिन्धी में बहुत थोड़ा साहित्य है और इसमें कुछ ही पुस्तकें लिखी गयी हैं। इसकी मुख्य लिपि लंडा है जो सामान्यतया एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदल जाती है और जिसके पढ़ने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। यहाँ गुरुमुखी तथा नागरी लिपि का भी प्रयोग होता है किन्तु सिन्धी के उच्चारण की विशिष्टता के कारण, कतिपय नवीन ध्वनि-चिह्नों के साथ साधारणतः फारसी लिपि का ही व्यवहार किया जाता है।

सिन्धी का इतिहास

अपनी एकाकी स्थिति के कारण सिन्धी भाषा में अनेक ऐसी व्याकरण एवं ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ वर्तमान हैं जो अन्य भाषाओं से लुप्त हो चुकी हैं। इस प्रकार यह बाहरी उपशाखा का आदर्श उदाहरण है। प्राचीन काल में सिन्ध प्रदेश में पुराना

ब्राचड देश भी सम्मिलित था। यहीं के अपभ्रंश से सिन्धी की उत्पत्ति हुई है। आज भी इसमें अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो सैकड़ों वर्ष पूर्व ब्राचड अपभ्रंश में वर्तमान थीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दू वैयाकरणों ने ब्राचड देश में बोली जानेवाली एक पैशाची भाषा का भी उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि पिशाच लोग किसी युग में, ब्राचड अपभ्रंश बोलनेवालों के साथ-साथ वर्तमान सिन्ध में रहते थे। आज इन्हीं के वंशज सिन्धी भाषा बोलते हैं। पैशाची तथा दर्द की एक मुख्य विशेषता जो आज उनकी प्रतिनिधि भाषाओं एवं-बोलियों में मिलती है, यह है कि अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति इनमें स्वरमध्यग —त— का लोप नहीं होता और वह सुरक्षित रहता है। अन्य प्राकृतों में यह —त— पहले —द— में परिवर्तित हुआ और तदुपरान्त उसका लोप हो गया। यह प्रक्रिया न्यूनाधिक रूप में आज भी लहँदा, सिन्धी तथा पंजाबी में दृष्टिगोचर होती है। चूँकि पंजाबी की उत्पत्ति एक मिश्रित अपभ्रंश से हुई है, अतएव उसमें त-सहित तथा त-रहित; दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं किन्तु लहँदा तथा सिन्धी में निश्चित रूप से त-सहित रूप ही मिलते हैं। इस प्रकार हिन्दी 'सीया' (सीआ) के स्थान पर लहँदा में 'सीता' (सिन्धी में दूसरे रूप का प्रयोग होता है) शब्द प्रयुक्त होता है किन्तु पंजाबी में 'सीता' एवं 'सीआ' दोनों शब्द व्यवहृत होते हैं। इसी प्रकार हिन्दी 'किया' के स्थान पर लहँदा में 'कीता', सिन्धी में 'कीतो' रूप होते हैं किन्तु पंजाबी में इसके 'कीता'-एवं 'करिआ' दोनों रूप उपलब्ध हैं। हिन्दी 'पीया' (पीआ, शराब पीने के अर्थ में), लहँदा एवं पंजाबी में 'पीता' तथा सिन्धी में 'पीतो' हो जाता है। विशुद्ध भीतरी उपशाखा की हिन्दी जैसी भाषा में, जैसा कि ऊपर दिया जा चुका है, 'त' का लोप हो जायगा और इसके 'सीआ' (सीया), 'कीआ' (कीया) तथा 'पीआ' (पीया) रूप होंगे।[१]

१. यहाँ पर यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि यह मेरा सुझाव है कि लहँदा अथवा सिन्धी, पैशाची (अर्थात् दर्दीय) बोली से उद्भूत हुई हैं। चूँकि ब्राचड प्रदेश-में अपभ्रंश तथा पैशाची दोनों प्रचलित थीं, अतएव इससे हम यही परिणाम निकाल सकते हैं कि पिशाच लोग उसी जाति के नहीं थे जो कि स्थानीय अपभ्रंश बोलते थे। अतएव वे विदेशी थे और तर्क के आधार पर वे केकय लोगों में से थे। यदि हम यह बात मान लें कि पिशाच लोगों का मूल स्थान पामीर के नीचे कहीं था, तो वे लोग स्वात की घाटी से होते हुए सिन्धु, केकय एवं ब्राचड प्रदेश में आये होंगे। उनका यह आगमन उस समय हुआ होगा जब यहाँ के मूलनिवासी जिन्हें वे मूलस्थान पर मिले होंगे, भाषा

भूतकालिक कृन्दत का ल-प्रत्यय

दर्दीय भाषाओं में क्रिया के भूतकालिक कृदन्त का रूप, एक स्थान के अतिरिक्त कहीं भी विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करता। कोहिस्तानी की मैयाँ बोली में यह ल–प्रत्ययान्त है। उदाहरणार्थ 'कुट्', 'कूटना' या 'मारना' क्रिया का भूतकालिक कृदन्तीय रूप इसमें 'कुटगिल' होगा। इसके आकस्मिक उदाहरण हमें शिणा भाषा में भी मिल जाते हैं, किन्तु भीतरी उपशाखा की भारतीय आर्य भाषाओं अथवा लहँदा में इस प्रकार के कोई उदाहरण नहीं मिलते, यद्यपि सिन्धी में पुनः इसके रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ भूतकालिक कृदन्तीय रूप, साधारणतया—यो प्रत्ययान्त होता है, जैसे 'मारणु', मारना, धातु से 'मार्‌यो', मारा, रूप बना; किन्तु जब इस कृदन्त के विशेषण रूप पर बल देने की आवश्यकता पड़ती है तो अन्तिम–ओ बदलकर 'लु' हो जाता है, तब इसका रूप बनता है—'मार्‌यलु' अर्थात् "वह व्यक्ति जो मारे जाने की दशा में है।"

गुजराती भीतरी उपशाखा की भाषा है, किन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, यह बाहरी उपसमुदाय की एक अन्य भाषा पर अध्यारोपित की गयी है, उसके लक्षण इसमें अभी

के विकास की उस अवस्था में होंगे, कि वे 'पीता' तथा उसी प्रकार के शब्दों में 'त्' को सुरक्षित रखे होंगे। सिन्धी तथा लहँदा में त् वर्ण लुप्त नहीं हुआ है, जब कि स्वाभाविक विकास के कारण पूर्व में त् लुप्त हो गया है। इसका कारण सिन्धी और लहँदा पर विदेशी पिशाच लोगों की भाषा का प्रभाव हो सकता है। इस प्रकार का प्रभाव नूतनता की दिशा में न होकर सुरक्षा की दिशा में अधिक होगा। अतएव हमें पैशाची की अन्य विशेषताओं के अवशेष (जैसे द् का त् में परिवर्तित हो जाना) नहीं मिलते। क्योंकि ये मूल भाषा के लिए विदेशी रहे होंगे। मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह विशुद्ध सिद्धान्त है; किन्तु त् का इन भाषाओं में सुरक्षित रहने का कारण किसी अनार्य भाषा के अतिरिक्त अन्य नहीं है, अतएव ऊपर की व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कोई चारा भी नहीं है। स्थान तथा ध्वनि सम्बन्धी नियमों के अनुसार पैशाची ही एक ऐसी भाषा है जो ऐसा करने में समर्थ है। यह लिखने के बाद डाक्टर पी० टेडेस्को (Dr. P. Tedesco) ने त् के सम्बन्ध में इससे भिन्न एक दूसरी व्याख्या जे० ए० ओ० एस० (J. A. O. S. XLIII, p 385) तथा उसके आगे दी है। इस लेखक का लेख भी जे० आर० ए० एस० (J. R. A. S. 1925), पृ० २२२ तथा उसके आगे देखें।

भी देखे जा सकते हैं। इनमें से एक तो यह ल—प्रत्यय ही है जो गुजराती में भी उसी रूप में व्यवहृत होता है जिस प्रकार सिन्धी में। यथा—'मारयो' या मारेल अर्थात् मारा। इसके और भी दक्षिण में, बाहरी उपशाखा की मराठी में, हम ल—प्रत्यय को

चित्र १५

एकमात्र भूतकालिक कृदन्त के 'मारिला', मारा रूप में पाते हैं। इसी प्रकार हम बाहरी उपशाखा की शेष अन्य भाषाओं में भी यह 'ल' प्रत्यय पाते हैं, यथा—उड़िया में 'मारिला', बंगला में 'मारिल', बिहारी में 'मारल्' तथा असमियाँ में 'मारिल्'। इस तरह यह ल—प्रत्यय न केवल सम्पूर्ण पूर्वीय भारतीय आर्य भाषाओं में ही प्रचलित है वरन् यह शृंखलारूप में एक बोली से दूसरी बोली में प्रवेश करता हुआ भारत के उस पार अरब सागर तक पहुँच जाता है। वहाँ से यह उत्तर की ओर गुजराती और सिन्धी को प्रभावित करता हुआ किन्तु लहँदा को लाँघता (छोड़ता) हुआ, यह हिन्दू कोहिस्तान के दर्दीय प्रदेश में पदार्पण करता है। इस प्रकार यह बाहरी उपशाखा की समस्त भाषाओं के प्रगाढ़ सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। यद्यपि असमियाँ तथा मराठी

एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं और कोई भी भाषा-भाषी एक-दूसरे की भाषा को समझने में पूर्णतया असमर्थ होगा तथापि कोई भी व्यक्ति डिब्रूगढ़ से बम्बई तक की अट्ठाईस सौ मील की यात्रा में और वहाँ से दर्दिस्तान तक उस अवस्था का उल्लेख न कर सकेगा जहाँ उसने एक भाषा के क्षेत्र से दूसरी भाषा के क्षेत्र में प्रवेश किया हो। फिर भी वह भारतीय महाद्वीप की आठ विभिन्न भाषाओं—असमियाँ, बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, सिन्धी, लहँदा और कोहिस्तानी तथा अन्य बहुत सी बोलियों—के क्षेत्र से गुजरा होगा।

(कच्छी गुजराती)

दक्षिण-पूर्व में सिन्धी कच्छी बोली से होती हुई गुजराती में विलीन हो जाती है। आगे चलकर, भीतरी उपशाखा के अन्तर्गत गुजराती के सम्बन्ध में लिखा जायगा। आधुनिक युग में गुजराती भीतरी उपशाखा की भाषा है किन्तु पंजाबी की भाँति ही वह उस क्षेत्र पर स्थानापन्न है जहाँ प्राचीन काल में बाहरी उपशाखा की भाषा प्रचलित थी। गुजराती को इस समय यहीं छोड़कर जब हम भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट के साथ-साथ, बम्बई से लगभग सौ मील उत्तर, पुर्तगाली उपनिवेश डमन के निकट पहुँचते हैं तब हम मराठी-क्षेत्र के सम्पर्क में आते हैं।

मराठी

मराठी का विस्तार अपनी बोलियों के सहित प्रायः सम्पूर्ण भारतीय प्रायद्वीप में है। यह लगभग एक करोड़ नब्बे लाख मनुष्यों की भाषा है जो स्पेन की जनसंख्या से बीस लाख कम है। बम्बई प्रान्त में यह दक्षिणी पठार के उत्तर में तथा उस भूमि की पट्टी में भी फैली हुई है जो घाट के पहाड़ों और अरब सागर के बीच में पड़ती है

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
मराठी*	१,८०,११,९४८	१,८७,९७,८३१

और गोआ से लगभग सौ मील दक्षिण की ओर प्रसरित है। यह बरार के अधिकांश भाग तथा हैदराबाद के निजाम राज्य के एक बड़े उत्तर-पश्चिमी भाग की भाषा है। यह मध्य प्रदेश के दक्षिणी भाग को पार कर (दक्षिण के उन स्थानों को छोड़ती हुई जहाँ की भाषा तेलुगु है) बस्तर रियासत के एक बड़े भाग को अधिकृत किये हुए है। यहाँ यह उड़िया की विभाषा भत्री के द्वारा उसमें विलीन हो जाती है। मराठी

के उत्तर में पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमशः गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र है। इनमें से प्रथम तीन भीतरी उपशाखा की भाषाएँ हैं और मराठी इनमें विलीन नहीं होती। इसके विपरीत इन भीतरी उपशाखा की भाषाओं तथा मराठी में अन्तर स्पष्ट है। दूसरी ओर मराठी की सबसे पूर्वी बोली वस्तर की हलबी का, पड़ोस की पूर्वी हिन्दी की विभाषा छत्तीसगढ़ी से इतना निकट का सम्बन्ध है कि यह कहना कठिन है कि वास्तव में यह किसकी विभाषा है।[१] दूसरे शब्दों में, मराठी हलबी के द्वारा पूर्वी हिन्दी में विलीन हो जाती है। इससे और पूर्व में यह उड़िया में अन्तर्भुक्त हो जाती है जो वस्तुतः बाहरी उपशाखा की भाषा है। हम यह देख चुके हैं कि जब सिन्धी में किसी क्रिया के विशेषणात्मक रूप पर जोर देने की आवश्यकता होती है तब उसके भूतकालिक कृदन्तीय रूप में ल–प्रत्यय संयुक्त किया जाता है। गुजराती में भी हम इसी रूप को कुछ विस्तार से पाते हैं किन्तु वहाँ यह प्रयोग सांततिक नहीं है। मराठी में अतीत काल व्यक्त करने के लिए, एकमात्र साधन के रूप में हम इस ल–प्रत्यय को पहली बार पाते हैं और वहाँ अतीत काल को प्रकट करने के लिए कोई अन्य वैकल्पिक साधन नहीं है। इसी प्रकार बाहरी उपशाखा की शेष अन्य भाषाओं में भी अतीत काल प्रकट करने के लिए एकमात्र यही साधन प्रयुक्त होता है।

मराठी में बलात्मक स्वराघात

एक विषय में मराठी में समस्त आर्य-भाषाओं से भिन्नता है। वैदिक युग की भाषा में प्रत्येक शब्द में सुर अथवा संगीतात्मक स्वराघात था। यह ठीक उसी रूप में था जिस रूप में हम भारत-चीनी भाषा के अनेक उदाहरणों में पाते हैं। यहाँ प्रत्येक शब्द में विशिष्ट ध्वन्यात्मक आरोह-अवरोह था। यह उस बलात्मक स्वराघात से सर्वथा भिन्न था जिससे हम अंग्रेजी में परिचित हैं। जहाँ वैदिक संस्कृत के बोलनेवाले
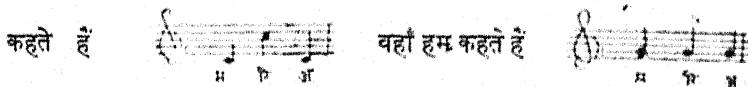
चित्र १६

मराठी में प्राचीन सुर (tone) के कुछ-कुछ अवशेष वर्तमान हैं, यद्यपि आज वे सुर

१. पीछे पृष्ठ ५५,५६ इस सम्बन्ध में देखो

नहीं हैं किन्तु ये निर्बल बलात्मक स्वराघात में परिणत हो गये हैं, जैसा कि हम 'मरिअ' के उच्चारण में आज-कल पाते हैं।[1]

मराठी शब्दसमूह

मराठी का साहित्य विशाल एवं लोकप्रिय है । इसके कवियों ने जन-भाषा में ही रचनाएँ की हैं और इन रचनाओं में उन्होंने शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मराठी भाषा तद्भव शब्दों से पूर्ण है। यद्यपि बाद के युग में महाराष्ट्र के विद्वानों ने तत्सम शब्दों के प्रयोग से भाषा की शैली को उच्च बनाने का उद्योग किया और उन्हें आंशिक सफलता भी मिली किन्तु इस कार्य में उन्हें इतनी अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी जितनी बँगला के विद्वानों को मिली थी। अन्य प्रदेशों की अपेक्षा महाराष्ट्र पर, तुर्कों के आक्रमण बहुत बाद में हुए और इन्हें विफल करने में भी यहाँ के लोगों को थोड़ी-बहुत सफलता मिली। इसका एक परिणाम यह हुआ कि फारसी से मराठी में बहुत कम शब्द आये। बीम्स के अनुसार मराठी चपल भाषा है और अपनी गठन के अनुसार यह अनेक अनुरणन एवं झंकृति-मूलक शब्दों का निर्माण कर लेती है। अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की अपेक्षा इसमें प्राकृत, अपभ्रंश, न्यूनता-बोधक तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों की संख्या अधिक है। मराठी के लिखने तथा छापे में प्रायः नागरी अक्षरों का व्यवहार होता है, किन्तु पत्रव्यवहार में कभी-कभी 'मोडी' लिपि चलती है। छत्रपति शिवाजी महाराज (सन् १६२७-१६८०) के मंत्री श्री बालाजी आवाजी ने नागरी लिपि में यत्किंचित् परिवर्तन करके तथा उसे शिरोरेखा-विहीन बनाकर 'मोडी' लिपि का आविष्कार किया था।

मराठी साहित्य

मराठी के सबसे प्राचीन लेखक जिनकी कृतियाँ आज भी उपलब्ध हैं, नामदेव

१. जे० आर० ए० एस० (J. R. A. S., 1916, 203) तथा उसके आगे के पृष्ठों में प्रो० टर्नर का 'द-इण्डो-जरमनिक एक्सेन्ट इन मराठी' (The Indo-germanic Accent in Marathi) शीर्षक लेख देखो। यहाँ पर मैंने जो उदाहरण दिया है वह मैक्समूलर के संस्कृत व्याकरण (Max. Muller's Sanskrit Grammar) में भी उदाहरण रूप में आया है। कतिपय भाषाओं जैसे बंगला में बलात्मक स्वराघात अन्तिम दो अक्षरों के आगे भी होता है।

तथा ज्ञानोबा हैं। इनका आविर्भाव काल १३वीं शती का अन्तिम चरण है और इन्होंने वैष्णव धर्म से प्रेरणाएँ ग्रहण की थीं। श्रीधर (जिनका समय १६वीं शती का अन्तिम भाग है) अपनी पुराणों की टीका के लिए प्रसिद्ध हैं। (श्रीधरकृत श्रीमद्भागवत की संस्कृत टीका का संस्कृत-साहित्य में विशिष्ट स्थान है।) किन्तु इन सबसे अधिक प्रख्यात थे सन्त तुकाराम या तुकोबा। ये शिवाजी के समकालीन थे और इन्होंने १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रचनाएँ की थीं। इनके विठोबा-सम्बन्धी अभंग (गेय पद) तो महाराष्ट्र के घर-घर में प्रचलित हैं। सन्त तुकाराम के सबसे प्रसिद्ध उत्तराधिकारी मोरो पन्त (सन् १७२०) हुए थे। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की ही तरह मराठी की प्रायः समस्त आरम्भिक रचनाएँ पद्य में ही उपलब्ध हैं, यद्यपि गद्य में लिखित यत्किंचित् महत्त्व की कथाएँ या इतिहास के ढंग के विवरण भी प्राप्त हैं।

मराठी की विभाषाएँ अथवा बोलियाँ

सर्वेक्षण में मराठी की उन्तालीस बोलियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ को ही बोली कहा जा सकता है; अधिकांश तो वस्तुतः परिनिष्ठित भाषा की शैली मात्र हैं जिनमें स्थानों तथा बोलनेवाली जातियों की भिन्नता के कारण अन्तर आ गया है। उदाहरणार्थ रत्नागिरि के उत्तर की कोंकणी प्रायः परिनिष्ठित मराठी के अनुरूप ही है किन्तु यहाँ के निवासियों के अनुसार यह दो विभाषाओं में विभक्त है। नमें से एक है ब्राह्मणों की कोंकणी तथा दूसरी मुसलमानों की। इन सभी सूक्ष्म भेदों का परीक्षण सर्वेक्षण के पृष्ठों में यथा-स्थान किया जा चुका है किन्तु यहाँ उनकी चर्चा करना स्पष्ट ही अप्रासंगिक प्रतीत होता है। यहाँ पर केवल चार विभाषाओं का उल्लेख ही पर्याप्त होगा। ये हैं—देशी, परिनिष्ठित कोंकणी, बरार तथा मध्यप्रदेश की मराठी एवं कोंकणी।

परिनिष्ठित कोंकणी

पूना के आसपास विशुद्ध देशी मराठी बोली जाती है। वस्तुतः यही परिनिष्ठित भाषा है। मराठा विजेताओं के साथ-साथ मराठी बहुत दूर तक फैली है और इसके बोलनेवालों के कई उपनिवेश, जैसे-बड़ोदा जो एक मराठा राज्य है (यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से यह गुजरात का अंग है), सागर तथा मध्यभारत के अन्य भागों में हैं। परिनिष्ठित कोंकणी वस्तुतः डमन तथा रत्नागिरी के उत्तरी भाग में बोली जानेवाली देशी का ही एक भेद है। इसके दक्षिण में, गोआ के निकटवर्ती प्रदेश में, वास्तविक

मराठी की विभाषाएँ

	सर्वेक्षण
देशी	६१,९३,०८३
परिनिष्ठित कोंकणी	२३,५०,८१७
मध्यप्रदेश तथा बरार की बोली	७६,७७,४३२
कोंकणी	१५,६५,३९१
अनिर्णीत	२,२५,२२५
योग	१,८०,११,९४८

कोंकणी बोली जाती है। परिनिष्ठित कोंकणी वस्तुतः (वास्तविक) कोंकणी तथा देशी के मध्य की बोली है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान में बदलती गयी है और सर्वेक्षण में इसकी अठारह विभिन्न बोलियों का वर्णन किया गया है।

बांकोटी, संगमेश्वरी, परभी

दक्षिण में परिनिष्ठित कोंकणी बांकोटी तथा संगमेश्वरी के रूप में वास्तविक कोंकणी के निकट पहुँच जाती है। ये दोनों बोलियाँ मध्य कोंकण में बोली जाती हैं। इनमें बांकोटी भाषा-भाषी मुसलमान हैं तथा इसके बोलनेवालों की संख्या १७८७ है।[1] संगमेश्वरी बोलनेवालों की संख्या १३,३२,८०० है। इसके और उत्तर में इस पर गुजराती का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है और इधर यह 'परभी' उपबोली का नाम धारण कर लेती है। इसके बोलने वालों की संख्या १,६०,००० है और इसे बम्बई, थाना तथा उत्तर में डमन तक के सम्पूर्ण मराठी भाषा-भाषी बोलते हैं।

कुणबी, कोळी

कुणबी उपबोली के बोलनेवाले प्रसिद्ध कुणबी जाति के लोग हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या ३,६८,००० है। इसी प्रकार कोळी उपबोली के बोलनेवाले बम्बई

१. उपबोलियों के बोलनेवालों की यहाँ जो संख्या दी गयी है, वह केवल सर्वेक्षण की ही संख्या है।

शहर, थाना, कोलाबा एवं जंजीरा के कोळी लोग हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या १,८९,१८६ है। परिनिष्ठित कोंकणी बोली में साल्सिट के पुर्तगाली मिशनरियों ने थोड़े बहुत साहित्य की भी रचना की है। सत्रहवीं शती में इन्होंने थाना ज़िले में प्रचलित बोली का व्याकरण भी तैयार किया था और इसी में बाइबिल का संक्षिप्त अनुवाद भी प्रस्तुत किया था।

बरारी बोली

बरार, मध्यप्रदेश तथा निज़ाम राज्य में प्रचलित मराठी और परिनिष्ठित देशी में उतना ही कम अन्तर है जितना परिनिष्ठित कोंकणी से। यों तो इनमें छोटे-मोटे और स्थानीय विशेषताओं को लेकर अनेक अन्तर हैं किन्तु मुख्य अन्तर है अन्तिम स्वर का लघु अथवा ह्रस्व उच्चारण। जैसे-जैसे हम पूर्व की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे मराठी पड़ोस की पूर्वी हिन्दी में विलीन होती जाती है। बरार तथा उसके आसपास के निज़ाम राज्य की बोली का नाम "वर्हाडी" है और उसके बोलने वालों की संख्या २०,८४,०२३ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे परिनिष्ठित मराठी का प्रतिनिधि होना चाहिए था क्योंकि वर्तमान बरार प्रदेश ही प्राचीन विदर्भ अथवा महाराष्ट्र प्रदेश का परिवर्तित रूप है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि बाद की शताब्दियों में राजनीति का केन्द्र क्रमशः सुदूर पश्चिम की ओर बढ़ता गया और इसी के साथ-साथ परिनिष्ठित मराठी का केन्द्र भी परिवर्तित होता गया। इधर वर्धा नदी जो वस्तुतः मध्यप्रदेश को बरार से पृथक् करती है, वर्हाडी एवं अन्य उपबोली 'नागपुरी' के बीच की सीमारेखा मानी जा सकती है। इनमें से पहली—वर्हाडी—मध्यप्रदेश के बेतूल ज़िले में भी प्रचलित है किन्तु दूसरी ओर बरार स्थित बासिम तथा बुल्डाना ज़िले के पश्चिमी भाग की मराठी वर्हाडी न होकर पूने की देशी मराठी के अधिक निकट है।

नागपुरी

मध्यप्रदेश के दक्षिणी अर्धभाग की भाषा भी मराठी ही है। इसका स्थानीय रूप नागपुरी नाम से प्रसिद्ध है तथा इसके बोलनेवालों की संख्या १८,२३,४७५ है। यथार्थ रूप में यह ठीक वर्हाडी की ही भाँति है; किन्तु अन्यत्र जैसे-जैसे हम पूर्व को बढ़ते हैं, यह परिनिष्ठित भाषा से दूर हटती जाती है और स्थान-भेद से इसमें परिवर्तन भी आते जाते हैं। सागर ज़िले में प्रचलित मराठी नागपुरी नहीं है अपितु यह परिनिष्ठित मराठी ही है। ब्रिटिश भारत में यह क्षेत्र नागपुर राज्य से नहीं आया अपितु पेशवा

के राज्य से आया था और इसी लिए यहाँ के मराठी भाषा-भाषी भी पूने से आये थे, नागपुर से नहीं। इसका एक परिणाम यह है कि ये नागपुर के लोगों को किंचित् घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ठीक यही बात दमोह तथा जबलपुर जिलों में बिखरे हुए मराठा परिवारों के प्रति भी है। नागपुरी के सुदूर पूर्वीय-क्षेत्र बालाघाट के जिले में भाषा बिलकुल बदल गयी है और यहाँ यह "महेंटी" के नाम से प्रसिद्ध है।

हलबी

मध्य-प्रदेश के इस भाग में, बालाघाट तथा भण्डारा के जिले नागपुरी की पूर्वी सीमाएँ हैं। इसके कुछ और पूर्व में हम पूर्वी हिन्दी की उपभाषा छत्तीसगढ़ी के सम्पर्क में आते हैं। इस क्षेत्र के दक्षिण में मराठी चाँदा जिले के उत्तरी भाग में अधिकार कर लेती है (दक्षिणी भाग में वस्तुतः तेलुगु प्रचलित है) और धीरे-धीरे यह 'हलबी' में अन्तर्भुक्त हो जाती है। हलबी का एक नाम बस्तरी भी है। इसके बोलनेवालों की संख्या १,०४,९७१ है। बहुत दिनों तक किसी भी भाषा के वंशज रूप में इसका वर्गीकरण नहीं किया गया था। सर्वेक्षण में तो यह आर्य तथा द्रविड़, दोनों की कई भाषाओं से विकृत मिश्रित-भाषा के रूप में अंकित की गयी है तथा इसे मराठी और उड़िया के बीच की कड़ी कहा गया है किन्तु इसका मूल आधार मराठी ही है। बस्तर राज्य की हलबी को छत्तीसगढ़ी बोलनेवाले मराठी, और मराठी बोलनेवाले छत्तीसगढ़ी मानते हैं। इसकी मिश्रित प्रकृति को प्रकट करने के लिए यह कथन ही पर्याप्त है। हलबी-बस्तर राज्य के मध्य भाग में बोली जाती है। इसके दक्षिण में तेलुगु भाषा का क्षेत्र है। बस्तर के उत्तर-पूर्वी कोने में "भत्री" बोली बोली जाती है। यह हलबी एवं उड़िया की मध्यवर्ती भाषा है और इसका वर्गीकरण उड़िया की विभाषा के रूप में किया गया है, किन्तु इसे हलबी की उपभाषा भी माना जा सकता है। इसके ठीक पूर्व में उड़िया का क्षेत्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मराठी भारतवर्ष के आर-पार; अरब सागर से लेकर उस स्थान तक फैली हुई है जहाँ से बंगाल की खाड़ी की दूरी केवल दो सौ मील रह जाती है। अब तक (मराठी कहने से) हमारा ध्यान स्वभावतः बम्बई प्रान्त में बोली जानेवाली एक विशेष बोली पर ही केन्द्रित था और साधारणतया भारतीय आर्य भाषाओं की सुदूर दक्षिण-पश्चिमी भाषा के अन्तर्गत ही इसका वर्गीकरण किया गया था। किन्तु ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे 'दक्षिणी' कहना कितना उपयुक्त है।

कोंकणी

बम्बई प्रान्त की ओर पुनः प्रत्यावर्तित होकर हम मराठी के एक ऐसे रूप पर विचार करेंगे जो यथार्थ में उसकी एक बोली है और जो परिनिष्ठित भाषा का विकृत रूप नहीं है। यह कोंकण की भाषा कोंकणी है जो उत्तर में मलवन् से लेकर दक्षिण में करवार तक बोली जाती है। यह पुर्तगाली उपनिवेश गोआ की भाषा है और यह विस्तृत रूप में बेलगाँव जिले, उत्तरी तथा दक्षिणी कनारा एवं सावन्तवाडी रियासत में बोली जाती है। गोआ में इसे साधारणतया गोआनी कहा जाता है। इसके अन्य स्थानीय नाम भी हैं किन्तु इन स्थानीय बोलियों में इतना कम अन्तर है कि उनका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है। मराठी की बोली के रूप में, प्राचीन युग में ही कोंकणी स्वपूर्वज प्राकृत से पृथक् हो गयी थी। यही कारण है कि इसमें तथा पूना की परिनिष्ठित मराठी में बहुत अन्तर है। निश्चय ही कुछ अंशों में इसमें ध्वन्यात्मक विकास की प्राचीन अवस्था के रूप सुरक्षित हैं तथा क्रियापदों का भी बाहुल्य है। इसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है क्योंकि गोआ-विजय के पश्चात् पुर्तगालियों ने इसकी हस्तलिखित पुस्तकों को काफिरों का धर्मग्रन्थ कहकर नष्ट कर दिया था। किन्तु इधर पुर्तगाली मिशनरियों के तत्त्वावधान में, ईसाई धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला नूतन साहित्य प्रकाश में आ रहा है। इनमें से टॉमस स्टिफेन्स नामक एक अंग्रेज ने, जो गोआ में सन् १५७९ ई० में आया था और वहीं सन् १६१९ ई० में उसकी मृत्यु हुई थी, सर्वप्रथम कोंकणी व्याकरण की रचना की थी। उसकी लेखनी से प्रसूत हमें बाइबिल का पद्यबद्ध कोंकणी अनुवाद भी प्राप्त है जो आज भी वहाँ प्रिय एवं प्रचलित है। कोंकणी का प्राचीन साहित्य नागरी लिपि में लिखा जाता था और केरी ने भी बाइबिल के अनुवाद में इसी को अपनाया था। बाद में, इसके लिए कनारी लिपि प्रयुक्त हुई और अन्ततः मंगलोर क्रिश्चियन कालेज के जेसुट पादरियों ने अपने कई ग्रन्थों में रोमन लिपि का प्रयोग किया। आधुनिक साहित्य पूर्णतया धार्मिक है और अब यह तीनों लिपियों में लिखा जाता है।

सिंहली

यहाँ सिंहली का उल्लेख भी आवश्यक है। यद्यपि यह भारतीय आर्य-भाषा का ही एक रूप है तथापि न तो सर्वेक्षण में ही इसका वर्णन है और न यह भारत की भाषा ही है। यह सीलोन में, मुख्यतः उस द्वीप के दक्षिणी मध्य भाग में बोली जाती है। सीलोन में यह निश्चित रूप से भारत के पश्चिमी भाग से बौद्धधर्म के साथ गयी थी। भारत में इसकी निकटतम सम्बन्धिनी भाषा मराठी है किन्तु इसमें तथा मराठी में काफी अन्तर है और इस सम्बन्ध के बहुत कम चिह्न स्पष्ट हैं।

माह्‌ल

सिंहली की एक विभाषा माह्ल है जो मालद्वीप तथा मिनिकाय द्वीप में बोली जाती है।

पूर्वी समुदाय

पूर्वीय समुदाय की भाषाओं में उड़िया, बिहारी, बँगला तथा असमियाँ (असमी) की गणना की जाती है। मोटे तौर पर बनारस के पूर्व की समस्त आर्य-भाषाएँ इसके अन्तर्गत आ जाती हैं।

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
उड़िया	९०,४२,५२५	१,०१,४३,१६५
बिहारी	३,७१,८०,७८२	३,४३,४२,४३०[1]
बँगला	४,१९,३३,२८४	४,९२,९४,०९९
असमियाँ	१४,४७,५२३	१७,२७,३२८
योग	८,९६,०४,१४३	९,५५,०७,०२२

उड़िया

उड़िया या उत्कली उड़ीसा प्रदेश तथा उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में बोली जानेवाली एक आर्य-भाषा है। उत्तर में यह मिदनापुर सहित बालासोर ज़िले के एक भाग को अपने में सन्निविष्ट कर लेती है जो १८ वीं शती के अन्तिम दशक के एक प्रशासकीय अध्यादेश 'दीवानी' के अन्तर्गत बिहार, बंगाल और उड़ीसा के नाम से विख्यात है। यह छोटा नागपुर डिवीज़न के सिंहभूम ज़िले तथा उससे राजनीतिक रूप में संलग्न अन्य रियासतों की भी भाषा है। पश्चिम में यह सम्भलपुर के अधिकांश भाग की भाषा है जिसे हाल में ही उड़ीसा प्रदेश में मिलाया गया था। साथ ही यह

१. जनगणना की रिपोर्ट में प्रायः सभी बिहारी भाषा-भाषियों को पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत दिखाया है और उनकी संख्या ७३३१ दिखायी गयी हैं। ऊपर जो संख्या दी गयी है वह लगभग ठीक है।

मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के कुछ भागों तथा इन दोनों जिलों के बीच की रियासतों और उड़ीसा ख़ास की भी भाषा है। दक्षिण में यह गंजाम जिले के उत्तर में तथा इससे संयुक्त भारतीय रियासतों और विजगापट्टम की जैपुर एजेन्सी में बोली जाती है। इस प्रकार यह ब्रिटिश भारत के चार प्रदेशों—बिहार और उड़ीसा, बंगाल, मध्यप्रदेश

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
परिनिष्ठित	८३,९२,२२८	
उत्तर की मिश्रित बोलियाँ	५,८२,७९८	
भत्री	१७,३८७	
अनिर्णीत	९०,११२	
योग	९०,८२,५२५	१,०१४३,१६५

तथा मद्रास में बोली जाती है। इसका विस्तार क्षेत्र ८२,००० वर्गमील है जो कि न्यूनाधिक रूप में यूगोस्लाविया के बराबर है और इसके बोलनेवालों की संख्या (नब्बे लाख) संयुक्त रूप से नार्वे तथा स्वीडन की जनसंख्या से कुछ ही अधिक है।

भाषा का नामकरण

इसे उड़िया, ओड्री या उत्कली अथवा ओड्र या उत्कल की भाषा कहते हैं। ये दोनों नाम अंग्रेजी ओरिसा (हिन्दी उड़ीसा) के प्राचीन रूप हैं। कभी-कभी इसे 'उरिया' भी कहते हैं जो उड़ीसा का अशुद्ध उच्चारण मात्र है। उड़िया के प्राचीनतम उदाहरण तेरहवीं शताब्दी के एक शिलालेख में उपलब्ध हैं जिसमें कतिपय उड़िया शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इसके एक शताब्दी बाद के एक शिलालेख में प्राप्त कतिपय वाक्यों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस युग तक यह भाषा पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी और आधुनिक भाषा से इसका पार्थक्य अक्षर-विन्यास या व्याकरण में बहुत कम था।

भाषागत सीमाएँ

उड़िया उत्तर में बँगला, उत्तर-पश्चिम में बिहारी, पश्चिम में पूर्वी हिन्दी की उपभाषा छत्तीसगढ़ी तथा दक्षिण में तेलुगु से घिरी हुई है। दक्षिण-पश्चिम में यह भत्री से होती हुई मराठी की हलबी विभाषा में अन्तर्भुक्त हो जाती है।

बोलियाँ

केवल भत्री ही उड़िया की यथार्थ विशुद्ध बोली है। उत्तर में अनेक मिश्रित बोलियाँ हैं जो आधी बँगला और आधी उड़िया हैं। इन मिश्रित भाषाओं के जितने बोलनेवाले हैं उतने ही इनके रूप भी हैं और इनका सम्मिश्रण भी आकस्मिक ढंग से इनके बोलनेवालों के अनुपात के अनुसार हुआ है। कभी वाक्य का आरम्भ तो उड़िया शब्द से होता है और अन्त बँगला से; कभी इसके ठीक विपरीत भी होता है और कभी-कभी तो वाक्य-रचना में दोनों का सम्मिश्रण रहता है। किन्तु इस प्रक्रिया से कोई निश्चित बोली नहीं बन पाती। अन्य स्थानों में उड़िया के उच्चारण तथा स्वराघातों के बहुत से स्थानीय रूप मिलते हैं, किन्तु सम्पूर्ण उड़िया-क्षेत्र में प्रायः परिनिष्ठित रूप का ही अनुगमन किया जाता है।

भत्री

भत्री बोली वास्तव में, उड़िया तथा मराठी के बीच की है और इसका एक मात्र नमूना, जिसे मैंने देखा है, नागराक्षरों में लिखित है, उड़िया में नहीं।

लिपि

उड़िया का सबसे बड़ा दोष उसकी अत्यन्त भोंड़ी तथा विचित्र लिपि है। इसका मूलाधार वही है जो नागरी लिपि का है किन्तु स्थानीय लेखक इसे सरकण्डे की कलम से ताड़पत्रों पर लिखते हैं। ताड़पत्रों पर कलम से जो चिह्न या निशान बनाये जाते हैं वे स्पष्ट होते हैं किन्तु उन्हें और भी स्पष्ट बनाने के लिए इन पत्रों पर स्याही पोत देते हैं और तब इन पर के अक्षर उभर आते हैं। ताड़पत्र अत्यधिक कमजोर होते हैं अतएव सीधे नीचे-ऊपर लिखने से वे फट जाते हैं; किन्तु उनके अधिक लम्बे और कम चौड़े होने के कारण सीधी रेखावाले नागराक्षरों को ऊपर से नीचे लिखने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रह जाता। यही कारण है कि उड़िया लिखनेवालों को अपने अक्षर वक्र एवं गोलाकार रूप में एक दूसरे को घेरते हुए बनाने पड़ते हैं। उड़िया की किसी भी मुद्रित पुस्तक को पढ़ने के लिए बड़ी तीव्र दृष्टि की आवश्यकता होती है क्योंकि मुद्रणालय की सुविधा की दृष्टि से इसके टाइप बहुत छोटे बनाने पड़ते हैं। प्रायः सभी रूपों में उड़िया अक्षरों का अधिकांश भाग ये टेढ़ी रेखाएँ ही होती हैं जब कि अक्षरों की वास्तविक आत्मा, जिससे एक दूसरे से भेद उत्पन्न किया जाता है, उसके मध्यभाग में अवस्थित रहती है। यह अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि बहुधा इसे देखना बड़ा कठिन हो जाता है। प्रथम दृष्टि में तो किसी भी उड़िया पुस्तक में

केवल रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु दुबारा देखने पर यह ज्ञात होता है कि इनके भीतर भी कुछ तत्त्व है।

बंगला से सम्बन्ध

कुछ रूपों में व्याकरण-रचना की निकट समान-रूपता के आधार पर कलकत्ते के कतिपय पण्डितों ने एकाधिक बार इसे बँगला की एक बोली कहा है; किन्तु वास्तव में वे गलती पर हैं। उड़िया वस्तुतः बँगला की भगिनी है, पुत्री नहीं। इनकी पारस्परिक समानताओं का कारण यह है कि ये दोनों एक ही मूलस्रोत, प्राचीन मागधी अपभ्रंश से प्रसूत हैं। बँगला की भाँति ही इसमें वचन के रूपों का अभाव है और जब कभी बहुवचन रूपों को प्रकट करने की आवश्यकता होती है तो इसे बहुवचन-वाची शब्दों की सहायता से सम्पन्न किया जाता है। उड़िया में भी अन्य पूर्वी भाषाओं की भाँति एक-वचन की क्रिया के साथ, उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष का प्रयोग केवल अशिक्षित लोग ही करते हैं। यह प्रयोग उस समय होता है जब आदर प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। बँगला के मुकाबिले में उड़िया में यह एक बड़ी विशेषता है कि इसमें जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा भी जाता है। उड़िया में उस प्रकार के अस्पष्ट व्यञ्जनों एवं भग्न स्वरों का अभाव है जिसके कारण विदेशियों के लिए शुद्ध बँगला बोलना कठिन है। उड़िया के प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अक्षर का इतना स्पष्ट उच्चारण होता है कि इसके सम्बन्ध में यह कथन बहुत ही उपयुक्त है कि अपनी श्रुति-मधुर ध्वनि एवं संगीतात्मक लय के साथ ही यह पूर्ण रूप से काव्यमय है और इसका अर्जन एवं इस पर अधिकार करना कठिन नहीं है। बँगला में जहाँ तक सम्भव है, बलात्मक स्वराघात अन्तिम अक्षर पर होता है। इसकी सहायता के लिए इसके बादवाले अक्षर उच्चारण में संक्षिप्त अथवा अस्पष्ट हो जाते हैं किन्तु अच्छी उड़िया में प्रत्येक वर्ण का स्पष्ट उच्चारण होता है और यदि अक्षर दीर्घ हुआ तो उपान्त अक्षर पर, अन्यथा उसके पूर्व के अक्षर पर ही स्वराघात होता है। उड़िया क्रियापदों की गठन अत्यन्त सरल एवं पूर्ण है। इसमें कालों की संख्या अधिक है किन्तु वे इतने पूर्ण एवं तार्किक ढंग से सजाये गये हैं तथा उनकी ऐसी क्रमबद्ध व्यवस्था है कि इनके सिद्धान्त बड़ी सरलता से मस्तिष्क पर अंकित हो जाते हैं और ये याद हो जाते हैं। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इसमें क्रियावाचक विशेष्य पदों (Verbal Nouns) के वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् के पूरे रूप उपलब्ध हैं और बँगला में जहाँ अपूर्ण तुमन्त (Infinitives) एवं क्रियासूचक संज्ञापद (Gerund) का प्रयोग होता है, वहाँ उड़िया में इन क्रियावाचक विशेष्य पदों का ही प्रयोग प्रचलित है। बँगला में क्रियावाचक विशेष्य पदों के अभाव का एक परिणाम यह हुआ है कि अति

साधारण बात को भी यहाँ विचित्र ढंग से व्यक्त करना पड़ता है। जब किसी बँगला भाषी-भाषी को तुमन्त के भाव को प्रकट करना होता है तो इसके लिए वह वर्तमानकालिक कृदन्तीय (present participle) रूप का प्रयोग करता है और उसकी सहायता से वह बँगला के अन्य कालों के रूपों का निर्माण करता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकार प्रयुक्त शब्द न तो कृदन्त ही रह जाता है और न उसका वर्तमानकालिक रहना ही आवश्यक है। दूसरी ओर उड़िया में ऐसे स्थानों पर उपयुक्त क्रिया-विशेष्य पद प्रयुक्त होते हैं और आवश्यकतानुसार विभिन्न कारकों में उनके रूप सम्पन्न करके भाव को व्यक्त किया जाता है। चूँकि इस प्रकार के प्रयोग में प्रत्येक तुमन्त पद किसी न किसी क्रिया-विशेष्य पद का कारक होता है, इसलिए उड़िया व्याकरण में तुमन्त प्रकार का सर्वथा अभाव रहता है। उड़िया के आरम्भिक जाननेवाले को भी यह अवगत है और आवश्यकतानुसार वह स्वतः तुमन्त अथवा क्रियासूचक संज्ञापद बना लेता है। इस सम्बन्ध में उड़िया व्याकरण लौकिक संस्कृत से भी कहीं अधिक पूर्ण विकास की अवस्था में है और इसकी तुलना केवल वेद की प्राचीन संस्कृत भाषा से की जा सकती है। इसके गठन तथा शब्दसमूह, दोनों की पुरातनता सम्पूर्णरूप से इसकी भाषा में परिलक्षित होती है और इसका कारण भी निश्चित रूप से इसकी भौगोलिक स्थिति है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही उड़ीसा एक पृथक् देश रहा है। पूर्व में यह समुद्र से तथा पश्चिम में यह आदिवासी वन्य जातियों से आबाद पर्वतमालाओं से घिरा हुआ है और अपने बुरे जलवायु के कारण भी कुख्यात है। इसके दक्षिण की भाषा द्रविड़ है जो पूर्णतया एक भिन्न परिवार की है। उधर उत्तर में भी बंगाल के साथ इसका बहुत कम राजनीतिक सम्बन्ध है।

अन्य भाषाओं का प्रभाव

दूसरी ओर सुदीर्घ काल तक उड़ीसा विजित देश रहा। प्रायः आठ सौ वर्षों तक इस पर तैलंग राजाओं ने शासन किया और आधुनिक युग में पचास वर्षों तक यह नागपुर के भोंसलों के अधिकार में रहा। इन दोनों के शासन का उड़ीसा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उड़िया में अनेक शब्द तथा मुहावरे तेलुगु और मराठी से आये हैं और ये आज भी सुरक्षित हैं। जहाँ तक हमें ज्ञात है, विदेशी तत्त्वों में केवल यही ऐसे महत्त्वपूर्ण हैं जो उड़िया में बलात् प्रवेश कर गये हैं। इसमें मुसलमानों के सम्पर्क से कुछ फारसी के शब्द भी आये हैं और इसी प्रकार अंग्रेजों के आधिपत्य के साथ-साथ न्यायालय-सम्बन्धी एवं अन्य शब्द अंग्रेजी से आये हैं।

उड़िया साहित्य

उड़िया में विशाल साहित्य उपलब्ध है। इसमें अधिकतर धार्मिक काव्य की रचना हुई है और उसमें भी कृष्ण काव्य का प्रमुख स्थान है। मातृभाषा के रूप में उड़िया का प्रसार अपने ही प्रदेश तक सीमित है; किन्तु इसके बोलनेवाले भारत के विभिन्न भागों में भी मिलते हैं। ये अधिकांश घरेलू नौकर अथवा पालकी ढोनेवाले होते हैं।

बिहारी

अनेक शताब्दियों से बिहार प्रदेश का राजनीतिक सम्बन्ध बंगाल की अपेक्षा, आज के उत्तर प्रदेश से ही अधिक रहा। यहाँ तक कि रामायण महाकाव्य की रचना के युग में भी अयोध्या (आधुनिक अवध) के राजकुमार रामचन्द्र ने मिथिला अथवा आधुनिक उत्तरी बिहार की प्रसिद्ध राजकुमारी सीता के साथ विवाह किया था। बिहार का मुख सदैव उत्तर-पश्चिम की ओर रहा; बंगाल की ओर से तो इस पर शत्रुतापूर्ण आक्रमण ही होते रहे। इन्हीं कारणों से लोग बिहारी भाषा को यू० पी० में प्रचलित हिन्दी का ही एक रूप मानते हैं किन्तु वास्तव में यह तथ्य के सर्वथा विपरीत है। बिहार तथा बंगाल में पारस्परिक चाहे जो दुर्भावना हो, बिहारी भाषा बँगला की बहिन है और पश्चिम की बोली से उसका बहुत दूर का सम्बन्ध है। बँगला तथा उड़िया की भाँति ही बिहारी का प्रादुर्भाव भी सीधे प्राचीन मागध अपभ्रंश से हुआ है। बिहारी आज उसी क्षेत्र को अधिकृत किये हुए है जहाँ किसी युग में मागधी अपभ्रंश प्रचलित थी और इसमें अभी तक मूल-भाषा की प्रायः सभी विशेषताएँ सुरक्षित हैं। केवल ध्वनि-सम्बन्धी एक बात में इसमें मूल-भाषा से अवश्य अन्तर आ गया है और वह है ऊष्म वर्ण (श, ष, स) के उच्चारण में। इसका कारण भी वस्तुतः पश्चिमोत्तर प्रदेश का राजनीतिक प्रभाव है। इन वर्णों के उच्चारण में बंगाल तथा केन्द्रीय भारत में एक विशेष उच्चारण-पद्धति की ओर संकेत है। वह संकेत यह है कि जो व्यक्ति 'स' का उच्चारण 'श' की भाँति करता है उसे लोग बंगाली मान लेते हैं और उसके साथ तदनुकूल व्यवहार भी करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि मन से अपने को पूर्व के न माननेवाले बिहारी भाषा-भाषियों ने 'स' के पश्चिमी उच्चारण को ही ग्रहण करने की चेष्टा की और इसमें वे सफल भी हुए। किन्तु यह परिवर्तन भी सापेक्षिक दृष्टि से बहुत बाद का है क्योंकि यद्यपि बिहारी भाषा-भाषी 'स' का उच्चारण ठीक करते हैं किन्तु यहाँ की कैथी लिपि में लिखा 'श' ही जाता है। इस प्रकार प्राचीन वैयाकरणों ने मागधी में 'श' के उच्चारण की जिस विशेषता का उल्लेख किया है वह बिहारी में प्रकारान्तर से आज भी है।

भाषागत सीमाएँ

बिहारी केवल बिहार की ही भाषा नहीं है वरन् वह उस प्रदेश की सीमा के बाहर भी बोली जाती है। पश्चिम में यह उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों तथा अवध के कुछ भागों में भी बोली जाती है। इसकी पश्चिमी सीमा, मोटे तौर पर उस देशान्तर रेखा को मान सकते हैं जो बनारस से होकर गुजरती है यद्यपि यह बनारस शहर के कुछ दूर पश्चिम तक भी बोली जाती है। दक्षिण में छोटा नागपुर के दो ऊँचे चौरस मैदानों तक इसका क्षेत्र है। इसी प्रकार उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में सिंहभूम (जो एक उड़िया-भाषी जिला है) तक और दक्षिण-पूर्व में मानभूम से लेकर उत्तर-पश्चिम में बस्ती जिले तक इसका प्रसार है। इसके द्वारा अधिकृत सम्पूर्ण भूभाग ९०,००० वर्गमील है जो यूगोस्लाविया के विस्तार-क्षेत्र से ३००० वर्गमील अधिक है और इसके बोलनेवालों की संख्या ३,७०,००,००० है जो इटली की जनसंख्या से कुछ ही कम है। इसकी भाषागत सीमाएँ, पूर्व में बँगला, उत्तर में हिमालय की बोलियाँ, पश्चिम में पूर्वी-हिन्दी तथा दक्षिण में उड़िया भाषाएँ निर्धारित करती हैं।

बोलियाँ

बिहारी की तीन मुख्य बोलियाँ—मैथिली, मगही तथा भोजपुरी हैं। प्रत्येक की कई उपबोलियाँ हैं। मैथिली अथवा तिरहुतिया चम्पारन जिले के कुछ भाग,

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
मैथिली	१,०२,६३,३५७	..
मगही	६५,०४,८१७	..
भोजपुरी	२,०४,१२,६०८	..
योग	३,७१,८०,७८२	३,४३,४२,४३०[1]

पूर्वी मुंगेर, भागलपुर तथा पश्चिमी पूर्णिया में बोली जाती है। अपने शुद्धतम रूप में यह दरभंगा जिले की बोली है। इसमें कुछ साहित्य तो पन्द्रहवीं शती में लिखा गया था। विद्यापति ठाकुर इसी युग में हुए थे और अपनी संस्कृत-रचना के लिए

१. पीछे पृष्ठ . . . की टिप्पणी देखो।

उन्होंने कुछ प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इनकी एक कृति बँगला में भी अनूदित हुई थी जो अनेक वर्षों तक परीक्षार्थियों के लिए सिर-दर्द उत्पन्न करनेवाली थी।

मैथिली

मैथिली के मधुरतम गीत ही विद्यापति की प्रसिद्धि का मुख्य आधार है। इनका स्थान उन प्राचीन गायकों में अन्यतम है, जिनके राधा-कृष्ण संबंधी पदों ने पूर्वी भारत के धार्मिक विश्वासों पर पूर्ण प्रभाव डाला है। इनके पदों को प्रसिद्ध हिन्दू धर्म-सुधारक चैतन्य देव, जिनका सोलहवीं शताब्दी में आविर्भाव हुआ था, अत्यंत तन्मयता के साथ गाते थे और इस प्रकार उनके माध्यम से विद्यापति के पद बंगाल के प्रत्येक घर में गाये जाने लगे। इसके बाद तो विद्यापति का अनुकरण करनेवाले अनेक कवि प्रकाश में आये जिनमें से बहुतों ने तो उनके नाम पर ही पदों की रचना की। यही कारण है कि विद्यापति तथा अन्य कवियों के पदों में आज भेद करना कठिन हो गया है। बंगाल में संकलित बृहत् एवं प्रामाणिक संग्रहों में इन गीतों में भेद करना इसलिए और भी दुरूह हो गया है कि इनकी प्रारम्भिक मैथिली का रूप पीढ़ियों से आते हुए बंगला छंदों और मुहावरों के अनुकूल होकर अत्यधिक परिवर्तित हो गया है। मैथिली साहित्य में अनेक नाटककार भी दरभंगा में हुए। इन नाटकों की रचना-पद्धति इस प्रकार थी कि स्थानीय प्रथा के अनुसार इनका ढांचा तो संस्कृत का होता था किन्तु इनके गीत मैथिली के होते थे। मैथिली में कतिपय महाकाव्य भी लिखे गये जिनमें से एक के कुछ अंश आज भी मिलते हैं।

मगही

मगही दक्षिणी बिहार तथा हजारीबाग के छोटा नागपुर जिले में बोली जाती है। यह उस प्रदेश के दो उत्तरी प्लेटोओं (उच्च चौरस भूमि) में प्रसरित है। दक्षिणी प्लेटो में मगही नहीं बोली जाती; और जैसा कि हम आगे देखेंगे इधर भोजपुरी का एक ही रूप प्रचलित है। मगही में लिखित साहित्य का अभाव है। किंतु सन् १८१८ में कैरी ने इसमें नूतन बाइबिल का अनुवाद किया था। इसके प्रकाशित रूप में कतिपय लोक-कथाएँ तथा लोक-गीत भी उपलब्ध हैं। उत्तरी बिहार, जहाँ कि आजकल मगही बोली जाती है, प्राचीन मगध था; और यही वस्तुतः मागध अपभ्रंश का केन्द्र भी था।

भोजपुरी

भोजपुरी मुख्यतः भोजपुर की भाषा है जो शाहाबाद जिले के उत्तर-पश्चिम में स्थित एक परगने तथा कस्बे का नाम है, किंतु भोजपुरी का क्षेत्र इससे कहीं अधिक विस्तृत

है। यह सम्पूर्ण पश्चिमी विहार तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में प्रचलित है। यह पालामऊ के जिले तथा दक्षिणी अथवा छोटा नागपुर के राँची प्लेटो को भी अपनी सीमा में सन्निविष्ट किये हुए है। यह स्थान के अनुसार बदलती जाती है। उदाहरण-स्वरूप आजमगढ़ तथा वाराणसी की भोजपुरी शाहाबाद एवं सारन जिलों की भोज-पुरी से यत्किंचित् भिन्न है। इसी प्रकार गंगा के उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्रों की भोजपुरी में भी कुछ अंतर है।

नगपुरिया, मधेसी, सरवरिया, थरुई

इसकी एक महत्त्वपूर्ण उपबोली छोटा नागपुर की नगपुरिया है। इसी प्रकार इसकी अन्य उपबोलियाँ भी हैं। इनमें से मधेसी भोजपरी चम्पारन में, सरवरिया बस्ती तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में एवं थरुई अथवा भंग बोली हिमालय की पर्वतीय जातियों में बोली जाती है। किंतु वास्तव में ये भोजपुरी की छोटी-छोटी उपबोलियाँ हैं और इनका महत्त्व भी कम ही है।

पूर्वी

भोजपुरी की तीन मुख्य उपबोलियाँ हैं। ये हैं—परिनिष्ठित, पश्चिमी तथा नगपुरिया बोलियाँ। पश्चिमी भोजपुरी को पूर्वी अथवा पूरब की उत्कृष्ट भाषा के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव में पश्चिमी भारत के लोगों ने स्वाभाविक रूप से यह नामकरण किया है किंतु इस नाम में एक दोष यह है कि यह अत्यधिक अनि-श्चित है। वास्तव में पूर्वी शब्द का प्रयोग बहुत शिथिल रूप में किया जाता है और कभी-कभी इसके अन्तर्गत उन भाषाओं को भी समाविष्ट कर लिया जाता है, जिनसे भोजपुरी का कुछ भी संबन्ध नहीं है। सच तो यह है कि पूर्वी शब्द का प्रयोग लोग अपने से पूर्व की भाषाओं के लिए करते हैं। भोजपुरी में बहुत कम साहित्य है; और जो कुछ है भी वह गत कतिपय वर्षों में लिखा गया है। बाइबिल के कुछ अंश के अनुवाद भी इसमें उपलब्ध हैं।

तीनों बोलियों में पारस्परिक सम्बन्ध

ये तीनों बोलियाँ स्वभावतः दो भागों में विभक्त हैं—एक ओर मैथिली एवं मगही तथा दूसरी ओर भोजपुरी। इनके बोलनेवालों का विभाजन नृ-वंश की विशे-षताओं के आधार पर भी किया जाता है। इस दृष्टि से मैथिली एवं मगही भाषा-भाषियों का एक-दूसरे से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु ये दोनों ही भोजपुरी बोलने-

वालों से पृथक् हैं। यहाँ केवल उन्हीं विशिष्ट अन्तरों का उल्लेख किया जायगा जो मोटे तौर पर किसी भी व्यक्ति का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। मैथिली और उससे कुछ ही अंश कम मगही का उच्चारण भोजपुरी की अपेक्षा अधिक वर्तुलाकार होता है। मैथिली में 'अ' स्वर का उच्चारण 'ओ' की भाँति होता है और इस सम्बन्ध में यह बँगला के निकट पहुँच जाता है। इसके विपरीत भोजपुरी में 'अ' का उच्चारण मध्य-देश में प्रचलित हिन्दी उच्चारण के समान ही होता है। दूसरी ओर भोजपुरी में 'अ' को दूर तक खींचकर 'अव्' रूप में भी उच्चारित किया जाता है। यह उच्चारण अंग्रेजी 'awl' में उच्चरित 'aw' के समान होता है। इन दोनों ध्वनियों का अन्तर इतना अधिक स्पष्ट है और ये इतनी अधिक उच्चरित होती हैं कि इनकी तान (tone) से ही भोजपुरी को तुरन्त पहचाना जा सकता है। संज्ञा के रूपों में भोजपुरी में, सम्बन्ध कारक का एक तिर्यक् रूप भी मिलता है जिसका अन्य दोनों बोलियों में अभाव है। मध्यम पुरुष आदरप्रदर्शक सर्वनाम का रूप, जो नित्य की बातचीत में व्यवहृत होता है, मैथिली तथा मगही में **"अपने"** है किन्तु भोजपुरी में यह **"रउरे"** है। मैथिली में सहायक क्रिया (है), **'छै'** अथा **'अछि'** रूप में मिलती है; मगही में यह **"हइ"** हो जाती है किन्तु भोजपुरी में इसके रूप **बाटे, बाड़े** अथवा **'हवे'** हो जाते हैं। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की भाँति ही इन तीनों बोलियों में भी वर्तमान काल सम्पन्न करने के लिए सहायक-क्रिया में वर्तमान कालिक कृदन्त का रूप संयुक्त करना पड़ता है। किन्तु मगही में वर्तमान काल का एक अन्य रूप मिलता है—**देख हई**, देखा है। इसी प्रकार भोजपुरी में भी एक अन्य रूप मिलता है—**देख-ला,** जिसका वास्तविक अर्थ संदिग्ध है। मैथिली तथा मगही क्रियाओं की रूप-रचना की पद्धति नितान्त जटिल है; किन्तु भोजपुरी क्रियाओं के रूप की पद्धति बँगला और हिन्दी की भाँति ही नितान्त सरल है। बिहार की इन तीनों बोलियों में और भी अनेक छोटे-मोटे अंतर हैं, किंतु ऊपर जो अंतर दिये गये हैं, वे विशिष्ट एवं उल्लेखनीय हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मैथिली तथा मगही ऐसी जातियों की बोलियाँ हैं, जो रूढ़ि-वादिता की चरम सीमा तक पहुँची हैं; जब कि भोजपुरी एक बलाढ्य जाति की व्याव-हारिक भाषा है, जो परिस्थितियों के अनुसार अपने को परिवर्तित करने के लिए सदैव तत्पर रहती है और जिसने सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभाव स्थापित किया है।

जातीय अन्तर

अंतिम उल्लेख हमें एक ओर मैथिली तथा मगही भाषा-भाषियों और दूसरी ओर भोजपुरी बोलनेवालों की जातीय भिन्नताओं के संबन्ध में विचार करने के लिए बाध्य

करता है। यह भिन्नता भी बहुत अधिक है। मिथिला का इतिहास बहुत पुराना है और इसकी परम्पराएँ आज भी सुरक्षित हैं। प्राचीन काल से ही इस पर ब्राह्मणों के एक ऐसे वर्ण का अधिकार रहा जो पोदीना, सौंफ और जीरा तक से परहेज करते रहे; शताब्दियों तक मैथिलों ने अपनी अहंमन्यता के कारण अन्य जाति के लोगों को अपने समान नहीं माना, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन्हें उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम से आनेवाले आक्रमणकारियों के समक्ष पराभूत होना पड़ा; किंतु इस पर भी इन्होंने अपनी वंशगत परम्परा को परिवर्तित नहीं किया। कथा प्रसिद्ध है कि भगवान् राम के विवाह के अवसर पर भी मैथिल ब्राह्मणों ने उसी असभ्य अहंमन्यता का प्रदर्शन किया था जो उनके बीसवीं शताब्दी के वंशजों में आज भी दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मण-प्रभुता की अमिट छाप मिथिला के जन-समुदाय पर भी स्पष्ट है। मिथिला अथवा तिरहुत भारत के अत्यधिक सघन प्रदेशों में से है; यहाँ निरंतर जनसंख्या में वृद्धि होती जाती है और उसके साथ ही साथ दरिद्रता भी बढ़ती जाती है। यहाँ के निवासी न तो कृषि के अतिरिक्त जीवन-यापन के किसी अन्य साधन का ही प्रयोग करते हैं अथवा न विदेश जाकर ऐसी भूमि को ही अधिकृत करते हैं जहाँ वे खेती कर सकें। दूसरी ओर, यद्यपि मगध का प्रारम्भिक बौद्ध इतिहास से घनिष्ठ संबन्ध था तथापि यह बहुत दिनों तक मुसलमान आक्रमणकारियों का अड्डा रहा, और अनेक वर्षों तक मुसलमानों के राज्य का केन्द्र-स्थान होने के कारण यह हिन्दू-युग के गौरव-पूर्ण दिनों को भूल गया। मगध का अधिकांश भाग जंगली और कृषि के लिए अयोग्य है; और इसके शेष भाग में सिचाई की सहायता से कठिनाई से खेती होती है। सिचाई के ये साधन भी प्रागैतिहासिक युग के हैं। इसके कृषक-वर्ग का शताब्दियों से शोषण हो रहा है, और ब्रिटिश-शासन में भी यहाँ के लोग भारत के अन्य पड़ोसी भागों की अपेक्षा कहीं अधिक निर्धन, अशिक्षित तथा अनुद्योगी हैं। पूर्वी हिंदुस्तान में एक ऐसा विशेष शब्द प्रचलित है जो इस प्रदेश की जातीय प्रकृति को भली-भाँति प्रकट करता है। यह शब्द 'भदेश' है और इसके दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ है असभ्य या जंगली किंतु दूसरा अर्थ है मगध का निवासी। इनमें से कौन मूल अर्थ है और कौन गौण यह कहना कठिन है; किंतु इस एक शब्द में ही इस प्रदेश का सम्पूर्ण इतिहास निहित है।

भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र में बसनेवाले लोग अपनी विशिष्टता के कारण ऊपर की दोनों बिहारी बोलनेवालों से नितान्त भिन्न हैं। ये वास्तव में सतर्क तथा क्रियाशील जाति के लोग हैं। इनमें रूढ़िवादिता का अभाव है; और ये युद्ध के लिए युद्ध में प्रवृत्त हो जाते हैं। ये सम्पूर्ण भारत में फैले हुए हैं और इनका प्रत्येक व्यक्ति

किसी भी सुअवसर से अपने भाग्य-निर्माण के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। पूर्व युग में इन लोगों ने एक बड़ी संख्या में हिंदुस्तानी सेना में भर्ती होकर उसे सुसज्जित किया था; और १८५७ के सिपाही-विद्रोह में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। जिस प्रकार आयरलैण्ड के निवासी हाथ में डंडा लेकर चलने के शौकीन होते हैं, ठीक उसी प्रकार लम्बे कदवाले शक्तिशाली भोजपुरियों को हाथ में लाठी लिए हुए साधारणतया अपने घर से दूर खेतों पर देखा जा सकता है। इनमें से हजारों व्यक्ति ब्रिटिश उपनिवेशों में जा बसे हैं और वहाँ से बड़े सम्पन्न होकर लौटे हैं। प्रत्येक वर्ष काम की खोज में इससे भी अधिक लोग उत्तरी बंगाल की ओर चले जाते हैं और वहाँ वे पालकी ढोनेवालों के ईमानदारी के पेशे से लेकर डाका डालने तक का काम करते हैं। पूर्वी बंगाल के जमींदार अपने असामियों को नियंत्रण में रखने के लिए भोजपुरी सिपाहियों का दल रखते हैं और वहाँ वे दरबान कहलाते हैं। भोजपुरी ऐसे ही व्यक्तियों की भाषा है और यह ध्यान देने की बात है कि इनकी भाषा सर्वजन-सुलभ, सुविधा-जनक, व्यावहारिक भाषा है और इसमें व्याकरणीय जटिलताओं का नितांत अभाव है।

लिपि

सम्पूर्ण बिहारी-भाषी क्षेत्र में कैथी लिपि प्रचलित है। अत्यधिक पूर्ण एवं सुन्दर नागरी लिपि के साथ-साथ यह भी सम्पूर्ण उतारी भारत में प्रयुक्त होती है। यथार्थ में कैथी को हम नागरी का वह रूप कह सकते हैं जो शीघ्रता से लिखने के लिए व्यवहृत होता है, किन्तु जैसा कि कुछ लोगों का विचार है, इसे भ्रष्ट-नागरी कहना समीचीन न होगा। कैथी देश के दो छोरों पर स्थित, दो सुदूरवर्ती प्रदेशों, बिहार एवं गुजरात की राज्यलिपि है किन्तु किसी तिरहुतवासी पटवारी को गुजराती पुस्तक पढ़ने में तनिक कठिनाई नहीं होती। तिरहुत के ब्राह्मण अपनी एक विशिष्ट लिपि मैथिली का प्रयोग करते हैं। यह बँगला-लिपि से बहुत अधिक मिलती-जुलती है, किन्तु बंगला-लिपि से इसका इतना अन्तर अवश्य है कि पहली बार इसे पढ़ने में कठिनाई होती है।

बँगला

बँगला गंगा नदी के डेल्टा तथा इसके उत्तर एवं पूर्व के निकटवर्ती प्रदेशों की भाषा है। यह चार करोड़ बीस लाख मनुष्यों की बोली है जो लगभग फ्रांस की जनसंख्या के बराबर है। गंगा के उत्तर में इसकी पश्चिमी सीमा को पूर्णिया जिले के पूर्व में महानंदा तक माना जा सकता है। गंगा के दक्षिण में यह छोटा नागपुर के पठारों की तलहटी तक विस्तृत है। मिदनापुर जिले के अधिकांश भाग तथा सिंहभूम जिले के धालभूम

नामक प्रसिद्ध स्थान तक इसका क्षेत्र है। पूर्व में यह गोआलपाड़ा जिले के आधे भाग को सम्मिलित करती हुई असम घाटी तक चली जाती है। सूरमा घाटी में यह सम्पूर्ण सिलहट, कछार, मैमनसिंह और ढाका तक फैली हुई है, यद्यपि यहाँ के भूमि-भाग में आंशिक रूप से तिब्बत-बर्मी भाषा-भाषी रहते हैं और इधर उनकी यत्र-तत्र बिखरी बस्तियाँ मिलती हैं। इसके कुछ और दक्षिण में यह नोआखाली, चटगाँव जिले तथा उसके पहाड़ी भागों एवं अराकान में बोली जाती है। इसके उत्तर में हिमालय की तिब्बती-बर्मी भाषाएँ, पश्चिम में बिहारी, दक्षिण-पश्चिम में उड़िया और इसके पूर्व में तिब्बती-बर्मी तथा असमियाँ भाषाएँ बोली जाती हैं। दक्षिण में यह बंगाल की खाड़ी से घिरी है। भारतवर्ष की किसी भी भाषा में, दैनिक व्यवहार की भाषा और साहित्यिक भाषा में इतना अंतर नहीं है जितना कि बंगला में। इन दोनों को एक ही भाषा की बोलियाँ कहने की अपेक्षा दो स्वतंत्र भाषाएँ कहना ठीक होगा। पिछले तीस वर्षों तक चार करोड़ से अधिक व्यक्तियों की वास्तविक अथवा दैनिक जीवन की भाषा के संबन्ध में लोगों को बहुत ही कम ज्ञान था; क्योंकि पिछली जनगणना में उन्होंने मातृभाषा के रूप में बँगला ही लिखाया था। यूरोपीय वैयाकरण भी, जिनमें से अधिकांश मिशनरी थे और जिन्हें भाषा के संबन्ध में अधिक जानना चाहिए था, प्रायः कलकत्ते के पंडितों के मार्ग के अनुगामी थे और उन्होंने ग्रन्थों में कृत्रिम साहित्यिक भाषा से ही उदाहरण दिये। बीम्स ही पहला और एक-मात्र अकेला ऐसा लेखक था, जिसने विगत शताब्दी के अंतिम दशक में लोगों के नित्य व्यवहार की भाषा का लेखा रखने की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया।[१] तभी से भाषा-सर्वेक्षण बहुत कुछ सफलता के साथ बंगाली बोलियों का लेखा रखने में अग्रसर हो सका और इधर विश्वकवि रवीन्द्र-नाथ ठाकुर के नेतृत्व में लेखकों का एक समुदाय सरल गद्य शैली के प्रति जन-साधारण में अभिरुचि विकसित कर रहा है और जिसमें पिछली शताब्दी की बँगला और वर्तमान युग की नित्य की भाषा का सुन्दर समन्वय होने लगा है।

बोलियाँ

इस भाषा को बोलियों में विभक्त करने के लिए विभाजक-रेखा को या तो पूर्व से पश्चिम और अथवा लम्बवत् उत्तर से दक्षिण ओर खींचा जा सकता है। प्रथम विभा-जन को ग्रहण करने से एक ओर हमें साहित्यिक भाषा मिलती है तो दूसरी ओर जन-साधारण की नित्य व्यवहार की भाषा। साहित्यिक भाषा का रूप यथार्थ में समस्त बंगाल में एक ही है। इसका प्रयोग केवल पुस्तकों तथा समाचार-पत्रों अथवा शिष्टाचार की भाषा के रूप में होता है, अन्य अवसरों पर बँगला भाषा-भाषी दूसरी भाषा के परिष्कृत

रूप का व्यवहार करते हैं। इन दोनों भाषाओं में केवल वैसी ही असमानता नहीं है जैसी कि इंग्लैण्ड के शिक्षित तथा अशिक्षित समुदायों की भाषा में वर्तमान है। यह असमानता अत्यधिक है। साहित्यिक बँगला साधारण बोलचाल की भाषा से न केवल संस्कृत-गर्भित होने के कारण ही भिन्न है, वरन् व्याकरणीय रूपों में भी उसमें भिन्नता है। साहित्यिक बँगला के व्याकरण का नित्य वार्तालाप में कहीं भी प्रयोग नहीं होता। बोलचाल के रूप वास्तव में अत्यंत संक्षिप्त होते हैं। साहित्यिक भाषा के इस शब्द—"ओरे रोतुन्दो" के उच्चारण में चार अक्षर हैं किन्तु इसमें घटकर दो ही रह गये हैं। यही कारण है कि प्रथम भाषा का साधारण ज्ञान दूसरी भाषा को समझने अथवा बोलने में बहुत कम सहायक सिद्ध हो पाता है।

लम्बवत् (उत्तर से दक्षिण) विभाजन की रेखाएँ केवल-मात्र बँगला की बोलचाल की भाषा से संबन्ध रखती हैं। बँगला की अनेक बोलियाँ हैं। किंतु एक बोली से

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पश्चिमी	१,८८,६६,६९२	..
पूर्वी	२,२७,३०,६०६	..
अनिर्णीत	३,३५,९८६	..
योग	४,१९,३३,२८४	४,९२,९४,०९९

दूसरी में परिवर्तन की गति इतनी मंद है कि उनमें से किसी एक के संबन्ध में यह कहना असंभव हो जाता है कि उसका आरम्भ कहाँ से होता है और कहाँ पर अंत। तो भी पूर्वी तथा पश्चिमी नाम की दो मुख्य शाखाएँ तो स्पष्ट ही हैं। इनमें पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत कलकत्ता तथा हुगली के चारों ओर बोली जानेवाली परिनिष्ठित भाषा आती है। दक्षिण-पश्चिम की विचित्र बोली मिदनापुर के मध्य-भाग में, और उत्तरी

पश्चिमी बँगला	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	८४,४३,९९६
पश्चिमी	३९,६७,६४१
दक्षिण-पश्चिमी	३,४६,५०२
उत्तरी	६१,०८,५५३
योग	१,८८,६६,६९२

बँगला गंगा के उत्तर, पूर्णिया तथा रंगपुर के मध्यवर्ती क्षेत्र में बोली जाती है। पश्चिमी बंगाल में एक पश्चिमी बोली भी है, जो पड़ोस की बिहारी बोलियों से प्रभावित है, और उसी क्षेत्र में हमें कुछ टूटीफूटो भाषाएँ भी मिलती हैं जो पर्वतीय जातियों में प्रचलित हैं। इनमें सबसे प्रमुख संथाल परगना तथा वीरभूमि की माल पहाड़िया है। इसे अब तक लोग द्रविड़ भाषा समझते थे; किंतु भाषा-सर्वेक्षण में इसे भ्रष्ट

टूटीफूटी बोलियाँ	सर्वेक्षण
खड़िया-ठार	२,२९८
पहाड़िया-ठार	४६२
माल पहाड़िया	२७,९०८
योग	३०,६६८

बँगला के रूप में अंकित किया गया है। उत्तरी बंगाल में तिब्बती-वर्मी कोच लोगों ने बहुत दिनों से अपनी मातृ-भाषा का परित्याग कर दिया है। किंतु इसके अवशेष उनके द्वारा व्यवहृत बँगला में मिलते हैं। और ज्यों-ज्यों हम उनके मूल-स्थान ब्रह्मपुत्र की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों यह अवशेष भी अधिक मात्रा में मिलता जाता है। पूर्णिया में बोली जानेवाली बँगला में पड़ोस की बिहारी भाषा मैथिली का अत्यधिक मिश्रण हुआ है और इधर बँगला भाषा को लिखने के लिए कैथी लिपि का प्रयोग किया गया है।

बंगाल की पूर्वी शाखा के केन्द्र-स्थान के रूप में ढाका जिले को माना जा सकता है, जहाँ परिनिष्ठित पूर्वी बँगला बोली जाती है। वास्तविक पूर्वी बँगला बोली ब्रह्मपुत्र के पश्चिम में नहीं बोली जाती, किंतु जब हम ढाका से आते हुए इस नदी को पार करते हैं तब हमें रंगपुर और इसके उत्तर तथा पूर्व के जिलों में एक उल्लेखनीय विशेष भाषा भी मिलती है, इसे राजबंगशी कहते हैं और यद्यपि यह निस्संदेह रूप से पूर्वी

पूर्वी बँगला	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	१,६६,१०,६५१
राजबंगशी	३५,०६,१७१
दक्षिण-पूर्वी	२३,१०,७८४
योग	२,२७,३०,६०६

शाखा की भाषा है तथापि उसमें और इसमें इतना अंतर है जिससे हमें इसे एक अलग बोली के रूप में रखने के लिए बाध्य होना पड़ता है। दार्जिलिंग की तराई में यह 'वाहे' नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वी बँगला की विशेषताओं के चिह्न हमें सर्वप्रथम खुलना तथा जैसोर जिलों एवं गंगा के डेल्टा के पूर्वी आधे भाग में दिखाई देते हैं। पूर्वी बँगला, यहाँ से उत्तर-पूर्वी दिशा में मेघना के काँठे तथा इसकी सहायक नदियों से संबन्धित टिपरा, ढाका, मैमनसिंह, सिलहट तथा कछार जिलों की ओर बढ़ती है। इसके आगे प्रत्येक दिशा में इन क्षेत्रों की पहाड़ियों के कारण इसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और सूरमा के काँठे एवं मैमनसिंह में एक संकर बोली मिलती है, जिसे अर्धसभ्य हैजोंग अथवा हाजोंग लोग बोलते हैं।

हैजोंग

वास्तव में यह बँगला तथा तिब्बती-बर्मी भाषा का मिश्रण है। बंगाल की खाड़ी के किनारे के पूर्वी भूभाग में ठीक इसी प्रकार की एक दक्षिण-पश्चिमी बोली बोली जाती है।

	सर्वेक्षण
हैजोंग	५,०००

चाकमा

भीतर की ओर एक विचित्र प्रकार की और बोली का क्षेत्र है। इसका नाम 'चाकमा' है तथा इसे चटगाँव की पहाड़ी जातियों के लोग बोलते हैं। इस अन्तिम बोली की अपनी लिपि है। यह बर्मी लिपि के ही समान है किन्तु उससे कहीं अधिक प्राचीन

	सर्वेक्षण
चाकमा	२०,८००

है। यहाँ 'डैंग्नेत' नामक एक अन्य संकर भाषा भी मिलती है। कुछ लोगों के अनुसार इसका सम्बन्ध बँगला से है किन्तु इधर के विवरण उपस्थित करनेवालों ने इसे चीन की मिश्रित भाषा कहा है और इसी रूप में इसका सर्वेक्षण में उल्लेख भी हुआ है।[1]

१. देखो पृष्ठ १४४

बँगला-उच्चारण

जिस युग में प्राकृत भाषाएँ भारत की साधारण बोलचाल की भाषा थीं उस युग में भारतीय आर्यों के उच्चारणावयव उन अक्षरों तथा ध्वनियों को, किसी कठिनाई के विना उच्चारण करने में असमर्थ थे, जो उनके पूर्वजों के लिए अत्यन्त सरल थीं। जिस प्रकार वे उनका भिन्न रूप में उच्चारण करते थे, उसी प्रकार वे उनका अक्षर-विन्यास भी भिन्न रूपों में करते थे। हिन्दू वैयाकरणों द्वारा उपस्थित किये हुए विवरणों के अनुसार हमें उनकी उच्चारण-शैली का पता चलता है। जब वे धन की देवी, जिसे उनके पूर्वज 'लक्ष्मी' कहते थे, के विषय में कुछ कहना चाहते थे तो उन्हें 'क्ष्म' के उच्चारण में बड़े कष्ट का अनुभव होता था। इसलिए उन्होंने इस शब्द का लिखने तथा बोलने में "लच्छी" अथवा ग्रामीण रूपान्तर "लक्खी" के रूप में सरलीकरण कर डाला। पुनश्च, जब वे पकाये हुए चावल को, जिसे उनके पूर्वज 'भक्त' कहते थे, माँगना चाहते थे तो उन्हें "क्त" के उच्चारण में अत्यधिक कठिनाई होती थी। यही कारण है कि इसके स्थान पर वे "भत्त" शब्द का उसी प्रकार प्रयोग करने लगे जिस प्रकार कि "फैक्टम" (factum) शब्द के उच्चारण में कठिनाई का अनुभव करके इताली वासी, बोलने तथा लिखने में "फैटो" (Fatto) शब्द का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार उनमें से कतिपय लोगों को जब "स" के उच्चारण में दुरूहता प्रतीत हुई तो उन्हें "श" का प्रयोग करना पड़ा और जब उन्हें समुद्र विषयक बातें करनी पड़ीं तो उसे "सागर" न कहकर "शागर" अथवा "शायर" कहा। अन्तिम उदाहरण के रूप में, जब उन्हें बाहर के लिए 'बाह्य' कहना था तो उच्चारण-सौकर्य के लिए उन्हें "बज्झ" कहना पड़ा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आधुनिक बँगला की उत्पत्ति ऐसी अपभ्रंश से हुई है जिसका मागधी-प्राकृत से अति निकट का सम्बन्ध था और ऊपर के सभी उदाहरण मागधी प्राकृत के ही हैं। उच्चारणावयवों की ठीक यही असमर्थता जो हजारों वर्ष पहले के बंगालियों के पूर्व-पुरुषों में विद्यमान थी आज उनमें भी मौजूद है। आज किसी भी बंगाली के लिए "क्ष्म" का उच्चारण उतना ही कठिन है जितना उसके पूर्वजों के लिए था। वह "स" का स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकता और उसे "श" में परिणत कर देता है। इसी प्रकार ह्य् के उच्चारण में उसे अत्यधिक कठिनाई होती है और वह उसे "ज्झ्" कहता है। यहाँ इस सम्बन्ध के थोड़े ही उदाहरण दिये जा रहे हैं किन्तु इनकी संख्या अनन्त है। यह होते हुए भी जब कोई बंगाली किसी शब्द को संस्कृत से ग्रहण करता है तो वह उसे उसी शुद्ध रूप में लिखता है जैसा कि वह दो हजार वर्ष पूर्व लिखा जाता था, किन्तु उसका उच्चारण वह इस प्रकार से करता

है मानो वह मागधी प्राकृत का ही शब्द हो। वस्तुतः वह लिखता है "लक्ष्मी" किन्तु पढ़ता है "लक्खी"। वह लिखता है "सागर" किन्तु पढ़ता है "शागर" और यदि कहीं अशिक्षित हुआ तो कहता है "शायर"। इसी प्रकार वह लिखता है "बाह्य" किन्तु इसका उच्चारण करता है "बज्झ"। दूसरे शब्दों में, वह लिखता तो संस्कृत है किन्तु पढ़ता है कोई अन्य भाषा। यह ठीक उसी भाँति है, जैसे कि कोई इटली का निवासी लिखे "फैक्टम" और पढ़े "फैटो" अथवा कोई फ्रेंच लिखे लैटिन "सिक्का" (sicca) किन्तु इसका उच्चारण करे "सेशे" (siche), अथवा वह लिखे डे होरा इन अब अन्ते' (de hora in ab ante) और उसे पढ़े "डोरे ना वाँ" (dore'navant)।

इन समस्त बातों का एक मात्र निष्कर्ष यही है कि किसी भी विदेशी के लिए बँगला का उच्चारण कठिनतम कार्य है। अंग्रेजी की ही भाँति बँगला का उच्चारण भी अक्षर-विन्यास के अनुसार नहीं होता, यद्यपि इसका कारण वही नहीं है जो अंग्रेजी का है। आधुनिक साहित्यिक अथवा साधु बँगला के शब्द-समूह में अधिकांश शब्द संस्कृत के हैं किन्तु इनमें से कुछ ही शब्द ऐसे हैं जो जैसे लिखे जाते हैं वैसे ही पढ़े भी जाते हैं। सच तो यह है कि संस्कृत की जटिल ध्वनियों के उच्चारण के लिए बंगाली प्रायः व्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं, क्योंकि शताब्दियों से इन ध्वनियों का उच्चारण न करने के कारण उनके उच्चारणोपयोगी अवयव असमर्थ एवं शिथिल हो गये हैं। फलतः बँगला के कई व्यंजनों का अर्ध एवं स्वरों का भंग उच्चारण होता है और इसके लिए प्राचीन बँगलाक्षरों में कोई नवीन चिह्न नहीं जोड़े गये हैं। इसका परिणाम यह है कि विदेशियों को इन ध्वनियों के उच्चारण के लिए बहुत भटकना पड़ता है क्योंकि इनके उच्चारण के लिए उनके स्वरयन्त्र उसी प्रकार से अनुपयुक्त हैं जिस प्रकार संस्कृत-ध्वनियों के उच्चारण के लिए बंगालियों के।

साहित्य

बँगला में मौलिक तथा जनप्रिय साहित्य उपलब्ध है। इसकी रचना पन्द्रहवीं शती से अठारहवीं शती के अन्तिम काल तक सम्पन्न हुई थी। इसके बाद तथाकथित ज्ञान एवं पाण्डित्य के पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप आधुनिक बँगला साहित्य अस्तित्व में आया। यह साहित्य अधिकांशतः अंग्रेजी आदर्श पर निर्मित हुआ है तथा इसके अन्तर्गत अनेक श्रेष्ठ ग्रंथ एवं कतिपय महान् कृतियाँ हैं किन्तु वास्तव में ये उतनी जनप्रिय नहीं हैं। पुराने लेखकों में सम्भवतः चण्डीदास तथा मकुन्दराम ही ऐसे हैं जिनकी कृतियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इनकी रचनाएँ हृदय से उद्भूत हुई हैं तथा इनके पदों में वास्तविक काव्य एवं शक्तिशाली वर्णन-शैली के दर्शन होते हैं।

मुकुन्दराम के कतिपय पदों का स्वर्गीय प्रोफेसर कावेल ने अंग्रेजी में सुन्दर अनुवाद किया है।

लिपि

बँगला-लिपि नागरी का ही उप-रूप है जो पूर्वी भारत में प्रायः ग्यारहवीं शताब्दी में प्रतिष्ठापित हुई थी। इसी लिपि के अन्य रूप, असमियाँ तथा मैथिल ब्राह्मणों द्वारा विहारी की उपभाषा मैथिली के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

असमियाँ

असमियाँ बाहरी उपशाखा की अन्तिम भाषा है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह असम घाटी की भाषा है। सुदूर पश्चिमी भाग को छोड़कर, जहाँ असमियाँ गोआलपाड़ा जिले में बँगला में अन्तर्भुक्त हो जाती है, इस सम्पूर्ण-क्षेत्र में केवल मात्र यही एक आर्यभाषा है। अन्यत्र यह हिन्दचीनी तथा आस्ट्रिक भाषाओं से पूर्णतया

असमियाँ	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पूर्वी अथवा परिनिष्ठित	८,५९,९५०	..
पश्चिमी	५,४३,५००	..
मयाँग	२३,५००	..
झरवा	९,०००	..
अनिर्णीत	११,६०२	..
योग	१४,४७,५५२	१७,२७,३२८

घिरी हुई है। इन आर्येतर भाषाओं का इस पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। इसमें कुछ शब्द अन्य भाषाओं से उधार लिये गये हैं और प्राचीन आर्य-भाषा के कतिपय रूप (जैसे सर्वनामीय प्रत्ययों का प्रयोग) भी इसमें सुरक्षित हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि पड़ोस की जातियों में भी इस प्रकार के मुहावरे प्रचलित रहे होंगे। पश्चिमी असमियाँ तथा घाटी के पूर्वी किनारे पर बोली जानेवाली भाषा में बहुत कम अन्तर है। किन्तु इसकी वास्तविक बोली मनीपुर राज्य तथा सिलहट और कछार के हिन्दुओं द्वारा बोली जानेवाली 'मयांग' अथवा 'विश्नुपुरिया' बोली है। भौगोलिक स्थिति के कारण मयांग, असमियाँ की अपेक्षा बँगला की विभाषा मानी जानी चाहिए और यदि इसका वर्गीकरण बँगला के अन्तर्गत किया जाय तो कुछ गलत भी न होगा,

किन्तु मैंने इसे असमियाँ के अन्तर्गत रखा है क्योंकि इसमें इस भाषा की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

झरवा

यहाँ पर एक मिश्रित व्यापारिक भाषा का भी उल्लेख किया जा सकता है जो गारो पर्वतमालाओं की तलहटी में 'झरवा' नाम से विकसित हुई है। यह बँगला, गारो तथा असमियाँ के सम्मिश्रण से निर्मित भाषा है। असमियाँ लोगों को अपने घर तथा प्रदेश से बेहद मोह है और असम घाटी के बाहर जिन स्थानों में इसके बोलनेवाले पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं, वे हैं इस प्रदेश की पर्वतमालाएँ तथा सिलहट एवं कछार के बँगला-भाषी जिले।

उड़िया की तरह असमियाँ भी बँगला की बहन है, पुत्री नहीं। यह उत्तरी बंगाल से होती हुई बिहार से आयी है, खास बंगाल से नहीं। एक बार इस विषय पर बड़ा विवाद हुआ था कि असमियाँ बँगला की एक बोली है अथवा नहीं? इसका मुख्य आधार इसके अधिकांश शब्द थे जिस पर अनन्त काल तक विवाद किया जा सकता है। वास्तव में भाषा तथा बोली में अन्तर स्पष्ट करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार 'विभेद' तथा 'प्रकार' एवं पहाड़ी तथा पहाड़ में अन्तर करना कठिन है। यह ठीक है कि असमियाँ का व्याकरण बँगला से किसी भी रूप में अधिक भिन्न नहीं है; किन्तु यदि उपलब्ध लिखित साहित्य की दृष्टि से इस सम्बन्ध में विचार करें तो यह निस्सन्देह सिद्ध हो जायगा कि असमियाँ का स्वतंत्र अस्तित्व है, यह स्वतंत्र जाति की भाषा है, इसका अपना स्तर है तथा यह बँगला से भिन्न है।

असमियाँ तथा बँगला की तुलना

असमियाँ तथा बँगला के उच्चारण में अत्यधिक अन्तर है। इसमें 'अ' का उच्चारण अंग्रेजी हॉट (hot) के 'ओ' की भांति तो होता ही है, इसके अतिरिक्त इसका एक उच्चारण अंग्रेजी "ग्लोरी" (glory) के 'ओ' की भाँति खींचकर भी किया जाता है। जिस प्रकार आधुनिक ग्रीक में मात्रा के बदले स्वराघात (Accent) का प्रयोग होता है, उसी प्रकार असमियाँ में ह्रस्व तथा दीर्घ स्वर में अत्यल्प अन्तर है। इसी प्रकार इसमें मूर्धन्य तथा दन्त्य व्यञ्जन वर्णों में अन्तर नहीं है क्योंकि इनका उच्चारण अर्ध-मूर्धन्य अंग्रेजी 'टी' (t) तथा 'डी' (d) की भाँति होता है। 'च' तथा 'छ' व्यञ्जनों का उच्चारण इसमें अंग्रेजी 'सिन्' (Sin) के 'स्' की तरह होता है और 'ज्' का उच्चारण अंग्रेजी एज्योर (Azure) के (z) की भांति होता है। दूसरी ओर "स्"

का उच्चारण कंठ से, एक विचित्र रूप से 'लोख' (Loch) में प्रयुक्त ख (ch) की तरह होता है। इसमें संज्ञा के रूप प्रायः बोलचाल की बँगला की भाँति ही होते हैं किन्तु क्रिया के रूपों में ऐसी अनेक विशेषताएँ मिलती हैं जिनका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। बँगला के मुकाबिले में असमियाँ (असमियाँ साहित्य तक) में तत्सम शब्दों का बहुत कम प्रयोग होता है।

साहित्य

असमिया लोगों का अपने जातीय साहित्य पर गर्व करना उचित ही है। इतिहास लेखन में, जिसमें शेष भारत बहुत पिछड़ा हुआ है, असमियाँ लोगों को अन्य साहित्य की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। गत छै सौ वर्षों की ऐतिहासिक घटनाएँ यहाँ सावधानी से सुरक्षित रखी गयी हैं और उनकी प्रामाणिकता विश्वसनीय हैं। ये इतिहास-ग्रंथ मूलतः आहोम विजेताओं के अनुकरण पर लिखे गये हैं। इनके नाम भी आहोम ही हैं और ये संख्या तथा परिमाण, दोनों में अधिक हैं। देश की परम्परा के अनुसार प्रत्येक असमियाँ भद्र पुरुष के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक था और प्रत्येक श्रेष्ठ वंश, सरकारी एवं अन्य कर्मचारी अपनी समकालीन घटनाओं का सूक्ष्म विवरण रखता था। किन्तु असमियाँ-साहित्य केवल इतिहास तक ही सीमित नहीं है। इसमें अन्य सत्तर ग्रंथों का भी विवरण मिलता है। ये मुख्य रूप से धार्मिक ग्रंथ हैं। असम प्रदेश के पुराने एवं श्रेष्ठ कवियों में श्री शंकरदेव का नाम सर्वोपरि है। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध भाग है। इन्होंने श्रीमद्भागवत पुराण का असमियाँ में अनुवाद किया था। अन्य कवियों में राम सरस्वती तथा माधव देव प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम ने 'महाभारत' तथा 'रामायण' का अनुवाद किया था तथा द्वितीय ने 'भक्ति-रत्नावली' तथा अन्य कविताओं की रचना की थी। आयुर्वेद का व्यावहारिक ज्ञान असम प्रदेश के अनेक उच्चवंश के लोग प्राप्त करते थे और भद्र लोगों के लिए तो इसका ज्ञान परमावश्यक समझा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि असमियाँ में इस विषय के अनेक ग्रंथों की रचना हुई। इन ग्रंथों में से अधिकांश संस्कृत के तद्विषयक ग्रंथों के अनुवाद हैं। इसी प्रकार पिछले पाँच सौ वर्षों में लिखित कम से कम चालीस असमिया नाटकों का विवरण मिलता है और इनमें से कई तो आज भी ग्रामीण "नामघरों" में खेले जाते हैं। सन् १८१९ में सिरामपुर के मिशनरियों ने सम्पूर्ण बाइबिल का अनुवाद असमियाँ में तैयार किया था और अब तक इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। बाद में अमेरिका के बैपटिस्ट मिशन प्रेस ने ईसाई धर्मसम्बन्धी एवं अन्य ग्रंथों को असमियाँ में प्रकाशित कराया

और इस प्रकार पड़ोस की बँगला भाषा के सम्मिश्रण से बचाकर उसके शुद्ध रूप को सुरक्षित रखा।

लिपि

असमियाँ तथा बँगला लिपि प्रायः एक ही है। इसमें व-ध्वनि को द्योतित करने के लिए एक नवीन चिह्न का प्रयोग किया जाता है जिसका बँगला-लिपि में अभाव है।

चौदहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाएँ---मध्य उपशाखा

पूर्वी हिन्दी

अब हम उस भाषा पर विचार करेंगे जो बाहरी तथा भीतरी उपशाखाओं की मध्यवर्तिनी है। यह उस प्रदेश की भाषा है जहाँ भगवान् रामचन्द्र ने जन्म ग्रहण किया था। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने इसी की मातृस्थानीया भाषा में अपने शिष्यों को धर्मोपदेश दिया था। इसी क्षेत्र की भाषा अर्धमागधी प्राकृत के रूप में विकसित

मध्य उपशाखा

पूर्वी हिन्दी	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
अवधी	१,६१,४३,५४८	..
बघेली	४६,१२,७५६	..
छत्तीसगढ़ी	३७,५५,३४३	..
योग	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[१]

होकर, बाद में जैनधर्म की पवित्र भाषा बनी तथा इसकी वर्तमान उत्तराधिकारिणी पूर्वी-हिन्दी अपनी काव्यात्मक प्रतिभा के प्रभाव के परिणामस्वरूप भगवान् राम की प्रेम-गाथा के प्रकाशन का माध्यम बनी। फलतः हिन्दुस्तान के आधे साहित्य की रचना के लिए इसका प्रयोग किया गया।

पूर्वी हिन्दी की तीन विभाषाएँ---अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी---छै प्रदेशों---अवध, आगरा (अब उत्तर प्रदेश), बघेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, छोटा नागपुर तथा मध्य-

१. जनगणना में पूर्वी हिन्दी के सभी बोलने वाले लोग पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत दिखाये गये हैं और वहाँ १३९९५२८ व्यक्ति पूर्वी हिन्दी भाषा भाषी बताये गये हैं। ऊपर जो संख्या दी गयी है, वह बहुत कुछ ठीक है।

प्रान्त (अब मध्यप्रदेश) के कुछ भागों को अधिकृत किये हुए हैं। हरदोई जिले तथा फैजाबाद के कुछ अंश को छोड़कर समस्त अवध में इसका विस्तार है। आगरा प्रान्त में यह मोटे तौर पर बनारस से लेकर बुन्देलखण्ड के हमीरपुर जिले तक फैली हुई है। इसके अन्तर्गत समस्त बघेलखण्ड, उत्तर-पूर्वी बुन्देलखण्ड, मिर्जापुर में सोनका पश्चिमी एवं दक्षिणी क्षेत्र, चंगभकार, सरगुजा, उदयपुर एवं कोरिया रियासतें तथा छोटा नागपुर में जशपुर रियासत का एक भाग आता है। मध्यप्रान्त (अब मध्य-प्रदेश) में यह जबलपुर तथा मंडला जिलों एवं छत्तीसगढ़ की सामन्तीय रियासतों के अधिकांश भाग में प्रसरित है।

विभाषाएँ

पूर्वी हिन्दी की तीनों बोलियाँ एक दूसरी से अत्यधिक मिलती-जुलती हैं। वास्तव में बघेली तथा अवधी में इतना कम अन्तर है कि यदि पृथक् विभाषा के रूप में बघेली का अस्तित्व जनता में स्वीकृत न होता तो मैं इसे अवधी की ही एक बोली मानता। छत्तीसगढ़ी पड़ोसी की मराठी तथा उड़िया भाषाओं के प्रभाव के कारण पर्याप्त अन्तर प्रदर्शित करती है, किन्तु अवधी से इसका निकट सम्बन्ध स्पष्ट है।

अवधी और बघेली

अवधी-बघेली विभाषा, उत्तर प्रदेश, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, चंगभकार तथा जबलपुर और मंडला जिलों के पूर्वी हिन्दी के सम्पूर्ण क्षेत्र को अधिकृत कर लेती है। यह मध्य-प्रदेश के पूर्वी तथा पश्चिमी भाग की बिखरी जातियों द्वारा भी बोली जाती है। यदि हम अवधी और बघेली की सीमारेखा का निर्धारण करना चाहें तो इसे, जहाँ से यमुना नदी फतेहपुर और बाँदा जिले के बीच में बहती है वहाँ से इलाहाबाद जिले की दक्षिणी सीमा तक मान सकते हैं। यह सीमा एक प्रकार से अनिश्चित ही है क्योंकि इन दोनों के बीच ऐसे विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर इन्हें पृथक् किया जा सके।

छत्तीसगढ़ी

छत्तीसगढ़ी, पूर्वी हिन्दी के शेष भाग को अधिकृत करती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उदयपुर, कोरिया तथा सरगुजा की रियासतें, जशपुर का एक भाग तथा छत्तीसगढ़ का अधिकांश भाग इसके अन्तर्गत आते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूर्वी हिन्दी, देश के उस विषम आयताकार भूमाग में फैली हुई है

जो नेपाल से प्रारम्भ होकर (किन्तु उसे सम्मिलित न करते हुए) मध्यप्रदेश की बस्तर रियासत तक, पूर्व से पश्चिम की अपेक्षा अधिकांशतः उत्तर से दक्षिण की ओर प्रसरित है। मोटे तौर पर इसकी औसत लम्बाई ७५० मील तथा औसत चौड़ाई २५० मील एवं क्षेत्रफल १,८७,५०० वर्गमील है। इसके बोलनेवालों की संख्या ब्राज़ील, चेको-स्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया की संयुक्त जन-संख्या अथवा संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध (अब उत्तर प्रदेश) की जनसंख्या के बराबर है।

प्रमुख क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य स्थानों की भाषा के रूप में

लखनऊ दरबार की भाषा का गौरव वहन करने के कारण अवधी अब उत्तर प्रदेश के पूर्व के आधे भाग तथा बिहार के अधिकांश भाग के मुसलमानों की भी भाषा हो गयी है, यद्यपि बिहार के इस क्षेत्र के हिन्दुओं की भाषा बिहारी है। यह कहना कठिन है कि इनमें से कितने मुसलमान अवधी का प्रयोग करते हैं, किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अनुमानतः यह संख्या दस लाख के लगभग होगी।

देशान्तर-स्थित अवधी-भाषी

पूर्वी हिन्दी-भाषियों की एक बहुत बड़ी संख्या उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बिखरी पड़ी है। अवधवासियों की एक बड़ी संख्या को जो नौकरी की खोज में बाहर गये हुए हैं, यदि छोड़ भी दें तो इस प्रदेश के बहुत से लोग हमारी (अंग्रेजी) सेना के सिपाही के रूप में मिलेंगे।

भाषागत सीमाएँ

पूर्वी हिन्दी, उत्तर में नेपाल-हिमालय की भाषाओं तथा पश्चिम में, पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न बोलियों से आवृत है जिनमें कनौजी तथा बुन्देली मुख्य हैं। इसके पूर्व में बिहारी की भोजपुरी एवं उड़िया भाषा का क्षेत्र है और दक्षिण में यह मराठी से घिरी हुई है।

बाहरी तथा भीतरी उपशाखा की भाषाओं में पूर्वी हिन्दी का स्थान

यदि हम इस विषय में पूर्णरूप से गवेषणा करें कि पूर्वी हिन्दी का उसके पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओं से क्या सम्बन्ध है तो इसके लिए बहुत स्थान की आवश्यकता होगी। उच्चारण के सम्बन्ध में यह पश्चिमी भाषाओं की मुख्य विशेषताओं का अनुसरण करती है किन्तु संज्ञा के रूपों (यद्यपि इसकी अपनी विशिष्टताएँ भी हैं) के सम्बन्ध में

यह प्रमुख रूप से बिहारी का अनुसरण करती है। इसी प्रकार सर्वनाम के रूपों में भी यह पूर्वीय-भाषाओं का अनुगमन करती है। उदाहरणार्थ इसके उत्तमपुरुष सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम का रूप "मोर" है न कि "मेरा"। क्रिया के रूपों में यह विशुद्ध मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण करती है। हम यह देख चुके हैं कि पूर्वीय भाषाओं का इस सम्बन्ध में विशेष लक्षण यह है कि ये अतीत-काल में ल-प्रत्ययान्त होती हैं तथा इनमें आवश्यकतानुसार विभिन्न पुरुषों के सर्वनामों के लघुरूप भी संयुक्त हो जाते हैं। पूर्वी हिन्दी में ल-कृदन्तीय रूपों का प्रयोग नहीं होता किन्तु बिहारी भाषा के पुरुषवाची-सर्वनामों के लघु रूप इसमें संयुक्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ पश्चिमी हिन्दी के अतीत काल के कृदन्त का रूप है "मारा", जो "मारिआ" का संक्षिप्त रूप है किन्तु इसका बिहारी रूप है "मारिल"। पश्चिमी हिन्दी के 'मारा' पद में कोई प्रत्यय नहीं है। बिहारी में इसका रूप है "मारिलस" जिसमें "स" वस्तुतः प्रत्यय है और इससे तात्पर्य है "वह" (अथवा यथार्थ में 'उसके द्वारा')। पूर्वी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी के 'मारिआ' रूप को ग्रहण करके उसमें बिहारी के 'स'–प्रत्यय को संयुक्त करती है और तब इसमें 'मारिअ-स' रूप सिद्ध होता है किन्तु प्रायः यह 'मारिस' रूप में उच्चरित होता है। भविष्यत् काल में तो इसमें और भी अधिक सम्मिश्रण हुआ है। इसका (पूर्वी हिन्दी का) उत्तम-पुरुष तो पूर्वी भाषाओं का अनुसरण करता है और अन्य पुरुष पश्चिमी भाषाओं का। मध्यमपुरुष इन दोनों के बीच डाँवाडोल स्थिति में रहता है। इस प्रकार "मैं मारूँगा" को पूर्वी हिन्दी में "मारबो" कहा जायगा किन्तु "वह मारेगा" को पश्चिमी हिन्दी में "मारिहै" कहा जायगा। इस तरह हम देखते हैं कि पूर्वी हिन्दी की स्थिति मध्य-देशीय एवं पूर्वी भाषाओं के बीच की है। इसकी यह स्थिति ठीक अर्ध-मागधी की ही भाँति है जिससे यह उद्भूत हुई है।

अवधी साहित्य

मलिक मुहम्मद

पूर्वी हिन्दी की दो विभाषाओं—अवधी तथा बघेली में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। इनमें से अवधी साहित्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रारम्भिक लेखकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय जायस के एक मुसलमान, मलिक मुहम्मद (सन् १५४० ई०) थे जिन्होंने प्रसिद्ध दार्शनिक महाकाव्य 'पद्मावती' की रचना की थी। इस ग्रंथ में उत्कृष्ट काव्य के माध्यम से परम सुन्दरी पद्मावती की प्राप्ति के लिए रतनसेन के प्रयास, अविजित चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के भयानक आक्रमण, रतनसेन की वीरता तथा विजयी तातार से प्रतिष्ठा एवं सतीत्व की रक्षा के लिए पद्मावती के प्राणोत्सर्ग का

वर्णन है। इसके साथ ही 'पद्मावत' एक रूपक भी है जिसमें आत्मा को विशुद्ध ज्ञान-तत्त्व की खोज में संलग्न दिखाया गया है और इस मार्ग में मानव को विचलित करनेवाले जो लोभ-मोह आदि आते हैं उनका भी चित्रण किया गया है। मलिक मुहम्मद के जीवन का आदर्श बहुत ऊँचा था और इस मुसलमान सन्त के ग्रन्थ में उसके देश-वासी हिन्दुओं के उच्च प्रेम, सहानुभूति एवं प्रेरणाओं के दर्शन होते हैं जो उस समय अन्धकार में प्रकाश टटोल रहे थे और जिसकी उन्हें कभी-कभी झलक भर मिल जाती थी।

तुलसीदास

इसके अर्ध शताब्दी के अनन्तर कवि एवं सुधारक गो० तुलसीदास (मृत्यु सन् १६२३ ई०) हुए। आप अंग्रेजी के कवि शेक्सपियर के समकालीन थे। तुलसीदास अद्भुत व्यक्ति थे और आज भी उनका जितना प्रभाव है, यदि उसे दृष्टि में रखते हुए हम विचार करें तो निश्चित रूप से उनकी गणना उन आधे दर्जन लेखकों में होगी जिन्हें एशिया ने उत्पन्न किया है। ऐसे महान् लेखक के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना ही उचित होगा। यूरोप के लोग गोस्वामीजी को केवल रामकथा के लेखक के रूप में जानते हैं किन्तु वे इससे कहीं महान् थे। वस्तुतः रामकथा के गायकों में उनका स्थान अन्यतम है। गंगा-यमुना के दोआब में निवास करनेवाले अनेक कृष्णभक्त कवियों के विपरीत वे काशी में रहते थे और वहाँ कीर्ति अर्जित करके अपने लिए अद्वितीय स्थान बना लिया था। उनके अनेक शिष्य थे—आज भी इनकी संख्या लाखों है किन्तु उनका अनुकरण करनेवाला कोई नहीं है। आज जब हम शताब्दियों पीछे की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उनके महान् व्यक्तित्व को अपनी ही ज्योति से प्रकाशित भारत के त्राणकर्ता एवं पथ-प्रदर्शक के रूप में पाते हैं। उनका प्रभाव कभी कम नहीं हुआ अपितु बढ़ता ही गया। जब हम तंत्रग्रस्त बंगाल के भाग्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं अथवा कृष्ण-पूजा के नाम पर होनेवाले विलासपूर्ण कृत्यों पर दृष्टिपात करते हैं तब हम तुलसीदासजी के महत्त्व का मूल्यांकन कर पाते हैं, जिन्होंने उत्तर भारत में सर्वप्रथम संसार के पापों की जघन्यता एवं भगवान् की अनन्त दया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था—

'चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, जो भगवान् से पूर्ण प्रेम करता है वही पूर्ण प्रार्थना भी करता है।' किन्तु गोस्वामीजी ने इस आदर्शमय धर्म का केवल उपदेश ही नहीं दिया अपितु जनता द्वारा इसे स्वीकृत कराने में भी उन्हें सफलता मिली। उन्होंने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया और न कोई धार्मिक सिद्धान्त ही स्थिर किये तथापि उनका

महान् ग्रंथ नौ करोड़ व्यक्तियों के लिए वैसा ही आदरणीय एवं मान्य है जैसी ईसाइयों के लिए बाइबिल और यह उन लोगों के लिए सौभाग्य की बात है कि ऐसे ग्रंथ का उन्हें पथप्रदर्शन प्राप्त है। जनता के लिए रामचरितमानस आदर्श-सिद्ध ग्रंथ है। इसका प्रभाव केवल बहुसंख्यक अशिक्षित लोगों पर ही नहीं पड़ा है किन्तु उनके अनुगामी अनेक ग्रंथकर्ताओं पर भी स्पष्ट है और विगत शताब्दी के आरम्भ से मुद्रणकला के आविर्भाव के साथ-साथ तो इनकी संख्या में विशेष रूप से अभिवृद्धि हुई है। रामायण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में श्री ग्राउज महोदय लिखते हैं—"दरबार से लेकर झोंपड़े तक प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में यह ग्रंथ मिलता है और हिन्दू जाति के प्रत्येक वर्ग ने चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो या वृद्ध, इसे पढ़ा, सुना और एक स्वर से इसकी प्रशंसा की है।" वास्तव में भारत के इतिहास में तुलसीदास के महत्त्व का मूल्यांकन करना सरल नहीं है। यदि थोड़ी देर के लिए मानस के साहित्यिक महत्त्व पर हम विचार न भी करें तो भी उसकी सार्वभौम स्वीकृति के सम्बन्ध में अत्यन्त विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा कि भागलपुर से पंजाब तथा हिमालय से नर्मदा तक इसका प्रचार एवं प्रसार है। आज से आधी शताब्दी पूर्व मुझसे एक वृद्ध पादरी ने कहा था कि उत्तर भारत के लोगों (की संस्कृति) को तब तक भली-भाँति नहीं समझा जा सकता जब तक तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है उसकी प्रत्येक पंक्ति को हृदयंगम न कर लिया जाय। अब मैं अनुभव कर रहा हूँ कि उस व्यक्ति का कथन कितना सत्य था।

भारत के साहित्य के इतिहास में गोस्वामीजी ने जो महान् स्थान प्राप्त किया उसका यह परिणाम हुआ कि उनके द्वारा व्यवहृत अवधी, उनके बाद से, उत्तर भारत में एक विशेष प्रकार की काव्य-रचना के लिए एक-मात्र भाषा स्वीकृत हो गयी। पिछली तीन शताब्दियों से भारतीय काव्य-साहित्य के लिए राम अथवा कृष्ण की कथाएँ ही वस्तुतः प्रेरणा का स्रोत रही हैं। कृष्ण के आरम्भिक जीवन की लीला-भूमि होने का सौभाग्य गंगा-यमुना के बीच के दोआब तथा उसके दक्षिण-स्थित मथुरा जिले को प्राप्त है और उनकी लीलाओं को अंकित करने के लिए इस क्षेत्र की भाषा ब्रजभाखा अपनायी गयी है। किन्तु राम-साहित्यसम्बन्धी प्रभूत साहित्य-रचना के लिए अवधी का व्यवहार किया गया है। इतना ही नहीं, अवधी का प्रयोग इससे बहुत अधिक हुआ है और कृष्ण काव्य को छोड़कर उत्तर भारत के शेष साहित्य के दस भागों में से नौ भागों की रचना अवधी में हुई है। उदाहरणस्वरूप गत शताब्दी के आरम्भ में काशीनरेश के लिए महाभारत जैसे बृहत् ग्रंथ का अनुवाद अवधी में प्रस्तुत किया गया था। इस बोली में रचना करनेवालों की संख्या अधिक है और इसमें कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

बघेली साहित्य

अवधी के एक अन्य रूप बघेली में भी प्रचुर साहित्य है। रीवाँ के राजाओं की संरक्षकता में यहाँ बघेली के अनेक कवि हुए जिनकी रचनाओं की आज भी पर्याप्त ख्याति है। ये अच्छे विद्वान् थे तथा इन्होंने रीति-ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों से काव्यालोचन-सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म तत्त्वों का विकास हुआ किन्तु इनके रचयिता वास्तव में स्वयं काव्य-स्रष्टा न थे।

पंद्रहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाएँ—भीतरी उपशाखा

अब हम भीतरी उपशाखा की भाषाओं पर विचार करेंगे। इस उपशाखा की भाषाएँ दो समुदायों—केन्द्रीय तथा पहाड़ी—में विभाजित हैं। केन्द्रीय समुदाय के अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, भीली तथा खानदेशी आती हैं।

भीतरी उपशाखा	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
केन्द्रीय समुदाय	८,१६,६५,८२१	८,१७,४५,९५५
पहाड़ी समुदाय	२१,०४,८०१	१९,१७,५३७
योग	८,३७,७०,६२२	८,३६,६३,४९२

केन्द्रीय समुदाय	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पश्चिमी हिन्दी	३,८०,१३,९२८	४,१२,१०,९१६[1]
पंजाबी	१,२७,६२,६३९	१,६२,३३,५९६[2]
राजस्थानी	१,६२,९८,२६०	१,२६,८०,५६२
गुजराती	१,०६,४६,२२७	९५,५१,९९२
भीली	२६,९१,७०१	१८,५५,६१७
खानदेशी	१२,५३,०६६	२,१३,२७२
योग	८,१६,६५,८२१	८,१७,४५,९५५

१. पृष्ठ २९१ की पाद-टिप्पणी देखो।

२. जनगणना में पंजाबी के अन्तर्गत अनेक लहँदा भाषी भी सम्मिलित कर लिये गए हैं।

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिन्दी पंजाबस्थित सरहिन्द तथा उत्तर प्रदेश-स्थित इलाहाबाद के मध्यवर्ती क्षेत्र की भाषा है। वस्तुतः यह भूभाग प्राचीन काल का मध्य-देश है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।[१] यही भारतीय आर्यों की पवित्र जन्मभूमि भी है। इसी भूभाग से होकर भारत के पौराणिक युग की रहस्यपूर्ण नदी, सरस्वती अदृश्य रूप से प्रवाहित होती है और पूर्वी पंजाब के बालुकामय प्रदेश में विलीन होकर, प्रयाग में गंगा-यमुना से मिलकर त्रिवेणी का निर्माण करती है। उत्तर में पश्चिमी हिन्दी हिमालय की तराई तक विस्तृत है, किन्तु दक्षिण में यह पूर्व दिशा के अतिरिक्त, जहाँ यह बुन्देलखण्ड के अधिकांश भाग तथा मध्यप्रदेश के कुछ भाग को आवृत करती है,

पश्चिमी हिन्दी	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
हिन्दुस्तानी	१,६६,३३,१६९	..
बाँगरू	२१,६५,७८४	..
ब्रजभाखा	७८,६४,२७४	..
कनौजी	४४,८१,५००	..
बुन्देली	६८,६९,२०१	..
योग	३,८०,१३,९२८	४,१२,१०,९१६

यमुना के काँठे से अधिक दूर तक नहीं जाती। इसके बोलनेवालों की संख्या तीन करोड़ अस्सी लाख है जो प्रायः इटली के बराबर तथा इंगलैंड की जनसंख्या से चालीस लाख अधिक है। इसकी कई स्वीकृत बोलियाँ हैं जिनमें हिन्दुस्तानी, ब्रजभाखा, कनौजी तथा बुन्देली प्रमुख हैं। इसमें दक्षिण-पूर्वी पंजाब की भाषा बाँगरू को भी सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें से हिन्दुस्तानी अब साहित्य की भाषा बनती जा रही है, अतएव इस पर सबसे बाद में विचार करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

ब्रजभाखा

ब्रजभाखा का मुख्य क्षेत्र केन्द्रीय दोआब तथा इससे सटे हुए दिल्ली के दक्षिणी भाग से लेकर इटावा तक का प्रदेश है। इसका मुख्य केन्द्र मथुरा शहर के चारों ओर

१. देखो, पृष्ठ २१६

है। यमुना के दक्षिण तथा पश्चिम में यह गुड़गाँव, भरतपुर तथा करौली राज्य एवं ग्वालियर राज्य के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में बोली जाती है। पश्चिम और दक्षिण में यह धीरे-धीरे राजस्थानी में अन्तर्भुक्त हो जाती है। प्रायः दो सहस्त्र वर्षों से अधिक समय तक मथुरा क्षेत्र भारतीय आर्य-सभ्यता का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। परम्परा के अनुसार भगवान् कृष्ण ने अपने आरम्भिक जीवन की लीला यहीं विस्तारित की थी। इस प्रकार यह स्वाभाविक था कि इस प्रदेश की भाषा, जो सीधे शौरसेनी प्राकृत से उद्भूत है, साहित्य के लिए प्रयुक्त की जाती। संस्कृत नाटकों में उच्चवर्गीय नारी पात्रों की साधारण वार्ता इस शौरसेनी प्राकृत में ही मिलती है तथा दिगम्बर जैन लोगों ने इसी के एक रूप का अपने धार्मिक ग्रंथों में प्रयोग किया है। प्राचीन काल में शूरसेन देश का एक भाग 'व्रज' अर्थात् गोचरभूमि के नाम से विख्यात था। इसी से आधुनिक ब्रज शब्द की उत्पत्ति हुई, जिसके नाम पर इसकी भाषा का "ब्रजभाखा" नामकरण किया गया। आधुनिक भाषा के अत्यधिक प्रसिद्ध लेखक अन्ध-कवि सूरदास थे जिनकी कविता का उत्कर्षकाल सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग था। जिस प्रकार तुलसी-दास ने रामकथा का गान किया उसी प्रकार सूरदास ने कृष्ण-कथा का गान किया था। भारतीय विचारधारा के अनुसार इन दोनों ने ही काव्य-कला को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि अन्य सामान्य कवियों ने एक भी ऐसी पंक्ति नहीं लिखी जो इन कवि-गुरुओं में से किसी एक की रचना में न मिलती हो। यूरोपीय विद्वानों के अनुसार इन दोनों में बहुत थोड़ी समानता है। सूरदास ने प्रभूत परिमाण में रचना की। उन्होंने केवल एक ही स्वर में गाया और निस्सन्देह वह बहुत मधुर था। किन्तु तुलसी सुधारक एवं महात्मा थे। उन्होंने न तो किसी सम्प्र-दाय की स्थापना की और न किसी निर्धारित विश्वास को मानने के लिए ही उपदेश दिया। वे प्रायः समस्त मानवीय भावनाओं के कुशल गायक थे। सूर केवल एक सम्प्र-दाय के प्रतिष्ठापक ही न थे वरन् वे एक ऐसी कवि-परम्परा के स्रष्टा भी थे जिसका मुख्य वर्ण्य-विषय कृष्ण की यौवनलीला अथवा गोपीकृष्ण की लीला था। यह परम्परा आज भी चल रही है और इसके कवि ब्रजभाखा के माध्यम से ही अपने भावों की अभि-व्यक्ति करते हैं। इनके अनुगमन करनेवालों में सबसे प्रसिद्ध बिहारीलाल हुए जिनका समय सत्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल है तथा जिनकी 'सतसई' विख्यात है।

कनौजी

कनौजी, निचले दोआब के प्रायः इटावा जिले से लेकर इलाहाबाद के निकटवर्ती प्रदेश तक की बोली है। कनौज के प्राचीन शहर के दूसरी ओर, जिससे इसने अपना

नाम ग्रहण किया है, यह गंगा को पार कर हरदोई जिले के और उत्तर के भूमिभाग तक प्रसरित है। ब्रजभाखा से इसका बहुत निकट का सम्बन्ध है और वास्तव में यह उसकी उपभाषा जैसी ही है। अपनी पड़ोसी भाषा (ब्रज) के अत्यधिक आधिपत्य में होने के कारण इसमें बहुत कम साहित्य-रचना हुई है; किन्तु विगत शताब्दी के आरम्भ में सिरामपुर के मिशनरी लोगों ने इसमें बाइबिल (न्यू-टेस्टामेंट) का अनुवाद किया था। यदि हम इस अनुवाद को प्रामाणिक मान लें तो आधुनिक कनौजी से व्याकरण-सम्बन्धी ऐसे अनेक रूप लुप्त हो गये हैं जो एक शताब्दी पूर्व उसमें वर्तमान थे और जो आज भी राजस्थान की कुछ बोलियों तथा नेपाल की खस बोली में उपलब्ध हैं।

बुन्देली

बुन्देली पश्चिमी हिन्दी की बोली है। यह बुन्देलखण्ड तथा उसके समीपस्थ प्रदेशों में बोली जाती है। इसमें न केवल बुन्देलखण्ड एजेन्सी ही सम्मिलित है वरन् इसके अन्तर्गत जालौन, हमीरपुर, झाँसी तथा ग्वालियर राज्य का पूर्वी भाग भी आ जाता है। यह भूपाल तथा दमोह के समीपवर्ती क्षेत्रों; सागर, सिवनी, नरसिंहपुर तथा मध्यप्रदेश के होशंगाबाद एवं छिंदवाड़ा जिलों के कुछ भागों में भी बोली जाती है। बाँदा, यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत ही आता है किन्तु यहाँ बुन्देली नहीं बोली जाती। यहाँ मिश्रित बोली का व्यवहार होता है किन्तु मुख्यतया वह बघेली ही है। बुन्देली में थोड़ा साहित्य भी है। इसका आरम्भ छत्रसाल तथा उनके थोड़े ही समय पूर्व के पूर्वजों के समय, अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से होता है। सिरामपुर के मिशनरियों ने इसमें भी बाइबिल (न्यू-टेस्टामेंट) का अनुवाद किया था। महोबा नगर बुन्देलखण्ड में ही है। इसके वैभव तथा इस पर पृथ्वीराज के आक्रमण एवं आल्हा-ऊदल की वीरता का वर्णन "आल्ह-खण्ड" नामक लोकगाथा में उपलब्ध है। बुन्देली में लिखित इस गाथा को उत्तर भारत के चारण चारों ओर गाते फिरते हैं।

ये तीनों विभाषाएँ—ब्रजभाखा, कनौजी तथा बुन्देली—परस्पर बहुत निकट हैं और भीतरी उपशाखा की भाषा के विशिष्ट एवं विशुद्ध रूप हैं।

बाँगरू

पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग में बोली जानेवाली पश्चिमी-हिन्दी के अनेक स्थानीय नाम हैं, किन्तु सर्वत्र इसका रूप एक ही है। हरियाना प्रदेश के हिसार एवं जींद क्षेत्रों में यह यूरोपीय विद्वानों द्वारा 'हरियानी' नाम से अभिहित की जाती है। भाषा के इसी

रूप को रोहतक, दुजन तथा दिल्ली एवं कर्नाल के आस-पास के क्षेत्रों में हिन्दी कहा जाता है। इस प्रदेश के निवासी जाति अथवा क्षेत्र के अनुसार इसे कभी 'जाटू' अथवा कभी बाँगरू कहते हैं। गंगा के पश्चिम, दक्षिण-पश्चिमी पंजाब के ऊँचे तथा सूखे बाँगर प्रदेश की भाषा का यह बाँगरू नाम बहुत ही उपयुक्त है और आगे यह इसी नाम से अभिहित की जायगी। पश्चिमी हिन्दी की इस बोली के उत्तर तथा पश्चिम में पंजाबी और दक्षिण में अहीरवाटी और मारवाड़ी [दोनों राजस्थानी की विभाषाएँ] हैं। बाँगरू में इन तीनों बोलियों का सम्मिश्रण मिलता है, यद्यपि इसका आधार पश्चिमी हिन्दी ही है। उत्तर में इसका विस्तार-क्षेत्र कर्नाल से आगे नहीं है। कर्नाल के उत्तर में स्थित अम्बाला जिले के पश्चिम में बोली जानेवाली पश्चिमी हिन्दी का रूप प्रायः ऊपरी दोआब में व्यवहृत 'हिन्दुस्तानी' के अनुरूप ही है। इसका वर्णन आगे किया जायगा। पश्चिमी अम्बाला में पंजाबी बोली जाती है।

हिन्दुस्तानी

स्थानीय बोली के रूप में हिन्दुस्तानी पश्चिमी हिन्दी की विभाषा है जो धीरे-धीरे पंजाबी में अन्तर्भुक्त होती जाती है। इसका व्याकरण तो पश्चिमी हिन्दी का है किन्तु इसके प्रत्यय पंजाबी के हैं। पश्चिमी हिन्दी का वास्तविक सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग—"कौ" है जिसका पंजाबी रूप—"दा' है। पश्चिमी-हिन्दी की विभाषा हिन्दुस्तानी ने "कौ" से "क्" और पंजाबी के "दा" से "आ" ग्रहण करके "का" अनुसर्ग का निर्माण किया है। इसी प्रकार इसके विशेषण तथा कृदन्त-पदों का भी निर्माण हुआ है।

स्थानीय बोली के रूप में

हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक है—(१) पश्चिमी हिन्दी की स्थानीय बोली के रूप में, (२) हिन्दुस्तान की विख्यात साहित्यिक भाषा तथा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित भाषा (अन्तर्प्रान्तीय भाषा) के रूप में। स्थानीय बोली के रूप में इसे गंगा के ऊपरी दोआब, रुहेलखण्ड तथा पंजाब के अम्बाला जिले के पूर्व में बोली जानेवाली पश्चिमी हिन्दी की विभाषा माना जा सकता है। रुहेल-खंड में यह धीरे-धीरे कनौजी तथा अम्बाला में पंजाबी में अन्तर्भुक्त हो जाती है। गुड़गाँव को छोड़कर, जहाँ हिन्दुस्तानी का ब्रजभाखा में अन्तर्भाव हो जाता है, शेष पूर्वी पंजाब की भाषा बाँगरू है। गुड़गाँव के पूर्व में तो वस्तुतः ब्रजभाखा प्रतिष्ठापित है। इसके निकटस्थ प्रदेशों की भाषा का रूप, केवल कुछ साधारण बातों को छोड़कर,

प्रायः वही है जो हिन्दुस्तानी-व्याकरण में उपलब्ध है।[१] किन्तु वास्तव में हिन्दुस्तानी की प्रतिष्ठा ऊपरी दोआब की स्थानीय बोली के रूप में उतनी नहीं है।

साहित्यिक तथा अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में

यूरोपवालों के लिए यह सामान्यतः सम्पूर्ण भारत की और विशेष रूप से हिन्दुस्तान की शिष्ट भाषा है। स्वयं इसका नाम भी यूरोपवालों की ही देन है; साथ ही यह इस बात की ओर संकेत भी करता है कि यह नाम केवल प्रस्ताव मात्र ही है। जो लोग यूरोप के लोगों के प्रभाव में हैं, उनके अतिरिक्त अन्य भारतीय इस नाम का बहुत कम प्रयोग भी करते हैं। अन्तर्प्रान्तीय भाषा[२] के रूप में हिन्दुस्तानी दिल्ली दरबार से संयुक्त बाजार से उद्भूत होकर, मुगल साम्राज्य के सेनानायकों द्वारा भारतवर्ष में चारों ओर फैलायी गयी। तब से इसका स्थान सुरक्षित है। इसके अनेक भेद हैं जिनमें उर्दू, रेख्ता, दक्खिनी तथा हिन्दी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

१. यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि यहाँ हिन्दुस्तानी तथा उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है वह बहुत से लेखकों द्वारा दिये गये विवरण से अत्यधिक भिन्न है। बात यह है कि इस सम्बन्ध में इन लेखकों का आधार 'मीर अम्मन कृत' बागो बहार की भूमिका है। मीर अम्मन के अनुसार उर्दू एक प्रकार की मिश्रित भाषा है, और इसकी उत्पत्ति दिल्ली बाजार में विभिन्न जातियों के मिलने से हुई है।

ऊपर उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह सर्वप्रथम सन् १८८० में सर चार्ल्स लायल (Sir Charles Lyall) द्वारा प्रस्तुत किया गया था और भाषा-सर्वेक्षण ने यह सिद्ध कर दिया है कि श्री लायल का विचार इस सम्बन्ध में पूर्णतः ठीक था। वास्तव में हिन्दुस्तानी ऊपर दोआब की बोल-चाल की भाषा है और इसी पर साहित्यिक पालिश चढ़ायी गयी है और इसके साथ ही साथ इनमें से कुछ ग्रामीण मुहावरे निकाल भी दिये गये हैं।

२. किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में ही यहाँ पर मैंने यह शब्द (Lingua Franca) का प्रयोग किया है, यद्यपि यह बहुत उपयुक्त नहीं है। वास्तव में लिंगुआ फ्रेंका एक मिश्रित भाषा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। परन्तु यद्यपि हिन्दुस्तानी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में व्यवहृत होती है, तथापि वह मिश्रित भाषा नहीं है। इस विचार को प्रकट करने के लिए मेरे पास अंग्रेजी में कोई अन्य शब्द नहीं है।

उर्दू

उर्दू हिन्दुस्तानी का वह रूप है जो फारसी लिपि में लिखा जाता है तथा जिसमें फारसी-अरबी शब्द स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहृत होते हैं। 'उर्दू' शब्द की उत्पत्ति 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा दिल्ली के किले की शाही छावनी से बतलायी जाती है। प्रधान रूप से यह पश्चिमी हिन्दुस्तान के शहरों में, मुसलमानों तथा फारसी संस्कृति से प्रभावित हिन्दुओं द्वारा बोली जाती है। यह सत्य है कि हिन्दुस्तानी की प्रत्येक शैली में कुछ न कुछ फारसी शब्दों का व्यवहार होता है। यहाँ तक कि ये (फारसी-शब्द) पृथ्वीराज के पत्र व्यवहार तक में मिलते हैं जो तुर्कों के भारत-विजय के पूर्व दिल्ली के शासक थे। फारसी के कई शब्द तो ग्रामीण बोलियों तक पहुँच गये हैं और काशी के हरिश्चन्द्र जैसे आधुनिक हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक तक ने इनका व्यवहार किया है। ऐसे (फारसी) शब्दों को बहिष्कृत करके भाषा को शुद्ध बनाना वैसा ही होगा जैसे अंग्रेजी से लैटिन शब्दों का बहिष्कार करना होगा। किन्तु उच्च-उर्दू में फारसी शब्दों का व्यवहार अत्यधिक मात्रा में हुआ है। इस स्तर की रचनाओं में, सम्पूर्ण वाक्य में, केवल व्याकरण मात्र तो भारतीय रहता है अन्यथा आदि से अन्त तक सभी शब्द फारसी के रहते हैं। जैसा कि सर चार्ल्स लायल ने ठीक ही लिखा है, यह विचित्र बात है कि हिन्दुस्तानी में फारसी की यह अतिशय बहुलता उन विजेताओं के कारण नहीं हुई है जो यहाँ की जनता की भाषा से अपरिचित थे। इसके विपरीत उर्दू की उन्नति का श्रेय उन सहज स्वभाववाले हिन्दुओं को है जो अपने शासकों की भाषा को ग्रहण करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। इसके प्रणेता वस्तुतः शासन में नियुक्त और फारसी से परिचित कायस्थ तथा खत्री थे, ईरान के लोग अथवा फारसी से प्रभावित तुर्क लोग नहीं, जो कई शताब्दियों तक साहित्यिक कार्यों के लिए अपनी ही भाषा का व्यवहार करते थे।[1]

१. इसी प्रकार से अंग्रेजी भी भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त हो रही है। एक घोड़ा डाक्टर ने कुत्ते द्वारा अपने घाव के चाटे जाने के सम्बन्ध में मुझसे कहा।

"कुत्ते का सैलिवा बहुत एन्टीसेप्टिक है Kutte ka saliva bahut antiseptic hai" **इसी प्रकार डा० ग्राहम बेली** (Grahame Bailey) **ने एक पंजाबी दाँत के डाक्टर को अपने को डाक्टर के दाँत निकालने में व्यस्त देखकर कहते सुना "कन्टिनुअली इक्सकवेट न करो,** Continually Excavate na karo" **सन् १९११ की यू० पी० की जनगणना के पृष्ठ २८४ में एक वकील के वाक्य इस रूप में उद्धृत किये गये हैं "इस पोजीशन का इनकन्ट्रोवर्टिबुल प्रूफ दे सकता हूँ।"**

इसका एक परिणाम यह हुआ कि उनकी बोलचाल की भाषा को लिखने के लिए फारसी लिपि व्यवहृत होने लगी और इसके फलस्वरूप फारसी शब्दों का भी अधिक व्यवहार होने लगा जिन्हें लिखने में यह लिपि अधिक अभ्यस्त थी। "फारसी अब भारत के लिए विदेशी भाषा नहीं है। यद्यपि इसका अत्यधिक प्रयोग रुचिकर नहीं है तथापि हिन्दू (हिन्दी ?) साहित्य से इसे बहिष्कृत करने का प्रयास (जैसा कि कुछ लोगों ने किया है) मूर्खतापूर्ण तथा राजनीतिक भूल होगी।" मैंने यह उद्धरण सर चार्ल्स लायल की पुस्तक[1] से केवल यह प्रदर्शित करने के लिए दिया है कि एक प्रतिष्ठित विद्वान् एक विवादग्रस्त प्रश्न के एक पक्ष पर किस प्रकार अपना विचार प्रकट करता है। उसने जिस सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह ठीक है और मेरा विचार है कि इसका कोई विरोध भी नहीं करेगा। हिन्दुस्तानी में जब कोई शब्द घरेलू बनकर मान्यता प्राप्त कर लेता है तब किसी को भी उसके प्रयोग पर आपत्ति करने का अधिकार नहीं है, चाहे उसका मूलस्रोत कुछ भी क्यों न हो। हाँ, लोगों के विचार इस सम्बन्ध में अवश्य ही भिन्न हो सकते हैं कि किस शब्द को इस प्रकार की मान्यता प्राप्त हो चुकी है और किसे नहीं। अन्ततोगत्वा यह शैली का प्रश्न है और अंग्रेजी की भाँति ही हिन्दुस्तानी की भी अनेक शैलियाँ हैं। मैं स्वयं उस हिन्दुस्तानी का पक्षपाती हूँ जिसमें सन्देहात्मक शब्दों को स्थान नहीं दिया जाता, किन्तु मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि वास्तव में यह रुचि का प्रश्न है।

रेख़्ता, रेख़्ती

रेख़्ता (विकीर्ण अथवा मिश्रित) उर्दू का वह रूप है जो पुरुषों द्वारा कविता में व्यवहृत होता है। यह नाम रचना की उस शैली से ग्रहण किया गया है जिसमें फारसी शब्द बिखरे रूप में प्रयुक्त होते हैं। जब उस विशेष बोली में कविता की रचना की जाती है जो स्त्रियों में प्रचलित है तथा जिसका शब्द-समूह भी उन्हीं का होता है तो उसे रेख़्ती नाम से अभिहित किया जाता है।

और मेरा ओपिनियन यह है कि डिफेन्स का आर्गूमेन्ट वाटर होल्ड नहीं कर सकता है।"
Is position ka incontrovertible proof de sakata hun aur mera opinion yeh hai ki defence ka argument water hold nahi kar sakata hai

१. Sketch of the Hindustani language [Edinburgh 1880 p. 9.]

दक्खिनी

दक्खिनी हिन्दुस्तानी का वह रूप है जिसका प्रयोग दक्षिण (डेकैन) में रहनेवाले मुसलमान करते हैं। उर्दू की भाँति यह भी फारसी लिपि में ही लिखी जाती है, किन्तु यह फारसी शब्दों से बहुत-कुछ मुक्त है। इसमें हिन्दी व्याकरण के कई ऐसे रूप (जैसे "मुझको" के लिए "मेरे को") सुरक्षित हैं जो उत्तर भारत के ग्रामीण लोगों में प्रचलित हैं किन्तु जो साहित्यिक भाषा में नहीं प्रयुक्त होते। इसकी कतिपय स्थानीय बोलियाँ भूतकालिक सकर्मक क्रिया के पूर्व, कर्ता कारक के अनुसर्ग—'ने' का व्यवहार नहीं करतीं जो वास्तव में पश्चिमी हिन्दुस्तान की समस्त विभाषाओं का एक प्रमुख लक्षण है।[1]

हिन्दी

हिन्दी शब्द का कई विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। यह वस्तुतः फारसी शब्द है, भारतीय नहीं। फारसी लेखकों ने इसका प्रयोग हिन्द (भारत) के निवासियों के लिए, उन्हें हिन्दुओं अथवा मुसलमानेतर भारतीयों से पृथक करने के लिए किया है। अमीर खुसरो लिखता है—"जो भी जीवित हिन्दू बादशाह के हाथों में पड़ा उसे हाथी के पावों के नीचे कुचलवा दिया गया; किन्तु मुसलमान जो 'हिन्दी' थे, उनकी जिन्दगी बख्श दी गयी।"[2] इस अर्थ में (और इस अर्थ में इसका प्रयोग आज भी हिन्दुस्तान में होता है) बँगला और मराठी भी उतनी ही हिन्दी हैं जितनी दोआब की भाषा (हिन्दी)। दूसरी ओर यूरोपीय लोग इस (हिन्दी) शब्द का दो परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयोग करते हैं। इनमें से एक अर्थ में, हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है जिसका रूप संस्कृत-गर्भित अथवा फारसी-रहित होता है तथा जिसका प्रयोग हिन्दू लोग साहित्यिक भाषा के रूप में करते हैं। इसके मुद्रण के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता है। दूसरे अर्थ में, कभी-कभी हिन्दी का प्रयोग, साधारणतः बंगाल तथा पंजाब के मध्य में बोली जानेवाली समस्त ग्रामीण बोलियों के लिए किया जाता है। इन पृष्ठों में, मैं 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार इनमें से केवल प्रथम अर्थ में ही कर रहा हूँ। अतएव यह हिन्दी—कभी-कभी इसे 'उच्च हिन्दी' भी कहा जाता है—उन हिन्दुओं की साहित्यिक गद्य की भाषा

१. मोटे तौर पर, बम्बई की दक्खिनी तथा सतपुड़ा के उत्तर की बोली में अनुसर्ग 'ने' का प्रयोग होता है; किन्तु यह प्रयोग मद्रास की दक्खिनी में नहीं होता।

२. इलियट, हिस्ट्री आफ इन्डिया [Elliot, History of India, iii 539]

है जो उर्दू का व्यवहार नहीं करते। यह हाल की ही भाषा है और इसका प्रचलन अंग्रेजों के प्रभाव से विगत शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था। उस समय तक, जब कोई भी हिन्दू गद्य लिखता था और वह उर्दू का प्रयोग नहीं करता था तो वह अपनी स्थानीय बोली; अवधी, बुन्देली, ब्रजभाखा तथा वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी आदि का ही व्यवहार करता था। लल्लूलाल[1] ने डाक्टर गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रेम-सागर' लिखकर इन सबमें बड़ा परिवर्तन उपस्थित कर दिया। जहाँ तक 'प्रेमसागर' के गद्य भाग का सम्बन्ध है, यह ग्रंथ क्रियात्मक रूप में उर्दू में ही लिखा गया है, किन्तु इसके लेखक ने उन स्थानों में जहाँ उर्दू-गद्य का लेखक फारसी शब्दों का प्रयोग करता भारतीय आर्य भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। लल्लूलाल का यह कार्य वस्तुतः ऊपरी दोआब की वास्तविक भाषा की ओर, अपने-आप, प्रत्यावर्तित होने का था। यह नूतन प्रयोग वास्तव में प्रारम्भ से ही सफल रहा। इस प्रथम ग्रन्थ में वर्णित विषय ने समस्त धार्मिक हिन्दुओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और अरबी की भाँति लेखक की संगीतात्मक एवं लयात्मक शैली ने उनके कर्ण-कुहरों को आनन्द से आप्लावित कर दिया। फिर इस भाषा ने एक अभाव की भी पूर्ति की। इसने हिन्दुओं को एक राष्ट्रभाषा प्रदान की। इसने दूरस्थ प्रदेशों में रहनेवाले लोगों को उनके विचार व्यक्त करने के लिए एक ऐसी भाषा दी जिसमें मुसलमानों के अपावन शब्द न थे। यह सर्वत्र ही सहज बोधगम्य थी क्योंकि यह वह भाषा थी जिसे प्रत्येक हिन्दू शासन से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों में प्रयुक्त करता था तथा जिसका शब्द-समूह उत्तरी भारत की समस्त भारतीय आर्य-भाषाओं की सम्मिलित सम्पत्ति थी। इसके अतिरिक्त इसके पूर्व, टीका तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों को छोड़कर, किसी भी भारतीय भाषा में बहुत ही कम गद्य लिखा गया था। तब तक सम्पूर्ण रूप से साहित्य की रचना केवल पद्यों तक ही सीमित थी। अतएव बंगाल से लेकर पंजाब तक, सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में प्रेमसागर की भाषा स्वाभाविक रूप से हिन्दू-गद्य का आदर्श बन गयी और आज तक इसने अपना स्थान उसी रूप में अक्षुण्ण रखा है। आज उत्तर भारत का कोई

१. आधुनिक हिन्दी (गद्य) के प्रथम लेखक लल्लूलालजी नहीं थे। इनके कुछ ही दिन पूर्व सदल मिश्र तथा कतिपय अन्य लेखक भी हुए थे, किन्तु उनकी रचना आरंभिक अवस्था की थी और हाल में ही काशी के उन पुरातनवादियों ने उसे पुनर्जीवित किया है, जो गुजराती ब्राह्मण होने के कारण लल्लूलालजी से द्वेष करते हैं।

हिन्दू जब गद्य लिखने बैठता है तो वह उर्दू अथवा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाषा में लिखने का स्वप्न नहीं देखता; किन्तु जब वह पद्य-रचना करने बैठता है तब वह स्वभावतः प्राचीन विभाषाओं, जैसे तुलसीदास की अवधी अथवा आगरे के अन्ध कवि सूर की ब्रजभाखा में से किसी एक को अपनाता है। इधर साहित्यिक हिन्दी में भी काव्य-रचना के कुछ प्रयत्न किये गये हैं किन्तु मेरे विचार में ऐसे प्रयत्न अल्पमात्रा के अतिरिक्त कदाचित् ही सफल हो सकेंगे। भारत में, परम्परा से विशिष्ट भाषा में काव्य-रचना की प्रवृत्ति की नींव दूर तक गहरी चली गयी है और यह पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी है। यह भाषा सर्वप्रिय है तथा यह सभी लोगों, यहाँ तक कि एक साधारण कृषक तक के लिए बोधगम्य है। जब तक तुलसीदास जैसे महान् कवि का प्रभाव रहेगा तब तक इसका प्रयोग समाप्त न होगा।

लल्लूलाल के समय से अब तक हिन्दी ने अपनी शैली से सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय ऐसे नियमों का विकास किया है जो उसे उर्दू से पृथक् कर देते हैं। इनमें से मुख्य नियम शब्दों के क्रम के सम्बन्ध में है जो उर्दू की अपेक्षा कम मुक्त है। इधर हाल ही से हिन्दी भी संस्कृत पंडितों के हाथ में, तथा संस्कृत के माध्यम से हिन्दी पढ़नेवाले कतिपय यूरोपीय लेखकों के प्रोत्साहन के प्रभाव में पड़कर संस्कृत की जटिल शब्दावली में फँस गयी है तथा साहित्यिक बँगला की भांति ही पतनोन्मुख होने का परिचय दे रही है, यद्यपि इसके ऐसा होने का कोई कारण नहीं है। हिन्दी का अपना शब्द-समूह विशाल है। इसकी जड़ें उन ग्रामीण कृषकों की भाषा में हैं जिस पर यह आधारित है। अतएवं आधुनिक हिन्दी पुस्तकों में जो संस्कृत के शब्द मिलते हैं उनमें से अधिकांश व्यर्थ एवं दुर्बोध्य ग्रंथियों के समान हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि संस्कृत शब्दों के व्यवहार से शैली उत्कृष्ट हो जाती है। यह उसी प्रकार की बात है जैसे कोई अठारह वर्ष की सुन्दरी अपनी मातामही का बेलबूटेदार अधोवस्त्र पहनकर अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करे। कतिपय योग्य विद्वान्, स्वयं इस प्रकार की विशुद्धता से अप्रभावित रहकर इस सहज ग्राह्य संक्रामक प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं और हमें आशा है कि वे अपने प्रयत्नों में सफल होंगे।

हिन्दुस्तानी, उर्दू तथा हिन्दी

हिन्दुस्तानी के तीन प्रधान रूपों की व्याख्या हम निम्नलिखित ढंग से कर सकते हैं—हिन्दुस्तानी मुख्य रूप से उत्तरी दोआब की भाषा है, साथ ही यह भारत की राष्ट्रभाषा भी है। यह फारसी तथा नागरी, दोनों ही लिपियों में लिखी जा सकती है तथा बिना किसी शुद्धि के ही, फारसी तथा संस्कृत शब्दों की अत्यधिक बहुलता को बचाते

हुए साहित्य में भी इसका प्रयोग हो सकता है। तब 'उर्दू' को हिन्दुस्तानी का वह रूप कहकर सीमित किया जा सकता है जिसमें फारसी शब्दों का प्रयोग पूर्ण स्वतंत्रता से होता है और इसी लिए इसे बड़ी सरलता से केवल फारसी लिपि में ही लिखा जा सकता है। ठीक इसी भाँति 'हिन्दी' को हिन्दुस्तानी के उस रूप के अन्तर्गत सीमित किया जा सकता है जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है और इसी कारण यह तभी बोधगम्य होती है जब यह नागरी लिपि में लिखी जाती है। ये परिभाषाएँ स्वर्गीय श्री ग्राउस द्वारा प्रस्तावित की गयी थीं और इनकी यह विशेषता है कि ये स्पष्ट एवं बोधगम्य हैं तथा ये अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करतीं। अभी तक इन शब्दों का बहुत शिथिलता से प्रयोग होता रहा है। अन्ततोगत्वा, मैं 'पूर्वी-हिन्दी' का प्रयोग मध्य उपशाखा की बोलियों के लिए करता हूँ जिनमें अवधी मुख्य है और इसी प्रकार 'पश्चिमी-हिन्दी' का प्रयोग उस समूह की बोलियों के लिए करता हूँ जिसमें ब्रजभाखा तथा (अपने विविध रूपों सहित) हिन्दुस्तानी का प्रमुख स्थान है।

साहित्य

साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी के प्राचीनतम नमूने 'उर्दू' अथवा 'रेख़्ता' में उपलब्ध हैं। ये नमूने काव्य-ग्रंथों में ही मिलते हैं। रेख़्ता शैली का प्रारम्भ दक्षिण (डेकेन) में सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। इसके सौ वर्ष बाद वली औरङ्गाबादी के द्वारा इसे निश्चित परिनिष्ठित रूप प्राप्त हुआ। वली को इसीलिए रेख़्ता का जनक कहा जाता है। वली का उदाहरण बड़ी शीघ्रता से दिल्ली में अपनाया गया। यहाँ कवियों की एक नवीन परम्परा चल पड़ी जिसके विशिष्ट प्रतिभाशाली सदस्यों में प्रसिद्ध व्यंग्यकाव्य के रचयिता सौदा (मृत्यु १७८० ई०) तथा मीर तक़ी (मृत्यु १८१० ई०) मुख्य थे। इन्हीं के समान-स्तर के कवियों की एक अन्य परम्परा की प्रतिष्ठा लखनऊ में, अठारहवीं शताब्दी के मध्य में, दिल्ली के पतन-काल में हुई। उर्दू तथा पूर्वी एवं पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न बोलियों की कविताओं का सबसे महत्त्व-पूर्ण अन्तर उनके छन्द-विधान का है। उर्दू का छन्द-विधान फारसी का है किन्तु अन्य बोलियों अथवा भाषाओं के छन्द भारतीय परम्परा के हैं। इतना ही नहीं, उर्दू का रचना-विधान पूर्णतया फारसी रूपरेखा पर आधारित है। यह प्राचीन ग्रंथों से, जिनसे इस देश के साहित्य की उत्पत्ति हुई है, नितान्त भिन्न है। साहित्यिक माध्यम के रूप में, उर्दू-गद्य की उत्पत्ति विगत शताब्दी के प्रारम्भ में कलकत्ते में हुई। हिन्दी गद्य की भाँति ही, इसके लिए भी प्रारम्भिक प्रयत्न, अंग्रेजों के प्रभाव एवं हिन्दुस्तानी के दोनों रूपों (हिन्दी एवं उर्दू) में पाठ्यपुस्तकें लिखने के लिए, फोर्टविलियम कालेज

में किये गये। उर्दू गद्य की प्रारम्भिक सुपरिचित पुस्तकों में मीर अम्मन कृत 'बागो-बहार' एवं हफीजुद्दीन अहमद प्रणीत "खिरद् अफ़रोज़" का प्रमुख स्थान है। यही स्थान हिन्दी में लल्लूलाल कृत "प्रेमसागर" का है। तब से उर्दू तथा हिन्दी, दोनों के गद्य के मार्ग बहुत प्रशस्त हो गये हैं और गत शताब्दी में जो विशाल गद्य-साहित्य प्रकाश में आया है उसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। सम्भवतः मुहम्मद हुसेन (आज़ाद) तथा पंडित रतननाथ (सरशार) उर्दू-गद्य के प्रमुख लेखकों में से हैं। हिन्दी में बनारस के स्वर्गीय हरिश्चन्द्र ने सार्वभौम रूप से प्रथम स्थान ग्रहण किया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऊपर की परिभाषा के अनुसार हिन्दी (खड़ी बोली हिन्दी) में काव्य-साहित्य का एक प्रकार से अभाव है। पिछले वर्षों में सीमित क्षेत्र में, इस सम्बन्ध में कुछ प्रयोग अवश्य किये गये हैं। हिन्दी के सभी महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथ पूर्वी अथवा पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में लिखे गये हैं। आधुनिक उर्दू में अनेक श्रेष्ठ कवि हैं जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध सम्भवतः अल्ताफ़ हुसैन (हाली) हैं। इनके शेरों का अनुवाद स्वर्गीय श्री जी० ई० वार्ड ने बड़ी कुशलता से किया है।

पंजाबी

पंजाबी पंजाब प्रदेश के आधे पूर्वी भाग में, राजपूताने की बीकानेर रियासत के उत्तरी कोने में तथा जम्मू रियासत के दक्षिणी अर्धांश में बोली जाती है। उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में यह हिमालय की निचली पर्वतमालाओं की पश्चिमी पहाड़ी बोली से, पूर्व में पश्चिमी हिन्दी (पूर्वी अम्बाला में वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी तथा यमुना से सटे हुए पश्चिम स्थित प्रदेश में बाँगरू) से, दक्षिण में राजस्थानी की बागड़ी तथा बीकानेरी विभाषाओं से और पश्चिम में लहँद्रा से घिरी हुई है। लहँदा के सम्बन्ध में लिखते हुए इसके तथा पंजाबी के पारस्परिक सम्बन्ध का कुछ विवरण पीछे दिया जा चुका है।[1] वहाँ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि सम्पूर्ण पंजाब दो नितान्त भिन्न प्रकार की भाषाओं की मिलन-भूमि है। दूसरे शब्दों में यहाँ प्राचीन बाहरी उपशाखा की भाषा, जो यदि वास्तव में दर्दीय नहीं है तो भी दर्द भाषा से अत्यधिक प्रभावित है और जो सिन्धु नदी के काँठे से पूर्व की ओर फैली थी, तथा (भीतरी उपशाखा की) प्राचीन मध्य-देश की भाषा, जो आधुनिक पश्चिमी हिन्दी की पूर्वज भाषा थी तथा जो यमुना के काँठे से पश्चिम की ओर प्रसरित हुई थी, मिलती हैं। पंजाब में इन दोनों ने ही अपनी

१. देखो अध्याय १३ में लहँदा तथा पंजाबी की तुलना।

हैं। इनमें सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत युद्ध के समय गुजरात में द्वारका की स्थापना का है। जैन परम्परा के अनुसार गुजरात के प्रथम चालुक्य शासक गंगा-दोआब के कन्नौज प्रदेश से आये थे और नवीं शताब्दी में पश्चिमी राजपूताना के गुर्जर राजपूत भीलमाल अथवा भीनमाल ने इस नगर को अधिकृत किया था। मारवाड़ के राठौरों का यह कथन है कि वे वहाँ बारहवीं शताब्दी में कन्नौज से आये थे। जयपुर के कछवाहों का यह दावा है कि वे अवध से आये थे, जब कि एक अन्य परम्परा के अनुसार चालुक्यवंशी लोग पूर्वी पंजाब से आये थे। राजपूताना तथा गुजरात का प्रगाढ़ राजनीतिक सम्बन्ध इस ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर प्रदर्शित किया जाता है कि मेवाड़ के गहलोत यहाँ गुजरात से ही आये थे। कतिपय प्रतिष्ठित विद्वानों ने यह तथ्य स्वीकार कर लिया है कि कुछ राजपूत जातियाँ गूजरों से उद्भूत हुई हैं। इन विद्वानों का यह भी कथन है कि गूजरों के बिखरने का एक केन्द्र, राजपूताना स्थित आबू पर्वत या उसके आसपास का भूमि-भाग था। भारत में गुर्जर लोग, हूण तथा अन्य लुटेरी जातियों के साथ लगभग छठीं शताब्दी में प्रविष्ट हुए थे और ये शीघ्र ही शक्तिशाली बन गये। मुख्य रूप से ये लोग पशु-पालक जाति के थे किन्तु इनके अपने सैनिक तथा मुखिया भी थे। जब इस जाति ने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया तो उसे ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के समकक्ष स्थान प्रदान किया तथा उन्हें राजपूत अथवा रात्रपुत्र (राजा के लड़के) की संज्ञा से विभूषित किया। इनमें से कुछ लोग तो ब्राह्मण भी बन गये, किन्तु इस जाति की एक बहुत बड़ी संख्या अपनी पशु-पालक प्रवृत्ति के कारण गुर्जर के रूप में एक उपजाति बनकर रह गयी। इन्हें ही आधुनिक भाषा में 'गूजर' कहते हैं।

राजस्थानी

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, राजस्थानी राजस्थान की भाषा है। यहाँ राजस्थान का प्रयोग उसी अर्थ में किया जा रहा है जिस अर्थ में टॉड ने किया है। यह राजपूताना, मध्य भारत के पश्चिमी भाग, मध्यप्रान्त, सिन्ध तथा पंजाब के निकटवर्ती क्षेत्रों में बोली जाती है। पूर्व में यह ग्वालियर राज्य में, पश्चिमी हिन्दी की बुन्देली विभाषा में विलीन हो जाती है। उत्तर में यह करौली तथा भरतपुर रियासतों और गुड़गाँव जिले की ब्रजभाखा में अन्तर्भुक्त हो जाती है। पश्चिम में, यह शनैः शनैः भारतीय मरुभूमि की मिश्रित बोलियों से गुजरती हुई पंजाबी, लहँदा तथा सिन्धी में परिणत हो जाती है और सीधे तौर पर पालनपुर स्टेट में गुजराती का रूप धारण कर लेती है। दक्षिण में यह मराठी से मिलती है किन्तु बाहरी उपशाखा की भाषा होने से उसमें इसका अन्तर्भाव नहीं होता।

विभाषाएँ

राजस्थान एक ऐसा प्रदेश है, जो बहुत से राज्यों तथा बहुत सी जातियों में विभक्त है। इसलिए इसकी बहुत-सी परस्पर सम्बन्धित बोलियाँ भी हैं। केवल जयपुर राज्य में ही स्थानीय भाषा की कम से कम पन्द्रह बोलियों की गणना की जा चुकी है। साधारण स्थानीय विभेदों को छोड़ने पर भी, इस क्षेत्र में, जहाँ राजस्थानी मातृभाषा के रूप में व्यवहृत होती है, प्रायः बीस वास्तविक विभाषाएँ बोली जाती हैं। उनके परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मुख्यतः चार विभागों के अन्तर्गत आ जाती हैं।

राजस्थानी	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
मारवाड़ी	६०,८८,३८९	..
मध्यपूर्वीय	२९,०७,२००	..
पूर्वोत्तरी	१५,७०,०९९	..
मालवी	४३,५०,५०७	..
निमाड़ी	४,७४,७७७	..
लभानी	१,५८,५००	..
गूजरी	२,९७,६७३	..
अनिर्दिष्ट	४,५१,११५	..
योग	१,६२,९८,२६०	१,२६,८०,५६२[१]

इन्हें मारवाड़ी, मध्य-पूर्वीय समुदाय (जिसकी विशिष्ट बोली जयपुरी है), पश्चिमोत्तरी समुदाय (जिसकी विशिष्ट बोली मेवाती है) तथा मालवी के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन्हीं चारों को राजस्थानी की चार मुख्य विभाषाओं के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ हम निमाड़ी, लभानी तथा गूजरी का भी उल्लेख कर सकते हैं।

मारवाड़ी

चाहे क्षेत्र के आकार की दृष्टि से, चाहे भारत में प्रसार की दृष्टि से, अब तक राजस्थान की विभाषाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान मारवाड़ी का ही है।

१. यह संख्या कदाचित् बहुत कम है। यह स्पष्ट है कि जनगणना में कतिपय राजस्थानी भाषा-भाषियों को पश्चिमी हिन्दी में सम्मिलित कर लिया गया है।

इसका क्षेत्र पश्चिमी राजपूताना है, जिसमें मारवाड़, मेवाड़, बीकानेर तथा जैसलमेर की बड़ी बड़ी रियासतें आती हैं। इसके कई रूप हैं, जिनमें 'थाळी' अथवा रेगिस्तान की पश्चिमी मारवाड़ी, जो सिन्ध तक प्रसरित है, उदयपुर राज्य की मेवाड़ी, बीकानेरी तथा उत्तरी-पूर्वी बीकानेर और पंजाब के सीमावर्ती भागों की 'बागड़ी' विभाषाएँ उल्लेखनीय हैं। अन्तिम बोली (बागड़ी) को कभी-कभी एक पृथक् विभाषा भी माना जाता है। उत्तरी-पश्चिमी जयपुर की शेखावाटी की बोली तथा बीकानेर के पूर्वी एवं मध्य भाग और निकटवर्ती राज्यों की मारवाड़ी में विशेष अन्तर नहीं है।

मध्य पूर्वीय—जयपुरी

मध्यपूर्वीय विभाषाओं में 'जयपुरी' तथा 'हाड़ौती' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जयपुरी, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, जयपुर राज्य की भाषा है। हम इसके सम्बन्ध में राजस्थानी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक जानते हैं। श्रीमान् महाराज जयपुर के अनुरोध से राज्य के अन्तर्गत व्यवहृत होनेवाली विभिन्न स्थानीय बोलियों का एक विस्तृत सर्वेक्षण रेवरेंड जी० मैकालिस्टर एम० ए० ने किया था। अपने निष्कर्षों को श्री मैकालिस्टर ने एक सुन्दर पुस्तिका में प्रकाशित किया है।

हाड़ौती

हाड़ौती, बूँदी तथा कोटा के हाड़ा राजपूतों की बोली है। वहाँ से यह पूर्व दिशा में ग्वालियर राज्य की सीमा तक जाती है जहाँ यह बुन्देली में अन्तर्भुक्त हो जाती है।

पूर्वोत्तरी—मेवाती, अहीरवाटी

पूर्वोत्तरी की प्रमुख बोली, मेव लोगों की भाषा मेवाती अथवा विघोता है। इसके मुख्य केन्द्र अलवर राज्य में हैं। दिल्ली के दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में बोली जानेवाली अहीरवाटी अथवा हीरवाटी इसी की एक बोली है। जैसी कि आशा की जा सकती है, इस समुदाय की बोलियाँ राजस्थानी के विभिन्न रूप मात्र हैं, जो पश्चिमी हिन्दी के बहुत निकट पहुँचती हैं। हम देखते हैं कि अहीरवाटी, पश्चिमी हिन्दी की विभाषा बाँगरू में अन्तर्भुक्त हो जाती है, जब अलवर की मेवाती ब्रजभाषा में तिरोभूत हो जाती है।

मालवी

मालवी के केन्द्र इन्दौर के चारों ओर मालवा देश में हैं, किन्तु यह एक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है। पूर्व में यह भूपाल तक चली जाती है, जहाँ इसका सम्मिलन

बुंदेली से होता है। पश्चिम में यह उदयपुर के दक्षिण की पहाड़ियों की भीली बोलियों से अवरुद्ध हो जाती है। यह मध्यप्रान्त के पश्चिमोत्तर जिलों को भी अधिकृत कर लेती है। इसका एक विशिष्ट रूप, जिसमें मारवाड़ी का अत्यधिक मिश्रण है, 'राँगड़ी' अथवा 'राजवाड़ी' नाम से अभिहित किया जाता है तथा राजपूतों द्वारा व्यवहृत होता है।

निमाड़ी

उत्तरी निमाड़ तथा मध्यभारत की भोपवर एजेंसी के सीमावर्ती प्रदेशों में मालवी का खानदेशी तथा भीली भाषाओं से इतना अधिक मिश्रण होता है कि वहाँ यह एक नवीन भाषा—निमाड़ी—का रूप धारण कर लेती है। इसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं। जो भी हो, जिस अर्थ में हम मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी को राजस्थानी की विभाषाएँ मानते हैं, उस अर्थ में निमाड़ी को हम बड़ी कठिनता से एक शुद्ध विभाषा की संज्ञा दे सकते हैं। निमाड़ी वस्तुतः कई भाषाओं के संसर्ग से निर्मित ग्रामीण बोली है। इसकी आधारभूता भाषा मालवी है।

लभानी

'लभानी' या 'बंजारी' बंजारा लोगों की बोली है। बंजारा भ्रमणशील जाति है और सम्पूर्ण पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत इनके भ्रमण का क्षेत्र है। इनका दूसरा नाम लभान भी है। भारतवर्ष के अन्यान्य भागों में ये उसी क्षेत्र की बोली का व्यवहार करते हैं, जहाँ इन्हें निवास करना पड़ता है। किन्तु बरार, बम्बई, मध्यप्रान्त, पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा मध्यभारत एजेंसी में इनकी अपनी भाषा है, जिसका नाम जातियों के स्थानीय नामों के अनुसार बदलता रहता है। सर्वत्र इनकी भाषा मिश्रित भाषा के रूप में है, किन्तु आदि से अन्त तक इसका आधार राजस्थानी का कोई न कोई पश्चिमी रूप है, तथा इसके अन्य तत्त्वों में उन स्थानों की बोलियों से गृहीत अंश भी सन्निहित हैं, जहाँ इस जाति के लोग निवास करते हैं।

ककेरी

यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि दो अन्य जाति के लोगों की बोलियों के परीक्षण से यह सिद्ध हुआ है कि वे लभानी के समान ही हैं। ये बोलियाँ हैं 'ककेरी' तथा 'बहुरुपिया'। ककेरी, कंघा बनानेवाली एक उपजाति—'ककेर' की बोली है जो प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व अजमेर से निकलकर उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले में जा बसे थे।

बहुरुपिया

बहुरुपिया अथवा महतम जाति के लोग पंजाब के गुजरात तथा स्यालकोट ज़िलों में पाये जाते हैं। उनका कथन है कि वे वहाँ राजपूताना से राजा मानसिंह के साथ सन् १५८७ ई० में क़ाबुल-विजय के अवसर पर आये थे और बाद में वे उन स्थानों में बस गये जहाँ वे आज मिलते हैं। यह बहुत संभव है कि मूलत: वे लभाना लोगों की उपजाति रहे हों।

गूजरी

गूजरी बोली का उल्लेख भारतीय इतिहास में एक मनोरंजक अध्याय खोलता है। हम यह पहले देख चुके हैं कि आधुनिक गूजरों के पूर्वज—गुर्जरों ने भारतवर्ष में संभवत: पाँचवीं या छठीं शताब्दी में प्रवेश किया था और उनकी युद्धप्रिय जाति के कतिपय लोगों को राजपूतों के रूप में स्वीकार किया गया था। पहाड़ी भाषाओं का वर्णन करते समय हम यह आगे देखेंगे कि प्राचीन युग में कुमायूँ तथा गढ़वाल के संयुक्त जिले तथा इस देश से सम्बन्धित इसके पश्चिम की शिमला-पर्वतमालाओं का क्षेत्र 'सपाद-लक्ष' नाम से विख्यात था, और यह क्षेत्र आंशिक रूप से इन्हीं गुर्जरों द्वारा, इनके आगमन के युग में ही अधिकृत किया गया था। यहाँ से कुछ गुर्जरों ने मैदानों में उतरकर, गंगा के काँठे को पार किया और मेवात में प्रविष्ट हुए। यहाँ से वे पूर्वी राजपूताना में प्रसरित हुए और वहाँ की भाषा को अपना लिया। कुछ वर्षों बाद राजपूताना में आबाद होनेवालों में से कुछ लोगों ने पुन: उत्तर-पश्चिम के लिए प्रस्थान किया और दक्षिण-पूर्व की ओर से पंजाब पर आक्रमण किया। इन्होंने कुछ लोगों को, उपनिवेश के रूप में मेवात से लेकर यमुना के काँठे के दोनों छोरों पर छोड़ दिया, और यहाँ से वे हिमालय की तलहटी से होते हुए सिन्धु नदी तक बढ़ते गये। मैदानों में बसनेवाले लोगों ने तो अपनी भाषा का परित्याग कर दिया, किंतु जैसे ही हम निचली पर्वत-मालाओं में प्रवेश करते हैं, वैसे ही 'गूजरी' नाम की एक अपरिवर्तनशील स्थानीय बिभाषा के सम्पर्क में आते हैं। प्रत्येक दशा में यह भाषा स्थानीय गूजरों की भाषा के अति निकट कही जा सकती है। हाँ, इसका उच्चारण इस प्रकार का अवश्य है, मानों इसे विदेशी लोग बोल रहे हों। जैसे जैसे हम इन कम आबादीवाले पर्वत-क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं, वैसे वैसे इस गूजरी को हम अधिक स्वतंत्र रूप में तथा पड़ोसी भाषाओं से बहुत कम प्रभावित पाते हैं। अन्ततोगत्वा, जब हम स्वात तथा कश्मीर के भयानक पर्वतीय क्षेत्र में पदार्पण करते हैं, तो हम यायावर गूजरों को पाते हैं, जिन्हें यहाँ 'गूजुर' (ग्वाला) अथवा 'अजिड़' (गड़ेरिया) कहते हैं। यह अभी तक अपनी मूल पशु-

पालक-वृत्ति को अपनाये हुए हैं तथा आज भी मेवात से अपने पूर्वजों द्वारा ले आयी गयी भाषा के विकसित रूप का प्रयोग करते हैं। किंतु यह भाषा अपनी लम्बी यात्रा के चिह्नों को भी प्रदर्शित करती है। इसने यमुना के कांठे की हिन्दुस्तानी के विचित्र वाक्यों तथा मुहावरों की सुरक्षित रखा है। इन्हें इन लोगों ने मार्ग में ग्रहण किया था तथा अपने साथ दूर-स्थित दर्दिस्तान प्रदेश में भी लेते गये थे।

राजस्थानी साहित्य

एक मात्र मारवाड़ी ही राजस्थानी की ऐसी विभाषा है जिसमें प्रचुर मात्रा में विशिष्ट साहित्य प्राप्त है। प्राचीन मारवाड़ी अथवा डिंगल में आज भी अनेक काव्य-ग्रंथ उपलब्ध हैं, किन्तु अभी तक उनका गंभीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया जा सका है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी की अन्य विभाषाओं में बहुत प्रचुर साहित्य है। प्रकारान्तर से मैं यहाँ टॉड के 'राजस्थान' में वर्णित चारण-साहित्य का उल्लेख करना चाहता हूँ। संभवतः कुछ दिनों पूर्व श्री टॉड ही ऐसे यूरोपियन थे, जिन्होंने इस साहित्य के अधिकतर अंश का अध्ययन किया था। तब से इधर भारत सरकार के तत्त्वावधान में बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने इन ऐतिहासिक ग्रंथों के सर्वेक्षण का कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके परिणामस्वरूप इन ग्रंथों की सूची तैयार करने तथा उनके पाठ के प्रकाशन में पर्याप्त प्रगति हुई है। इधर इस कार्य के करने वाले इतालीय विद्वान डॉ० एल० पी० टेसीटरी की अकाल मृत्यु के कारण इस कार्य में बहुत बाधा पड़ी है और तब से यह कार्य रुक भी गया है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। इसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी के तत्त्वावधान में हुआ है और इसी से कुछ अंश लेकर एक छात्रोपयोगी संस्करण तैयार किया गया है। इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी रूपान्तर बीम्स तथा हार्नली ने भी प्रस्तुत किया है। 'पृथ्वीराज रासो' की रचना पश्चिमी हिंदी के प्राचीन रूप में हुई है, राजस्थानी में नहीं। पश्चिमी हिंदी के इस प्राचीन रूप का प्रयोग राजपूत चारण काव्य-रचना के लिए करते थे और यह पिंगल नाम से विख्यात थी। रासो को जिस रूप में हम आज देखते हैं उसमें प्रक्षिप्त अंश बहुत है; किंतु इतने पर भी यह राजपूताना के इतिहास तथा वीरगाथाओं का एक आश्चर्यजनक कोश है। सिरामपुर के मिश्नरी लोगों ने, मध्य तथा पूर्वी भाग की बोली हाड़ौती, मालवे की बोली उज्जैनी तथा उदयपुरी (जो वस्तुतः मारवाड़ी का मेवाड़ी रूप है) एवं मारवाड़ी, जयपुरी और मारवाड़ी की एक अन्य बिभाषा बीकानेरी में न्यू टेस्टामेन्ट का अनुवाद प्रस्तुत किया है।

भाषागत विशेषताएँ

महाभारत के महायुद्ध के समय पंचाल नाम से प्रसिद्ध देश चम्बल नदी से लेकर हिमालय की तलहटी में हरद्वार तक प्रसरित था। इस भाँति इसका दक्षिणी भाग उत्तरी राजपूताना से मिला हुआ था। यह हम देख चुके हैं कि[1] पांचाल लोग उन जातियों में से थे, जिन्होंने भारतवर्ष पर सर्वप्रथम आक्रमण किया था। इस प्रकार यह बहुत संभव है, कि उनकी भाषा बाहरी उपशाखा की भारतीय आर्य-भाषा थी। यदि यह सत्य है तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शेष राजपूताना में और विशेष प्रकार से उसके दक्षिण में भी इसी उपशाखा की भाषा प्रचलित थी। इस सिद्धान्त से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि भीतरी उपशाखा की भाषाओं के बोलनेवाले आर्य ज्यों-ज्यों प्रसरित तथा शक्तिशाली होते गये त्यों-त्यों उन्होंने क्रमशः अपने दक्षिण में स्थित बाहरी उपशाखा के आर्यों को उसी दिशा में दूर तक खदेड़ दिया।

गुजरात में, भीतरी उपशाखा के आर्य बाहरी उपशाखा के आर्यों की भित्ति को तोड़कर समुद्रतट तक जा पहुँचे। मध्यदेश के लोगों के गुजरात में बस जाने के परम्परागत कई उल्लेख मिलते हैं, इनमें से सबसे पहला उल्लेख महाभारत युद्ध के समय द्वारका में बस जाने का है। मध्यदेश से गुजरात जाने का केवल एक ही मार्ग राजपूताना से होकर है। सबसे सीधा मार्ग भारतीय मरुस्थल के कारण अवरुद्ध है। स्वतः राजपूताना भी मध्य हिंदुस्तान के आक्रमणकारियों द्वारा अपेक्षाकृत आधुनिक युग में अधिकृत किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राठौरों में यह परम्परा है कि बारहवीं शताब्दी ईसवी में उन्होंने दोआब-स्थित कन्नौज को छोड़कर मारवाड़ पर अधिकार कर लिया था। जयपुर के कछवाहे अवध से आने का दावा करते हैं और सोलंकी राजपूत पूर्वी पंजाब से। स्वयं गुजरात पर यादवों ने अधिकार किया था, जिनकी जाति के लोग मथुरा के आस-पास के मूलस्थान को आज भी अधिकृत किये हुए हैं। दूसरी ओर एक अन्य परम्परा के अनुसार, मेवाड़ के गहलोत गुजरात की एक प्रत्यावर्तित लहर के रूप में हैं जो वल्लभी की प्रसिद्ध लूट के पश्चात् समीपस्थ चित्तौड़ की ओर भगा दिये गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि गंगा के दोआब तथा गुजरात के समुद्रतट के मध्य सम्पूर्ण भूभाग को वर्तमान युग में अधिकृत करनेवाले मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या उन जातियों में से है जिन्होंने मध्यदेश से निष्क्रमण किया था। उन्होंने मूल पूर्वागत आर्य जातियों को निवास करते पाया था जिनका सम्बन्ध बाहरी

१. देखो अध्याय ११

शाखा से था। उन्होंने इन आर्यों को या तो सुदूर दक्षिण की ओर भगा दिया था या उन्हें आत्मसात् कर लिया था, अथवा उनके साथ दोनों ही प्रकार का व्यवहार किया था। वास्तव में, यह बात ठीक रूप से इस क्षेत्र की भाषा से ही सिद्ध हो जाती है। राजस्थानी तथा गुजराती दोनों ही पूर्णतया भीतरी शाखा की भाषाएँ हैं, किंतु उनके कई ऐसे रूप मिलते हैं जो वस्तुतः बाहरी मंडल की भाषाओं की विशेषताएँ हैं।[1] उनमें से कुछ

१. सन् १९२१ की बड़ोदा-जनगणना की रिपोर्ट पृ० २८९ तथा उसके आगे के पृष्ठों में श्री सत्यव्रत मुकर्जी ने ऊपर प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उनके अनुसार गुजराती भाषा की आधुनिक अवस्था का कारण, मध्यदेश के प्रभाव से उतना नहीं है जितना इसके विपरीत कारणों से है। मैं उनके तर्कों से सहमत नहीं हूँ, किन्तु विशुद्ध भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह बात कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि राजस्थानी एवं गुजराती मिश्रित भाषाएँ हैं, जिनमें कुछ तो बाहरी उपशाखा की भाषाओं और कुछ मध्यदेश की भाषाओं की विशेषताएँ मिलती हैं। किन्तु इस कारण जब वे गुजराती का सम्बन्ध बीच की उपशाखा पूर्वी-हिन्दी से जोड़ते हैं, तो मुझे असहमति प्रकट करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जब उन्हें भारतीय आर्य भाषाओं को किसी क्रम में रखना पड़ेगा, तो सर्वप्रथम मध्यदेश की भाषा पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र में रखना पड़ेगा। इसके चारों ओर कई मिश्रित भाषाओं का एक वृत्त है—इसके पूर्व में पूर्वी हिन्दी, दक्षिण में गुजरातीसहित राजस्थानी, पश्चिम में पंजाबी तथा उत्तर में हिमालय की पहाड़ी भाषाएँ हैं। ये सभी भाषाएँ पश्चिमी हिन्दी तथा बाहरी उपशाखा की-भाषाओं के बीच की भाषाएँ हैं और एक प्रकार से दोनों के बीच में कड़ी का काम करती हैं। इन मिश्रित भाषाओं के चारों ओर बाहर की तरफ हम बाहरी उपशाखा की भाषाओं का एक वृत्त पाते हैं। ये हैं, बिहारी, उड़िया, मराठी, सिन्धी, लहँदा। इस प्रकार बीच में एक केन्द्र है जिसके चारों ओर मिश्रित भाषाएँ हैं और पुनः ये मिश्रित भाषाएँ बाहरी उपशाखा की भाषाओं से आवृत हैं। यदि वे इन मिश्रित भाषाओं को मध्यवर्ती भाषाओं के अन्तर्गत रखें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। वास्तव में कई अवसरों पर जब मैं वैज्ञानिक लेख नहीं लिखता, तो मैं भी अपने लेखों में यही क्रम रखता हूँ। इसमें लाभ यह है कि यह क्रमबद्ध है और सरलता से लोगों की समझ में आ जाता है। किन्तु बीच की उपशाखा का एक विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है और इसके अन्तर्गत केवल हम पूर्वी-हिन्दी को रखने के लिए बाध्य हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत राजस्थानी एवं गुजराती जैसी भाषाओं को सम्मिलित

का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। जहाँ तक उच्चारण का संबंध है, सिन्धी, मराठी और गुजराती में भी, औ का उच्चारण ओ की तरह होता है। इस प्रकार हिन्दुस्तानी का 'चोथा' शब्द सिन्धी, राजस्थानी और गुजराती में–'चोथो'– रूप में उच्चरित होता है। पुनश्च, सिंधी की ही भाँति, राजस्थानी और गुजराती दोनों में ही दन्त्य वर्णों की अपेक्षा मूर्धन्य वर्णों को अधिक प्रधानता दी जाती है। सिन्धी तथा अन्य पश्चिमोत्तरी भाषाओं की भाँति ही ग्रामीण गुजराती –'स'– का उच्चारण –'ह'– की भाँति करता है। राजपूताने के कुछ भागों में भी इसी प्रकार का उच्चारण होता है। समस्त पूर्वीय भाषाओं तथा मराठी की भाँति, और भीतरी भाषाओं के विपरीत, राजस्थानी तथा गुजराती दोनों ही में, संज्ञा के तिर्यक् रूप –'आ'– प्रत्ययान्त होते हैं। सिन्धी[1] शीर्षक के अन्तर्गत हमने यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार भूतकालिक कृदन्त का –'ल्'– प्रत्यय, जो कि बाहरी उपशाखा की भाषाओं की एक प्रमुख विशेषता है, गुजराती में भी उपलब्ध है। अन्ततः लहँदा की भाँति, गुजराती तथा राजस्थानी

करना असंभव है। यह ठीक है कि उन्हीं की तरह कुछ हद तक पूर्वी हिन्दी भी, पश्चिमी हिन्दी तथा बाहरी उपशाखा की भाषाओं के बीच की कड़ी है; किन्तु यह राजस्थानी एवं गुजराती की भाँति मिश्रित भाषा नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से पूर्वी-हिन्दी स्वतंत्र रूप में विकसित हुई है और इसके व्याकरण का विकास भी पश्चिमी हिन्दी तथा किसी भी बाहरी उपशाखा की भाषा की अपेक्षा स्वतंत्र ढंग से हुआ है। दूसरी ओर राजस्थानी और गुजराती का व्याकरण मूलतः वही है, जो पश्चिमी हिन्दी का है। यह ठीक है कि इसके अनुसर्गों एवं प्रत्ययों में विशेष स्थानों पर अन्तर है, किन्तु इसका आधार एक है। इसमें सन्देह नहीं कि गुजराती में भी कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो बाहरी उपशाखा की भाषाओं में नहीं हैं और इसी कारण हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह मिश्रित भाषा है, किन्तु गुजराती और राजस्थानी का विकास इस प्रकार स्वतंत्र रूप से हुआ है जिसके कारण हम इन्हें बीच की उपशाखा की भाषाएँ कह सकते हैं। यहाँ पर तर्क के लिए विस्तृत विवरण देने का स्थान नहीं है अतएव जो लोग इसमें दिलचस्पी रखते हैं उन्हें मैं एक ओर पूर्वी हिन्दी के क्रियारूपों तथा पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती के क्रियारूपों के अध्ययन की सलाह दूँगा। इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि राजस्थानी अथवा गुजराती को पूर्वी हिन्दी के समूह में रखना असम्भव है।

१. देखो अध्याय १३, कृदन्तीय 'ल' प्रत्यय

दोनों में, क्रिया के रूपों में एक ऐसा भविष्यतकाल है, जिसकी मुख्य विशेषता—'स'—प्रत्यय है।

लिपि

राजस्थानी साहित्य के लिए नागरी अक्षरों का प्रयोग करती है। साधारण कार्यों के लिए यहाँ पंजाब की लंडा लिपि से मिलती-जुलती एक भग्न लिपि का प्रयोग होता है। यह महाजनी, अथवा व्यापारी वर्ग की लिपि के नाम से प्रचलित है और लेखक के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति के लिए अत्यधिक अस्पष्ट है। यह प्रायः समस्त स्वरों का परित्याग कर देती है, और इसके अस्पष्ट तथा त्रुटिपूर्ण पठन की गाथाएँ भारतीय लोक-कथाओं में बहुत प्रचलित हैं।

राजस्थानी, भारत के अन्य भागों में

मारवाड़ी के रूप में, राजस्थानी का व्यवहार समस्त भारतवर्ष में पाया जाता है। शायद ही ऐसा कोई शहर हो, जहाँ "पश्चिमी तथा उत्तरी राजपूताना की मरुभूमि के मितव्ययी निवासियों ने डेकन के एक गाँव की नगण्य पंसारी की दूकान से लेकर पूर्वी तथा पश्चिमी भारत की व्यावसायिक सम्पत्ति से संबंधित विशाल साहूकारिता एवं दलाली के रूप में अपने लिए धन न अर्जित किया हो।"

गुजराती

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुजराती का राजस्थानी से बहुत निकट का सम्बन्ध है। यहाँ तक की पन्द्रहवीं शताब्दी में मारवाड़ तथा गुजरात की भाषा एक थी।[1] इसके बाद ही इसने इन दो भाषाओं का रूप धारण किया; किन्तु मूलतः इन दोनों बोलियों में अत्यल्प अंतर था।

---

१. १४५५,५६ में मारवाड़ राज्य के झालोर स्थान के एक कवि ने 'कान्हड देव' शीर्षक प्रबन्ध काव्य लिखा था। सन् १९१२ में इसको लेकर गुजरात में एक वाद-विवाद चल पड़ा कि यह पुरानी गुजराती का प्रबन्ध है अथवा मारवाड़ी का। सच तो यह है कि यह दोनों में से किसी का नहीं है, अपितु कवि की उस मातृ-भाषा में है जो बाद में इन दो भाषाओं के रूप में प्रकट हुई।

सम्बन्धित थे। मूलतः वे निश्चित रूप से उन्हीं की भाँति एक दर्दीय भाषा बोलते थे, क्योंकि सम्पूर्ण 'सपादलक्ष' प्रदेश में इस भाषा की विशेषताएँ उपलब्ध हुई हैं। हम ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों भाषा की ये विशेषताएँ लुप्त होती जाती हैं।

गुर्जर

राजस्थानी का विवरण देते समय इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि गुर्जर अथवा आधुनिक गूजरों ने राजपूताना के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।[१] ये लोग भारतवर्ष में, सर्वप्रथम, लगभग पाँचवीं या छठी शताब्दी में आये थे। इनकी एक शाखा ने इस 'सपादलक्ष' प्रदेश को अधिकृत कर लिया था और ये यहाँ के 'खस' जाति के लोगों में मिल गये। पश्चिमी सपादलक्ष में ये 'कनेत' की एक उपजाति 'राव' के रूप में परिणत हो गये; किंतु इन्हें प्राचीन खसिया तथा कनेत लोगों ने अपनी जाति में अपने समान मर्यादा नहीं दी। ये गुर्जर कृषि-कर्म अथवा पशु-पालन के व्यवसाय में प्रवृत्त हुए। इनके युद्ध-प्रिय लोगों को, जैसा कि हम देख चुके हैं, राजपूत जाति में सम्मिलित कर लिया गया। गुर्जर लोग सपादलक्ष से निकलकर गंगा के काँठे से होते हुए मेवात पहुँचे और यहाँ से वे पूर्वी राजपूताना में जा बसे। बाद में, मुसलमान शासन के दबाव के कारण इन राजपूतों ने पुनः सपादलक्ष की ओर प्रत्यावर्तन किया फिर वहीं बस गये। वास्तव में, सपादलक्ष प्रदेश तथा राजपूताना में निरंतर यह पारस्परिक आवर्त्तन-विवर्त्तन चलता रहा। अन्ततोगत्वा, जैसा हम देख चुके हैं, नेपाल को खस जाति के लोगों ने अधिकृत कर लिया। इनके साथ अनेक गुर्जर राजपूत भी थे। लोग यह बात स्वीकार कर चुके थे कि आधुनिक काल की समस्त पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से बहुत अधिक सम्बन्धित हैं और ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि वास्तव में यह किस प्रकार से हुआ था।[२]

भारतीय आर्य-भाषाओं की भीतरी उपशाखा के पहाड़ी समुदाय की भाषाएँ तीन वर्गों में विभाजित की गयी हैं, जिन्हें क्रमशः पूर्वी पहाड़ी, केन्द्रीय पहाड़ी तथा पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं के नाम से अभिहित किया जाता है।

---

१. देखो अध्याय १५, 'राजस्थानी तथा गुजराती'

२. इस प्रश्न के सम्बन्ध में सर्वेक्षण के खण्ड ९ भाग ४ में विस्तृत रूप से विचार किया गया है। यहाँ सामान्य परिणामों के अतिरिक्त और कुछ देना सम्भव नहीं है।

तीन पहाड़ी भाषाएँ

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पूर्वी पहाड़ी	१,४३,७२१	२,७६,७१५
मध्य पहाड़ी	११,०७,६१२	३,८५३[1]
पश्चिमी पहाड़ी	८,५३,४६८	१६,३२,९१५
अनिर्णीत	..	५४
योग	२१,०४,८०१	१९,१३,५३७

पूर्वी पहाड़ी या नेपाली

साधारणतः पूर्वी पहाड़ी को यूरोपीय विद्वान् 'नेपाली' अथवा 'नैपाली' नाम से सम्बोधित करते हैं। किन्तु यह नाम उपयुक्त नहीं है क्योंकि यह मुख्य रूप से नेपाल की भाषा नहीं है। इस राज्य की मुख्य भाषा तिब्बती-बर्मी परिवार की है जिसमें 'नेवारी' का प्रमुख स्थान है। 'नेवार' नाम भी नेपाल से ही निकला है। पूर्वी पहाड़ी के अन्य नाम हैं—'परबतिया' अथवा पर्वतों की भाषा, 'गोरखाली' या गोरखों की भाषा तथा 'खसकुरा' अथवा खस जाति की भाषा। नेपाली ब्रिटिश भारत (अब भारतीय गणतन्त्र) की भाषा नहीं है। यह नेपाल राज्य में बोली जाती है—इसी कारण इसकी जनगणना के अंक उपलब्ध नहीं हैं। सर्वेक्षण में नेपाली भाषा-भाषियों की संख्या १,४३,७२१ दी हुई है। यह संख्या वस्तुतः उन लोगों की है जो अस्थायी अथवा स्थायी रूप से ब्रिटिश भारत में निवास करते हैं। इनमें से अधिकांश तो गोरखा रेजीमेंट के सैनिक हैं।

नेपाल में आर्य-भाषा का प्रवेश, वस्तुतः, आधुनिक इतिहास का विषय है। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में मुसलमानी आक्रमणों के दबाव के कारण मेवाड़ के कुछ राजपूतों ने उत्तर की ओर प्रयाण किया और गढ़वाल, कुमायूँ तथा पश्चिमी नेपाल के गुर्जरों तथा खस लोगों में बस गये। सन् १५५९ ई० में इनके एक दल ने गोरखा शहर को, जो काठमांडू से लगभग ७० मील उत्तर-पश्चिम में है, जीत

१. जनगणना में मध्य पहाड़ी बोलने वालों को पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत गिनाया गया है। अतएव इनकी संख्या ठीक रूप में देना असम्भव है।

लिया। सन् १७६८ ई० में गोरखों के पृथ्वीनारायण शाह ने अपने को सम्पूर्ण नेपाल का अधिपति घोषित किया और वर्तमान गोरखाली वंश की स्थापना की। उन्होंने गोरखा से लायी हुई राजस्थानी तथा खस के सम्मिश्रण से निर्मित भाषा को अपने दरबार की भाषा बनाया। तभी से यह आर्य-भाषा नेपाल की शासकीय भाषा के रूप में चली आ रही है। इसने पुरानी मैथिली की निकटतम प्राचीन भाषा को समाप्त कर दिया, जो कि पूर्व समय में वहाँ आर्य भाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। चूँकि नेपाल की अधिकांश जनता तिब्बती-बर्मी है—खस विजेताओं की संख्या अपेक्षाकृत कम है—इसलिए यहाँ पर केवल जातियों का ही सम्मिश्रण नहीं हुआ है, अपितु भाषाओं का भी सम्मिश्रण हुआ है। पूर्वी पहाड़ी ने अपने शब्द-समूह तथा कतिपय व्याकरणीय रूपों को भी तिब्बती-बर्मी भाषाओं से ग्रहण किया है। यद्यपि स्पष्ट रूप से इसका राजस्थानी से संबंध है; तथापि इसका अब मिश्रित रूप ही दृष्टिगोचर होता है। न केवल बहुत से शब्द ही, प्रत्युत इसके व्याकरण के मुख्य रूप भी लिये गये हैं—उदाहरणस्वरूप इसमें सकर्मक क्रिया के सभी कालों के साथ कर्तृकारक का प्रयोग हुआ है तथा क्रिया के आदरसूचक रूप भी इसमें पड़ोस की तिब्बती-बर्मी भाषा से ग्रहण किये गये हैं। भाषा के रूप में यह परिवर्तन प्रत्येक दशक के साथ बढ़ रहा है और तिब्बती-बर्मी भाषा की कुछ विशेषताएँ जो इस भाषा में प्रविष्ट हुई हैं, आज भी कुछ लोगों की स्मृति में वर्तमान हैं।

विभाषाएँ

इसमें संदेह नहीं कि पर्वतीय प्रदेश में बोली जाने के कारण पूर्वी पहाड़ी की अनेक विभाषाएँ हैं। इनमें से 'पाल्पा' नाम की विभाषा पश्चिमी नेपाल में बोली जाती है। सिरामपुर के मिशनरी लोगों ने, इसमें, विगत शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में, न्यू टेस्टामेन्ट (बाइबिल) का अनुवाद किया था। चूँकि नेपाल एक स्वतंत्र राज्य है तथा वहाँ यूरोपीय लोगों का बहुत कम प्रवेश है, अतएव इसकी भाषा की रूपरेखा जानने के लिए केवल-मात्र यही सामग्री है। काठमांडू की बोली परिनिष्ठित है। इसका मुद्रित साहित्य अत्यल्प तथा नितान्त आधुनिक है।

लिपि

अभी कुछ ही वर्ष पहले पूर्वी नेपाल की भाषा को दार्जिलिंग के मिशनरियों ने व्याकरण तथा बाइबिल के अनुवाद के लिए परिनिष्ठित भाषा के रूप में ग्रहण किया है। पूर्वी पहाड़ी-भाषा नागरी लिपि में लिखी तथा छापी जाती है।

मध्यवर्ती पहाड़ी

मध्य की पहाड़ी, पूर्वी सपादलक्ष में बोली जानेवाली विभाषाओं को अपने में सम्मिलित कर लेती है; जैसे—ब्रिटिश राज्य के कुमायूँ तथा गढ़वाल के जिलों तथा गढ़वाल राज्य की भाषाएँ। इसकी दो विख्यात विभाषाएँ हैं। इनमें से 'कुमायुनी'

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
कुमायुनी	४,३६,७८८	..
गढ़वाली	६,७०,८२४	..
योग	११,०७,६१२	३,८५३[1]

कुमायूं (नैनीताल के पहाड़ी प्रदेशों) में बोली जाती है, तथा 'गढ़वाली'—ब्रिटिश एवं स्वतंत्र गढ़वाल और मसूरी के पहाड़ी प्रदेश के निकटवर्ती क्षेत्रों में बोली जाती है। ये विभाषाएँ स्थान-स्थान पर बदलती गयी हैं, यहाँ तक कि प्रत्येक परगने की बोली का अपना भिन्न रूप है, तथा प्रत्येक का अपना स्थानीय नाम भी है। इन दोनों प्रमुख विभाषाओं में से किसी का भी साहित्यिक इतिहास नहीं है। सिरामपुर के मिशनरियों ने इन दोनों में ही न्यू टेस्टामेंट (बाइबिल) का अनुवाद प्रस्तुत किया है, तथा अभी हाल ही में बाइबिल का अन्य अंश भी गढ़वाली में रूपान्तरित किया गया है। पिछले कुछ वर्षों में कुमायुनी में कतिपय पुस्तकों की रचना हुई है तथा गढ़वाली में भी एक दो पुस्तकें लिखी गयी हैं। जहाँ तक मैंने देखा है, दोनों ही विभाषाएँ लिखने तथा छापने में नागरी लिपि का व्यवहार करती हैं।

पश्चिमी पहाड़ी

पश्चिमी पहाड़ी उन अनेक सम्बन्धित विभाषाओं का सामूहिक नाम है जो सपादलक्ष में बोली जाती हैं। इनका राजनीतिक केन्द्र शिमला है जो भारत-सरकार का ग्रीष्म-कालीन हेडक्वार्टर है। इन विभाषाओं का कोई परिनिष्ठित रूप नहीं है, तथा कुछ लोक-महाकाव्यों के अतिरिक्त इनमें कोई साहित्य भी नहीं है। जिस क्षेत्र में ये बोली जाती हैं वह उत्तर प्रदेश के जौनसार-बवर प्रदेश से लेकर पंजाब की सिरमौर

१. देखो पृष्ठ ३३४ की पादटिप्पणी

रियासत, शिमला की पहाड़ियों, कुलू तथा मंडी एवं चम्बा की रियासतों और कश्मीर की भद्रवाह जागीर तक में प्रसरित है। इस भाषा की बहुसंख्यक बोलियाँ हैं। ये सब एक-दूसरी से काफी भिन्न हैं, किन्तु इतने पर भी इनमें अनेक समानताएँ हैं। सुविधानुसार इन्हें हम सूची में दिये गये नौ शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं।

पश्चिमी पहाड़ी

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
जौनसारी	४७,४३७	
सिरमौरी	१,२४,५६२	
बघाटी	२२,१९५	४,२७,७०२
क्योंठाली	१,८८,७६३	
सतलज वर्ग	३८,८९३	
कुलू वर्ग	८४,६३१	१,२६,७९३
मंडी वर्ग	२,१२,१८४	२,३७,९३४
चम्बा वर्ग	१,०९,२८६	१,३९,२६२
भद्रवाह वर्ग	२५,५१७	७,०२,२२४
अनिर्णीत	..	..
योग	८,५३,४६८	१६,३३,९१५

जौनसारी, सिरमौरी, बघाटी

इनमें से जौनसारी भाषा उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले के जौनसार-बावर क्षेत्र में, जो पंजाब की सिरमौर रियासत तथा गढ़वाल की सीमारेखा पर स्थित है, बोली जाती है। यह सिरमौरी तथा गढ़वाली के बीच की मध्यस्थ भाषा है, किन्तु इसके दक्षिण में बोली जानेवाली, शेष देहरादून की भाषा, पश्चिमी हिन्दी का इसमें अत्यधिक मिश्रण हुआ है। सिरमौरी, जिसके अन्तर्गत तीन विशिष्ट बोलियाँ आती हैं, सिरमौर राज्य में तथा जुब्बल रियासत के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। जौनसारी से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु गिरि नदी के उत्तर तथा जुब्बल रियासत में यह क्योंठाली में मिलने लगती है। सिरमौरी, जौनसारी के पश्चिम में स्थित है। इसके और भी दक्षिण में हम बघाटी विभाषा को पाते हैं। यह तीनों सम्मिलित रूप से पश्चिमी पहाड़ी विभाषाओं की दक्षिणी सीमा निर्धारित करती हैं। बघाटी, बघाट राज्य तथा निकटवर्ती प्रदेश की भाषा है। इसके क्षेत्र के अन्तर्गत कसौली तथा डगशाई की सैनिक चौकियाँ आती हैं। यह सिरमौरी तथा क्योंठाली के बीच की विभाजक भाषा है।

क्योंठाली

क्योंठाली शिमला की पर्वतीय रियासतों के मध्यभाग की भाषा है। यह स्वतः शिमला के चारों ओर तथा क्योंठाल रियासत में बोली जाती है। क्योंठाल रियासत के नाम के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। यह एक राज्य से दूसरे राज्य में अत्यधिक भिन्नता प्रदर्शित करती है। यहाँ तक कि एक परगने से दूसरे परगने में भी यह बदल जाती है। यही कारण है कि इसके कम से कम सात रूपों का आकलन सर्वेक्षण में किया गया है।

सतलज की विभाषाएँ कुलुई

शिमला के उत्तर में कुलू प्रदेश स्थित है। इन दोनों को सतलज नदी पृथक् करती है जिसके दोनों तटों पर दो बोलियाँ बोली जाती हैं। ये वस्तुतः शिमला तथा कुलुई के बीच एक सेतु का निर्माण करती हैं। ऊपर की तालिका में दिये गये सतलज वर्ग में ये विभाषाएँ ही शामिल हैं। कुलू की तीन विभाषाएँ हैं; इनमें से कुलुई तो मुख्य है, इसके अतिरिक्त दो और विभाषाएँ हैं। कुलू के पश्चिम तथा शिमला की पहाड़ी रियासतों के उत्तर में सुकेत की रियासत है और इसके भी उत्तर में मंडी है। यहाँ हमें मंडी वर्ग की विभाषाएँ मिलती है। इनकी चार उप-भाषाएँ हैं, जिनमें मंडियाली तथा सुकेती सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

मंडियाली के पश्चिम में पंजाब का काँगड़ा जिला अवस्थित है। यहाँ की भाषा पंजाबी का ही एक रूप है। हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि मंडी वर्ग की विभाषाएँ पंजाबी में अन्तर्लीन होनेवाली दक्षिणी कुलुई का प्रतिनिधित्व करती हैं।

चमेयाली, गादी

कुलू के उत्तर-पश्चिम तथा काँगड़ा के उत्तर में चम्बा रियासत है। यहाँ चार बोलियाँ हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण रियासत की प्रमुख भाषा चमेयाली है। अन्य विभाषा गादी है, जो गद्दी लोगों द्वारा बोली जाती है। यह एक पशुपालक जाति है जो कुलू की सीमा पर, रियासत की भरमौर विजारत में निवास करती है। इसके बोलनेवाले पंजाब के मैदानों से निष्क्रमण करनेवालों के वंशज हैं, जिन्होंने मुसलमानों के अत्याचार से बचने के लिए यहाँ शरण ली थी। अब वे चमेयाली के एक रूप का व्यवहार करते हैं। इनके उच्चारण की विशेषता यह है कि ये स्काटलैंण्ड की भाषा के लॉच (loch) शब्द की भाँति प्रत्येक –श्–ध्वनि का उच्चारण –'ख्'– की तरह करते हैं।

पंगवाळी

चम्बा रियासत् के धुर उत्तर में पंगी का अत्यन्त मनोरम किन्तु निर्जन पर्वतीय क्षेत्र अवस्थित है। यहाँ की भाषा 'पंगवाळी' कही जाती है। यह भी चमेयाली का ही एक रूप है, किन्तु इसमें कश्मीरी के सम्मिश्रण के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। अन्ततः, चम्बा खास तथा पंगी से उत्तर पश्चिम में भद्रवाह जागीर तथा पाडर जिला स्थित है। ये दोनों ही कश्मीर में हैं। इनके आगे कश्मीर खास है। यहाँ की भाषा कश्मीरी है। इस प्रकार यहाँ इस बात की अपेक्षा की जा सकती है कि भद्रवाह तथा पाडर की भाषाएँ, चमेयाली तथा कश्मीरी के बीच की कड़ियाँ हों और वास्तव में ऐसा ही है भी।

भद्रवाही, भळेसी, पाडरी

इस क्षेत्र की विभाषाएँ भद्रवाह वर्ग का निर्माण करती हैं। इनकी संख्या तीन है; भद्रवाही तथा उसकी उपविभाषाएँ भळेसी एवं पाडरी।

इस प्रकार पश्चिमी पहाड़ी की बहुसंख्यक विभाषाओं का यह सर्वेक्षण मोटे तौर पर समाप्त हुआ, तथा हम केन्द्रीय पहाड़ी की खस विभाषाओं का, शिमला की पर्वत-मालाओं से होते हुए भद्रवाह तथा पाडर की अर्द्ध कश्मीरी बोलियों में क्रमिक परिवर्तन खोजने में समर्थ हो सके।

लिपि

पश्चिमी पहाड़ी टक्करी लिपि में लिखी जाती है। जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, यह वही लिपि है जिसमें पंजाबी[1] की विभाषा डोगरी लिखी जाती है। प्रायः स्वर-ध्वनियों के अपूर्ण चिह्नों की उपस्थिति के कारण इसमें लंडा लिपि की बहुत सी असुविधाएँ भी हैं। साधारणतः इसमें मध्यवर्ती ह्रस्व स्वरों को बिलकुल ही छोड़ दिया जाता है, और मध्य दीर्घ स्वरों को प्रारम्भिक स्वरों के चिह्नों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, चाहे वे दीर्घ हों या ह्रस्व। चमेयाली में इस लिपि को उसके छूटे हुए चिह्नों के सहित पूर्णरूप में व्यवहृत किया गया है, इसी लिए इसमें मुद्रित ग्रन्थ उतने ही स्पष्ट तथा ठीक हैं, जितनी कि नागरी लिपि में मुद्रित पुस्तकें।

१. देखो अध्याय १५, डोगरी बोली

हिमालय की भाषाएँ तथा राजस्थानी

यदि थोड़ी देर के लिए पूर्वी पहाड़ी को विचार-कोटि से पृथक् कर दिया जाय तो हम यह कह सकते हैं कि हिमालय के निचले भाग में, पूर्व में कुमायूँ से लेकर पश्चिम में अफ़गान सीमा तक, चार भाषाओं का क्षेत्र है। इनमें से पूर्व में केन्द्रीय पहाड़ी, पश्चिम
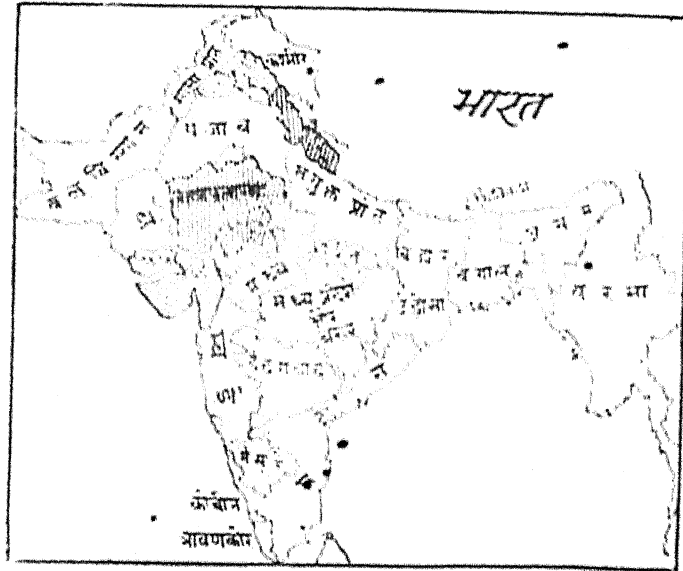
मध्य पहाड़ी और पूर्वी राजस्थानी
पश्चिमी पहाड़ी और पश्चिमी राजस्थानी
उत्तरी लहंदा तथा कश्मीरी और गुजराती

चित्र १७

में पश्चिमी पहाड़ी और अन्ततः सुदूर पश्चिम में कश्मीरी तथा उत्तर में लहँदा की विभाषाएँ हमें मिलेंगी। हम यह देख चुके हैं कि इन सभी भाषाओं का दर्दीय भाषाओं से प्राचीन सम्बन्ध है। और यह भी दिलचस्प बात है कि राजपूताना तथा गुजरात की भाषाओं से भी इन सबका, अपेक्षाकृत, अति निकट का सम्बन्ध है। गंगा के कांठे के उस पार, तथा कुछ और पश्चिम में, पंजाब के आगे हिमालय की पर्वतीय भाषाओं के साथ-साथ हम स्पष्ट रूप से भाषाओं का एक त्रिगुट समुदाय भी पाते हैं। केन्द्रीय पहाड़ी के समक्ष और पश्चिमी हिन्दी के पार पूर्वी राजस्थानी स्थित है; पश्चिमी पहाड़ी के सामने और पंजाबी के उस ओर मारवाड़ी तथा पश्चिमी राजस्थानी की

सम्बन्धित विभाषाएँ हैं; तथा कश्मीरी एवं पश्चिमी लहँदा के सम्मुख, एवं दक्षिणी लहँदा और सिंधी के उस ओर, तथा पश्चिमी राजस्थानी के दक्षिण-पश्चिम में गुजराती का क्षेत्र है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध ऊपर के मानचित्र में स्पष्ट किया गया है। किन्तु यह समानान्तरता केवल भौगोलिक ही नहीं है, अपितु यह इन भाषाओं की विशिष्टताओं में भी परिलक्षित होती है।

इनमें प्रत्येक भाषा अपनी प्रतिमुख भाषा से समानता प्रकट करती है और अपनी पड़ोसी भाषाओं से विलक्षण रूप से पृथक्ता रखती है। इस प्रकार मध्य-पहाड़ी अपने सम्मुख की पूर्वी राजस्थानी भाषा से उसके सम्बन्धकारक के अनुसर्ग —'को'— तथा सहायक क्रिया की धातु—'अछ्'—को ग्रहण करते हुए उससे समानता रखती है, जब कि शिमला-पर्वतमालाओं की पश्चिमी पहाड़ी के सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग —'रो'— पश्चिमी राजस्थानी की विभाषाओं की भाँति है, तथा इसकी एक सहायक क्रिया (आ=है) संभवतः उसी मूल की है, जिस मूल से पश्चिमी राजस्थानी की सहायक क्रिया —'है'— की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् हम दक्षिणी त्रिगुट की गुजराती पर आते हैं। यहाँ सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग —'नो'— है, और सहायक क्रिया —'अछ्'— समुदाय की है। उत्तर की तत्सम्बन्धित भाषाएँ कश्मीरी तथा उत्तरी लहँदा हैं। इनमें लहँदा भाषा का सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग —'नो'— है, किन्तु इसकी सहायक क्रिया गुजराती से भिन्न है, यद्यपि निकटतम सम्बन्धित कश्मीरी इसी धातु —'अछ्'— से अपनी सहायक क्रिया के रूप का निर्माण करती है। इतना ही नहीं, गुजराती प्रायः लहँदा की सभी विभाषाओं से एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात में समानता प्रकट करती है। यह है ऊष्म वर्णों[1] के संयोग से भविष्यत् काल की रचना। यह ऐसी विशेषता है जो किसी भी भारतीय आर्य भाषा में नहीं मिलती। इस प्रकार हम देखते हैं कि ठीक हिमालय की तराई के साथ-साथ सिन्धु नदी से लेकर नेपाल तक तीन समुदाय की विभाषाएँ मिलती हैं। इनमें से प्रत्येक भाषा-समुदाय, क्रमानुसार, विशेष बातों में, एक-दूसरे के समान है और ठीक इसी क्रम में इनका सम्बन्ध गुजराती, पश्चिमी-राजस्थानी तथा पूर्वी-राजस्थानी से है।

१. 'वह मारेगा' के लिए लहँदा में "कुट्टसी" तथा गुजराती में "कुट्शे" होगा।

सोलहवाँ अध्याय

अवर्गीकृत भाषाएँ

अब भी कुछ भारतीय भाषाएँ शेष रह गयी हैं, जो पीछे वर्णित शीर्षकों के अन्तर्गत नहीं आतीं। ये हैं—जिप्सी बोलियाँ, बुरुशास्की तथा अंदमानी।

जिप्सी शब्द यहाँ अपने विशुद्ध परम्परागत अर्थ 'यायावर' के रूप में व्यवहृत किया गया है। यहाँ इसको किसी भी रूप में यूरोप तथा पश्चिमी एशिया के 'रोमानी चाल' से सम्बन्धित अर्थ में नहीं लेना चाहिए। यायावर जातियों के द्वारा व्यवहृत होनेवाली विभिन्न बोलियों के रूपों का विवरण, जिनका अभिज्ञान ज्ञात भाषाओं की निश्चित विभाषाओं के रूप में सम्भव हो सका था, सर्वेक्षण के पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। इन भाषाओं में तमिल की 'कोरव' तथा 'कैकाडी' विभाषाएँ, कन्नड़ की 'कुरुम्बा' विभाषा तथा तेलुगु की 'वडरी' विभाषाएँ हैं। ये सब की सब आदि से अन्त तक द्रविड़ भाषाएँ हैं। दूसरी ओर हम इसी प्रकार, पूर्णतया भारतीय आर्य-भाषा के रूप में राजस्थानी की लभानी, ककेरी तथा बहुरुपिया विभाषाओं को, गुजराती की तारी-भूकी अथवा घिसाडी रूप को तथा बहुत सी भीली बोलियों, जैसे बाओरी, चारणी, हबूड़ा, पारधी और सियालगिरी को पाते हैं। जहाँ तक इनके वर्गीकरण का सम्बन्ध है, इनके प्रति किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि ये विभाषाएँ या तो द्रविड़ कुल की हैं, अथवा इनका पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध भारतीय आर्य-भाषाओं की राजस्थानी, गुजराती अथवा भीली भाषाओं से है।

शेष भाषाएँ दो समूहों—मुख्य तथा चोर बोलियों के अन्तर्गत आती हैं। नीचे दी गयी संख्याओं को विशिष्ट प्रतिबन्ध के साथ ही ग्रहण करना उचित होगा, क्योंकि हम जानते हैं कि बहुत सी ऐसी जिप्सी जातियाँ हैं[1] जो सर्वेक्षण तथा जन-गणना दोनों की

१. इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है 'चुहड़ा' जाति। इसकी भ्रमणशीलता का संक्षिप्त विवरण डॉ० ग्राहम बेली (D. Grahame Bailey) ने अपने ग्रन्थ—"नोट्स ऑन पंजाबी डायलेक्टस्" में दिया है।

सीमाओं के अन्तर्गत नहीं आ सकीं। जहाँ कहीं जन-गणना की भी गयी है, वहाँ एक बड़ी संख्या के लोगों ने इसका बहिष्कार ही किया है। इनमें से बहुत सी जातियाँ तो न्यूनाधिक रूप में बदनाम भी हैं, और इस कारण इनके बोलनेवाले प्रकाशन में आने को उत्सुक नहीं हैं।

जिप्सी बोलियाँ	सर्वेक्षण
मुख्य बोलियाँ	९,७४८
चौर बोलियाँ	९१,९२३
योग	१,०१,६७१

शुद्ध जिप्सी बोलियाँ

ऊपर की चर्चा को ध्यान में रखते हुए हम शुद्ध जिप्सी भाषाओं की गणना आगे दी गयी संख्या के रूप में कर सकते हैं। ऊपर इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि जिन जिप्सी भाषाओं का वर्गीकरण करने में हम समर्थ हो सके हैं, या तो वे विख्यात द्रविड़ कुल की विभाषाएँ हैं, अथवा वे राजस्थानी या उसकी निकटतम सम्बन्धिनी गुजराती तथा भीली भाषाओं के रूप हैं। दूसरी ओर, समस्त अवर्गीकृत जिप्सी भाषाएँ विभिन्न भाषाओं के मिश्रित रूप हैं। किन्तु उनकी एक सामान्य विशेषता यह है कि प्रायः उन सभी का आधार द्रविड़ भाषा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके बोलनेवाले, राजपूताना तथा भील प्रदेश के निकट, सर्वप्रथम भारतीय आर्य-भाषाओं के प्रभाव में आये। वहीं से प्रत्येक मिश्रित भाषा ने अपने मूल रूप अथवा रूपों को ग्रहण किया, तथा जैसे-जैसे ये जातियाँ भारतवर्ष में प्रसरित हुईं, उनकी भाषा भी उस स्थान की भाषा-से अत्यधिक मिश्रित होती गयी, जहाँ कि वे निवास करने लगी थीं।[1] यदि यह विवरण स्वीकृत हो जाता है, तो हम पुनः उसी दृष्टिकोण से वर्गीकृत जिप्सी भाषाओं पर ध्यान केन्द्रित कर सकेंगे। उन विभाषाओं ने, जो अब द्रविड़ हैं, वस्तुतः अपने मूल रूप को सुरक्षित रखा है और उनमें अत्यल्प सम्मिश्रण हुआ है या कभी-कभी बिलकुल नहीं हुआ है, किन्तु वे बोलियाँ जो अब भारतीय आर्य भाषाएँ हैं, वास्तव

१. इसका एक महत्त्वपूर्ण अपवाद पेण्डारी है, जिसका, जैसा कि हम देखेंगे, अपना इतिहास है।

में उन जातियों की बोलियाँ हैं जिनका मुख्य निवास-केन्द्र बहुत दिनों तक राजपूताना में रहा। इन्होंने अपने मूल निवास-स्थान की द्रविड़ भाषा का अब पूर्णतया परित्याग कर दिया है, और समस्त रूपों में राजस्थान की भाषा को ही अपना लिया है।

शुद्ध जिप्सी बोलियाँ	सर्वेक्षण
पेंढारी	१,२५०
भाम्टी	१४
बेलदारी	५,१४०
ओडकी	२,८१४
लाडी	५००
मछरिया	३०
योग	९,७४८

पेण्ढारी

जिप्सी विभाषाओं के संभावित मूल-स्रोत के सम्बन्ध में ऊपर जो व्यापक वक्तव्य दिया गया है उसका एक महत्त्वपूर्ण अपवाद पेण्ढारी बोली उपस्थित करती है। भारतीय इतिहास के पिंडारियों की यह भाषा न तो किसी जाति-विशेष की बोली है और न किसी प्रचलित धर्म की ही। पिंडारी आततायी डाकुओं के गिरोह थे, जिनमें भारत के सभी भागों के गुंडे, खूनी तथा बदमाश सम्मिलित थे। इनमें अफगान, मराठा, जाट इत्यादि सभी थे। सन् १८१७ ई० में वे अंतिम रूप से लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा समाप्त कर दिये गये।

वर्तमान युग में, पिण्डारियों का प्रतिनिधित्व करनेवालों के समुदाय मध्य भारत, बम्बई तथा अन्य स्थानों में बिखरे हुए हैं। साधारणतया इन लोगों ने अब अपने आस-पास की बोलियों को अपना लिया है, किन्तु बम्बई के कुछ भागों में अब भी उनकी अपनी भाषा है जो उनकी जाति के नाम पर पिण्डारी कहलाती है। जैसी कि आशा की जाती है, यह एक ऐसी भद्दी बोली है जिसमें दक्खिनी हिंदुस्तानी, मराठी तथा राजस्थानी का सम्मिश्रण है। इसका और अधिक विवरण अनावश्यक है।

भाम्टी

भाम्टा एक अपराधी जाति है। यह मध्य प्रान्त तथा भारत में पायी जाती है। इस वर्ग के लोग पूर्णतया यायावर नहीं हैं, वरन् ये गाँवों में रहते हैं, तथा वहीं से पास

पड़ोस में चोरी करते हैं। इनमें से अधिकांश व्यक्ति तेलुगु की वडरी[1] विभाषा का व्यवहार करते हैं किन्तु बीजापुरवाले कन्नड़ का प्रयोग करते हैं। इनमें से कुछ लोगों के संबंध में यह तथ्य भी प्राप्त हुआ है कि ये मध्य प्रान्त में अपनी मातृ-भाषा भाम्टी बोलते हैं। यह एक बिकीर्ण मिश्रित बोली है तथा इसमें दक्खिनी, हिन्दुस्तानी एवं राजस्थानी के जयपुरी रूपों का मिश्रण हुआ है।

बेलदारी

बेलदार भूमि खोदनेवाली एक श्रमिक जाति है, जो भारतवर्ष के एक बहुत बड़े भाग में फैली हुई है। उनमें से अधिकांश लोगों ने अपने पास-पड़ोस की बोलियों को ग्रहण कर लिया है, किंतु प्राप्त तथ्यों के अनुसार, राजपूताने के जैसलमेर, मध्य प्रान्त तथा बम्बई प्रान्त में बेलदारी नाम की एक भाषा भी मिली है। इसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण हुआ है, जिनमें मुख्य हैं पूर्वी राजस्थानी तथा मराठी। किन्तु इन दोनों भाषाओं का पारस्परिक अनुपात, स्वाभाविक रूप से, स्थान के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

ओड्की

ओड्की का बेलदारी से निकटतम संबंध है। यह भ्रमणशील भूमि खोदनेवाली श्रमिक जाति ओड अथवा वड्डर लोगों की भाषा है। ये प्रायः सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं; किन्तु प्रधान रूप से पंजाब तथा मद्रास इनका क्षेत्र है। मद्रास के ओड लोग तेलुगु बोलते हैं। यही इनकी मूल भाषा प्रतीत होती है। पंजाब, सिंध तथा गुजरात में इनकी अपनी घरेलू भाषा है। यह मराठी तथा गुजराती-राजस्थानी का मिश्रण है और स्थान के अनुसार इसमें इन भाषाओं का अनुपात बदलता रहता है। भाम्टी के प्रसंग में ऊपर वर्णित वडरी के साथ इसकी तुलना की जा सकती है।

लाडी

'लाड' जिप्सियों की एक जाति है, जो पान, सुपाड़ी, तम्बाकू, भांग इत्यादि बेचती है। वे समस्त पश्चिमी भारत, मुख्यतया बम्बई प्रदेश में पाये जाते हैं। उनमें से अधिकांश लोगों की अपनी कोई बोली नहीं है। किन्तु उनमें से कुछ लोग, जो बरार

१. देखो अध्याय ७, गोलरी, वडरी।

प्रदेश में रहते हैं, एक भाषा बोलते हैं, जिसका स्थानीय नाम लाडी है। यह प्रधान रूप में पूर्वी राजस्थानी का भ्रष्ट रूप है।

मछरिया

मछरिया सिन्ध से निष्क्रमण करनेवाली चिड़ीमार जाति की भाषा है, जो पंजाब की कपूरथला रियासत में बस गयी है। वास्तव में यह जिप्सी भाषा नहीं है, यद्यपि साधारणतया इसका वर्णन इसी रूप में किया गया है। यह सिन्धी और पंजाबी का मिश्रण मात्र है।

गुप्त जिप्सी बोलियाँ

मछरिया के साथ-साथ हम उन सभी जिप्सी भाषाओं पर विचार करना समाप्त कर रहे हैं, जिन्हें बोलियाँ कहा जा सकता है। अब हम चोर बोलियों पर विचार करेंगे। इस प्रकार की जो बोलियाँ सर्वेक्षण के अन्तर्गत आ चुकी हैं, वे नीचे की सूची में उल्लिखित हैं। इनका प्रयोग अपराधियों तथा अन्य कुख्यात लोगों द्वारा गुप्त कार्यों के लिए किया जाता है। इनके समानान्तर, यूरोप में, "थीव्ज लैटिन" ("Thieves Latin) ('चोरों की लैटिन') तथा अन्य गुप्त भाषाएँ पायी जाती हैं। यह दिलचस्प बात है कि इन भाषाओं के बोलनेवालों ने अपनी भाषा को गोपनीय रखने के लिए प्रायः उन्हीं साधनों को अपनाया है, जो प्रायः पश्चिमी देशों में अपनाये गये हैं। इनमें से एक विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी है, जिन्हें वे विदेशी भाषाओं से ग्रहण कर लेते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे लन्दन के चोर वहाँ की स्त्री को 'दोवाह' (Dowah) कहते हैं जो वस्तुतः एक विदेशी शब्द दोम्ना (Domna) से ग्रहण किया गया है। वे कभी-कभी वर्णों का स्थान परिवर्तन भी कर देते हैं। लन्दन का चोर वहाँ की पुलिस (Police) को स्लोप (slop) कहता है जो वस्तुतः 'पोलिस' का वर्ण-विपर्यय है। इसी भाँति एक भारतीय चोर अपने शत्रु—'पुलिस-जमादार' को वर्णपरिवर्तन करके 'मजादार' (मजा, आनन्द देनेवाला) कहकर पुकारता है। कभी-कभी तो शब्द के एक ही वर्ण के स्थान-परिवर्तन से भी यह कार्य सम्पन्न किया जाता है। गुप्त जर्मन-भाषा में 'हित्ज' (गर्मी) 'वित्ज' में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार जब साँसी-भाषी यह कहना चाहता है कि 'भूखा हूँ' तो वह 'भूखा' के स्थान पर 'झूखा' शब्द का प्रयोग करता है। निश्चय ही इन गुप्त भाषाओं के बोलनेवाले द्विभाषी होते हैं। वे सामान्यतः अपने पास-पड़ोस की भाषा का व्यवहार करते हैं और गुप्त भाषा को अवसर-विशेष के लिए सुरक्षित रख छोड़ते हैं। उनमें से कुछ लोग,

जैसे साँसी-भाषी तो त्रिभाषिए होते हैं। अपने पड़ोसियों से तो वे नित्य व्यवहार में देश की प्रचलित भाषा का प्रयोग करते हैं। अपनी दस्यु-वृत्ति के लिए वे गुप्त भाषा का सहारा लेते हैं, और सामान्य कार्यों के लिए वे एक अर्द्ध-गुप्त भाषा बोलते हैं। इसमें विशुद्ध गुप्त भाषा की कुछ विशेषताएँ रहती हैं, किंतु इसकी शब्दावली सरल होती है और इसका प्रयोग वे साधारणतः आपस में ही करते हैं। बहुधा विशुद्ध गुप्त भाषा का ज्ञान उस जाति के समस्त सदस्यों को नहीं होता, उसे तो केवल वयस्क और विशेषज्ञ ही जानते हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इन गुप्त भाषाओं के सम्बन्ध

गप्त जिप्सी-बोलियाँ	सर्वेक्षण
साँसी	५१,५५०
कोल्हाटी	२,३६७
गारोडी	?
मिर्स्यवाले	?
कंजरी	७,०८५
नटी	११,५३४
डोम	१३,५००
मलार	२,३०९
कसाई	२,७००
सिकलगरी	२५
गुलगुलिया	८५३
योग	९१,९२३

में हमारा ज्ञान निश्चित रूप से अपूर्ण है। यह तो आशा ही की जा सकती है कि चाहे सर्वेक्षण ही के लिए क्यों न हो, जो लोग इस भाषा का व्यवहार करते हैं, वे किसी भी राजकीय कर्मचारी के समक्ष इसके अस्तित्व तक को स्वीकार करने में भी सहमत नहीं होंगे। जब भी उनसे इसके विषय में प्रश्न किया गया, उन्होंने इसके अस्तित्व को एकदम अस्वीकार कर दिया। अतएव, हमारे पास इस सम्बन्ध के जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, वे बहुत ही कठिनाई से प्राप्त हो सके हैं। इसका एक उल्लेखयोग्य उदाहरण है 'चुहड़ा' बोली का, जिसकी विशेषताओं का प्रकाशन सर्वेक्षण के पृष्ठों में नहीं हो सका। इसलिए मैं डाक्टर ग्राहम बेली द्वारा प्रदत्त तथ्यों के आधार पर ही इस जाति के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण देते हुए इस विषय पर विचार करना प्रारम्भ करता हूँ।[1]

१. देखो "नोट्स ऑन पंजाबी डायलेक्टस", पृ० १३ तथा उसके आगे।

चुहड़ों की बोली

चुहड़ा जाति के लोग पंजाब में पाये जाते हैं। सन् १९२१ ई० में, इसके बोलने वालों की संख्या की गणना नहीं हुई थी। इनका पेशा सड़क बुहारने का है, जो उनके सेंध लगाने, पशुओं को विष मिला देने तथा अन्य कुकृत्यों से भिन्न है। वे मुर्दा पशुओं का मांस खाते हैं। उनकी गुप्तभाषा पंजाबी है, किन्तु इसके साथ वे ऐसी कृत्रिम एवं गोपनीय शब्दावली का प्रयोग करते हैं कि सामान्य श्रोता के लिए उसका भाव सर्वथा बोधगम्य नहीं रह जाता। इनके बहुत से शब्द, अन्य गुप्त भाषाओं, जैसे, साँसी या कसाई, में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार की भाषा की रूपरेखा के ज्ञान के लिए मैं यहाँ डॉक्टर ग्राहम बेली के विवरणों से निम्नलिखित अंश उद्धृत कर रहा हूँ—

"विषय-वस्तु के अन्तरतम तक ठीक-ठीक पहुँचने के लिए हमें एक साहसिक अभियान के साथ चलना अच्छा होगा, जिसका लक्ष्य एक धनाढ्य व्यक्ति का घर लूटना है। एक छुड़म (चोर) जो सदैव अपनी आँखें खुली रखता है, किसी 'राड़की' (हिन्दू) अथवा 'घिरबला' (मुसलमान) के 'कुढ्ढ' (घर) का पता लगाता है। वह अपने ही लोगों में से एक अन्य 'काळा' (चोर) खोजता है, अथवा किसी 'रुंग' (चुहड़ा) या विश्वासपात्र 'भाट्टू' (साँसी) को ढूँढ़ता है, जो उसकी सहायता को प्रस्तुत हो। 'भीम्टे' (रुपए) और 'बगले' (वही) तथा 'हरचीयें' (पैसे) एवं 'ठेले' (एक प्रकार के आभूषण) में घर की सम्पन्नता का चित्रमय एवं उल्लासपूर्ण वर्णन करते हुए वह कहता है, "चलो गुळ लाईएँ" (चलो हम घर में सेंध लगायें)। जैसे ही वे लोग बिना चन्द्रमा की, अँधेरी रात में बाहर निकलेंगे, हम इन लोगों का अनुसरण करेंगे। उस मकान में पहुँच जाने पर वे अपना 'टोम्बू' (घर में सेंध लगाने का लोहे का औजार, पूरब के देशों की सबरी) निकालकर काम शुरू कर देते हैं। वे अपने पार्श्व में बहुत से 'छिकारे' या मिट्टी के ढेले सुरक्षा के लिए रख लेते हैं, जिससे वे किसी भी अनधिकारी प्रवेशक पर आक्रमण कर सकें। जब सेंध पूर्णतया बन जाती है, तब चोर, अपनी 'काड्की' (लाठी) तथा 'पैन्तड़ी' अथवा 'नाखल' (जूता) बाहर छोड़कर तथा अपने 'लिताड़ा' (विश्वासपात्र) को सतर्क रहने का आदेश देकर मकान के भीतर प्रवेश करता है। यदि वह भीतर किसी को भी नहीं पाता तो 'घसाई' (दिया-सलाई) जलाने का संकट मोल लेता है। तत्क्षण ही सेंध लगाने वाले के पास मिट्टी का एक ढेला आकर गिरता है; इसे 'नेवला' (मिट्टी का ढेला जो आसन्न विपत्ति की सूचना के लिए फेंका गया हो) कहते हैं। वह चेतावनी के लिए चारों ओर देखता है और फुसफुसाहट के शब्द, "कज्जा चामदा ई" (एक जाट देख रहा है) को सुनता है। अपनी 'गैमी' (चोरी) में इस प्रकार की अन्तर्बाधा को वह अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण

समझता है। उस समय अपने को वह और भी अधिक परेशान पाता है, जब वह एक अन्य फुसफुसाहट की ध्वनि "ठिप्जा (छिप जा), पल्वे होजा" (एक बगल होजा) सुनता है। वह वापस बुलाता है, "कैंकर कर" (एक ढेला फेंको), "लोथ् लै सू" (उसे पीटो या मार डालो), और मकान से बाहर चला आता है। उनकी 'नेओडी' (चोरी) फलीभूत नहीं हुई। दोनों ही चोर भिन्न मार्गों से अपने घरों को भाग जाते हैं। दूसरे दिन वे बड़े आश्चर्य से, इस अविश्वसनीय रिपोर्ट पर, जो बहुत दूर तक फैल चुकी होती है, विचार करते हैं कि एक 'कज्जा' पर दो चुहड़ा 'छुड़म' (चोरों) ने आक्रमण किया, जो कि एक 'लाल्ली' (डकैती) में प्रवृत्त थे, और वह 'लुग गया' (मर गया)।"

साँसी

साँसी एक कुख्यात चोर-जाति है, जो चुहड़ा की ही भाँति अधिकतर पंजाब में पायी जाती है। इसके विषय में सर्वेक्षण बहुत सफल रहा है, क्योंकि इसके स्वयं के प्राप्त तथ्यों के साथ-साथ इस जाति के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन करनेवाले डॉ० ग्राहम बेली ने कई निबन्ध लिखे हैं। साँसी लोग त्रिभाषिए होते हैं। वे अपने पास-पड़ोस की प्रचलित भाषा बोलते हैं, तथा दो अन्य विभाषाओं का भी प्रयोग करते हैं। इनमें से एक तो साधारण साँसी है, जिसका व्यवहार वे आपस में करते हैं, तथा दूसरी उनकी चोर-भाषा है। पंजाब में इनकी प्रचलित बोली हिन्दुस्तानी तथा पंजाबी का भ्रष्ट मिश्रण है, जिसमें पश्चिमी पहाड़ी तथा राजस्थानी के कुछ रूपों को भी ग्रहण किया गया है। अन्य स्थानों में यह हिन्दुस्तानी के विकृत रूपों से बहुत अधिक मिलती जुलती है। इनकी गुप्त भाषा प्रचलित भाषा से केवल गुप्त शब्दों के प्रयोगों में ही भिन्न है। यह संख्या में अधिक हैं, और किसी भी बाहरी व्यक्ति के लिए भाषा को पूर्णतया दुर्बोध्य बना देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके कुछ शब्द अन्य भाषाओं, जैसे द्रविड़ तथा भारतीय आर्य-भाषा से ग्रहण किये गये हैं। इनमें से बहुत से शब्द अन्य गुप्त भाषाओं में भी मिलते हैं। अन्यत्र अक्षरों को उपसर्ग अथवा परसर्ग की भाँति शब्दों से जोड़कर उनका वास्तविक अर्थ लुप्त कर देते हैं। उदाहरणार्थ, वे आँख के पंजाबी शब्द 'अक्खी' के लिए 'कुक्खी' तथा 'दो' के लिए 'धोर' का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी वे प्रारम्भिक अक्षर को ही बदल देते हैं, जैसे 'लोकना' या 'देखना' के लिए 'नौखणा'। इस प्रकार के परिवर्तनों से अंग्रेजी पाठक परिचित हैं, क्योंकि ये उनकी बाल्यावस्था के खेलों का स्मरण दिलाते हैं, और वे सहज ही में इस बात को समझ सकते हैं कि थोड़ा परिवर्तन भी, जैसा कि साँसी में देखा जा सकता है, भाषा तथा व्याकरण में कितनी गड़बड़ी उत्पन्न कर देता है।

कोल्हाटी

कोल्हाटी, बम्बई प्रान्त, बरार तथा हैदराबाद राज्य में रस्सों पर नाचने तथा कलाबाजी दिखानेवाली एक जाति है। इसकी अधिकांश स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करती हैं। इस जाति का दावा है कि वे साँसी लोगों से सम्बन्धित हैं, और यह उनकी गुप्तभाषा से ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यह साँसी जाति की भाषा से बहुत मिलती-जुलती है।

गारोडी

गारोडी, बम्बई प्रान्त के बेलगाँव जिले की एक भ्रमणशील मदारी जाति है। वे मुसलमान कहे जाते हैं, किन्तु उनका धर्म उन पर बहुत ही कम घटित होता है। उनकी गुप्त भाषा द्रविड़ तथा भारतीय आर्य भाषा का मिश्रण है, जिसमें पश्चाद्वर्ती भाषा का प्रतिनिधित्व कभी हिन्दुस्तानी, कभी राजस्थानी तथा कभी कभी मराठी के रूपों द्वारा किया जाता है। साथ ही, साँसी की ही भाँति, इसमें बहुत से ऐसे छद्मवेशी शब्द हैं, जिनका अर्थ एक विदेशी के लिए दुर्बोध्य हो जाता है। इस गुप्त भाषा के बोलनेवालों की संख्या अज्ञात है।

म्यानवाले

म्यानवाले जाति के लोग भी बेलगाँव में ही पाये जाते हैं। इनके विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक यायावर लुहार जाति के हैं। उनकी गुप्त भाषा, हिन्दुस्तानी तथा राजस्थानी-गुजराती पर आधारित, बहुत से गुप्त एवं छद्मवेशी शब्दों से निर्मित है। कभी-कभी इसमें द्रविड़ शब्दों के भी दर्शन हो जाते हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या अज्ञात है।

कंजरी

कंजर एक यायावर जाति है। उनमें से कुछ लोग स्थायी स्थान बनाकर रहने लगे हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश लोग जंगलों में निवास करते हैं और वहाँ प्राप्त वस्तुओं पर ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। वे वन्य वस्तुओं के हस्तनिर्मित उत्पादनों को अपने पड़ोस के सभ्य लोगों के हाथ बेच देते हैं। उनके जीवन-यापन के अनेक साधन हैं। अन्य वस्तुओं में वे चटाइयाँ, टोकरियाँ, पंखे, पत्तों की टोकरियाँ तथा इसी प्रकार की अन्य दस्तकारी की चीजें तैयार करते हैं। खस (जिससे गर्मी के दिनों की टट्टियाँ बनती हैं) एकत्र करना इनका मुख्य पेशा है। पत्थर काटनेवालों के रूप में, ये भारत के प्रत्येक घर में पायी जानेवाली आटा पीसने की चक्की के पत्थर गढ़ते हैं। इनका

मुख्य स्थान उत्तर प्रदेश है। ये अपनी पड़ोसी भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु इनकी भी कंजरी नाम की अपनी निजी गुप्त भाषा है। यह एक मिश्रित भाषा का रूप है, जो प्रधान रूप से पूर्वी राजस्थानी तथा आंशिक रूप से द्रविड़ भाषा पर आधारित है। अन्य स्थानों की भाषाओं की भाँति इसमें भी गुप्त तथा छद्मवेशी शब्दों की संख्या बहुत है।

नटी

नट एक ऐसी जाति है, जो बाजीगरी, नृत्य, वेश्यावृत्ति तथा चोरी करके अपना जीवन-यापन करती है। नट लोग बहुत बड़ी संख्या में सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा डेकन के उत्तर में मिलते हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश में, अन्य यायावर जातियों की भाँति इनकी भी अपनी एक गुप्त भाषा है, और संभवतः अन्यत्र भी यही बात है। यह हिन्दुस्तानी तथा राजस्थानी का मिश्रित रूप है और साधारण तौर पर इसमें भी गुप्त एवं छद्मवेशी शब्द पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। संभवतः इसका आधार राजस्थानी है और इसके विचित्र रूप भारतवर्ष के उन भागों में सुनाई पड़ते हैं जहाँ इसे कोई नहीं समझता।

डोम

डोम आदिम युग की जाति है, जिसका मूल सम्भवतः द्रविड़ है। ये डेकन के उत्तर में प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष में बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं, तथा इनके अधिकांश लोग बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में मिलते हैं। अध्ययन की दृष्टि से, इन पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि 'रोम' शब्द, जिसे यूरोपीय जिप्सी के लिए प्रयुक्त किया जाता है, प्रायः निश्चित रूप से यही (डोम) शब्द है जो पश्चिमी देशों में जा पहुँचा है। इनके विभिन्न पेशे हैं। मृतक के जलाने के लिए ये श्मशान घाट पर आग देते हैं और जलाने के काम में सहायक होते हैं। इनमें से कुछ लोग सड़क बुहारने तथा पाखाना साफ करने का काम करते हैं तथा अन्य लोग टोकरी बनाने एवं बेंत का काम करते हैं। हिमालय के पर्वतीय जिलों में इन्होंने कृषकों तथा शिल्पियों का सम्मानपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है, जब कि बिहार के घुमन्तू मगहिया डोम पेशेवर चोर हैं। दूसरी ओर, पश्चिमोत्तर भारत में डोमों ने पेशेवर चारणों का सम्मानित स्थान प्राप्त कर लिया है। भारतवर्ष के इस भाग के यही पेशेवर चारण हैं, जिनके लिए फारसी इतिहासकारों ने लिखा है कि वे यहाँ से ईरान गये थे, और फिर वहाँ से वे जिप्सियों के रूप में सीरिया तथा यूरोप में प्रविष्ट हुए। वस्तुतः बिहार के कुख्यात

मगहिया डोम ही गुप्त भाषा का प्रयोग करते हुए पाये गये हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वे कुख्यात चोर तथा दुश्चरित्र होते हैं, जो न तो खेती करते हैं और न परिश्रम करके ही रोटी कमाते हैं। स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से तनिक भी अच्छी नहीं है। ऊपर-ऊपर से दिखाने के लिए तो वे कभी-कभी टोकरियाँ आदि बनाती हैं, किन्तु उनका वास्तविक कार्य है गुप्तचर का तथा चोरी किये गये सामान को ठिकाने लगाने का। चोरी के सामान को छिपाने के उनके कुछ तरीके सचमुच ही विशेष चतुराई के हैं, किन्तु उन्हें उचित नहीं कहा जा सकता। इन लोगों की गुप्त भाषा बिहारी की स्थानीय विभाषा (साधारणतः भोजपुरी), राजस्थानी तथा हिन्दुस्तानी के मिश्रण पर आधारित है। हिन्दुस्तानी की उपस्थिति की तो व्याख्या करना सरल है, किन्तु जब तक यह जाति किसी समय राजपूताना में न रही हो तब तक राजस्थानी की उपस्थिति को स्पष्ट करना आसान नहीं है। फिर, इनकी भाषा में अनेक गुप्त एवं छद्मवेशी शब्द ह। इन छद्मवेशी शब्दों के निर्माण का भी ढंग वही है जो अन्य गुप्त भाषाओं का है। इनके अनेक गोपनीय शब्द वही हैं जो अन्य घुमन्तू जातियों में प्रचलित हैं।

मलार

मलार, पीतल के साँचे बनानेवाली एक यायावर जाति है। यह छोटा नागपुर में पायी जाती है। डोमों की भाँति यह जाति पेशेवर चोर नहीं होती। इस क्षेत्र की सामान्य भाषा बिहारी की विभाषा नागपुरिया है, और मलारों की गुप्त भाषा इसी पर आधारित एक साधारण ग्रामीण बोली है। ये लोग किसी प्रकार के विचित्र अथवा छद्म-शब्द का प्रयोग नहीं करते, किन्तु वे नागपुरिया के शब्दों में, सामान्य तरीकों से, उपसर्ग तथा परसर्ग संयुक्त करके उन्हें गुप्त बना लेते हैं। यह प्रक्रिया हम अन्यत्र भी देख चुके हैं।

कसाई

कसाई लोग पेशेवर बधिक होते हैं। मद्रास प्रान्त तथा सुदूर दक्षिण देश को छोड़कर ये सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में इनकी संख्या बहुत अधिक है। उनकी अपनी एक व्यापारिक भाषा है, जो एक साधारण ढंग की गुप्त भाषा है। यह स्थानीय शब्दों के मिश्रण से बनी हिन्दुस्तानी पर आधारित भाषा है। इसकी गोपनीयता प्रधानतया विचित्र तथा छद्म-शब्दों के प्रयोगों में निहित है। अब तक जिन गुप्त भाषाओं के सम्बन्ध में विचार किया गया है उनकी अपेक्षा इस भाषा में, सामान्य शब्दों के आदि अथवा अन्त में कुछ जोड़कर छद्म-शब्द निर्माण करने की

विधि का प्रायः अभाव है। यह उल्लेखनीय बात है कि जिन विचित्र शब्दों तथा वाक्यों का ये व्यवहार करते हैं उनमें अंकवाची शब्द अरबी के होते हैं।

सिकलगारी

सिकलगारी एक गुप्त भाषा है, जिसका प्रयोग सिकलगार अथवा शस्त्रास्त्र बनाने वाले करते हैं। उनका यह पेशा है और वे अधिकांशतः राजपूताना में पाये जाते हैं, किन्तु सिकलगारी भाषा के बोलनेवालों का एकमात्र स्थान, जिसकी सूचना अभी तक प्राप्त हो सकी है, बम्बई प्रान्त का बेलगाँव जिला है। वहाँ की गुप्त भाषा गुजराती या भीली पर आधारित है। इसमें सामान्य साधनों का व्यवहार किया जाता है। इसमें कुछ तो छद्म-शब्द हैं, किन्तु अनेक सामान्य शब्दों में भी उपसर्ग अथवा परसर्ग जोड़कर या अन्य उपायों से उनके रूप विकृत करके उन्हें गुह्य बना दिया जाता है।

गुलगुलिया

गुलगुलिया एक अनार्य यायावर जाति है, जो छोटानागपुर के हजारीबाग जिले में पायी जाती है। इनकी संख्या अत्यल्प है। ये अपनी रोटी आखेट द्वारा, बन्दरों को नचाकर, मादक-वस्तुएँ बेचकर, भीख माँगकर तथा कभी-कभी चोरी करके कमाते हैं। उनकी गुप्त भाषा सामान्यतया उपर्युक्त भाषाओं की भांति ही है, जिसमें गुह्य एवं छद्मवेशी-शब्द निहित हैं। इतर भाषियों से पारस्परिक व्यवहार में वे साधारण स्थानीय विभाषा का प्रयोग करते हैं।

बुरुशास्की

जिप्सी भाषाओं को यहीं छोड़ते हुए हम अब बुरुशास्की अथवा खजुना भाषा पर आते हैं। यह सुदूर पश्चिमोत्तर प्रान्त (अब पाकिस्तान) के समीपवर्ती प्रदेश तथा हुंजानगर के निवासी युद्ध-प्रिय लोगों की भाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या अज्ञात है। आज तक यह विभिन्न भाषाओं के बीच एक पहेली बनी हुई है। अभी तक कोई भी भाषाविद् इसे किसी भी ज्ञात भाषा-परिवार के अन्तर्गत रखने में सफल नहीं हुआ है। यह सत्य है कि एक महाशय ने इसे 'साइबेरियो-न्यूबियन' भाषा के अन्तर्गत वर्गीकृत करने का योग्यतापूर्ण दावा किया है[1] किन्तु उन्होंने अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया, और इसके अनुसन्धानकर्त्ता के अतिरिक्त

१. इंडियन एण्टीक्वेरी, I, २५८ (१८७२) में हाइड क्लर्क का लेख।

इसका नाम प्रत्येक व्यक्ति के लिए दुर्बोध होने के कारण सन्देहास्पद ही बना रहा। स्वयं मैंने भी प्रायः सभी ज्ञात एशियाई भाषाओं से इसकी तुलना की है, किन्तु किसी भी निश्चित सजातीय भाषा को पाने में मैं सफल नहीं हो सका, यद्यपि यत्र-तत्र शब्द-समूहों की समानता ने एकाधिक बार मुझे इस व्यर्थ प्रयत्न में भी आश्चर्यान्वित कर दिया। निश्चितता की निकटतम स्थिति, जो मैंने प्राप्त की है, यह धारणा है कि हो न हो इसके तथा मुंडा भाषाओं के बीच कोई दूर का सम्बन्ध हो किन्तु मैं स्वयं इस निश्चय पर कभी नहीं पहुँचा कि यही वास्तविक स्थिति है। 'साइबेरियो-न्यूबियन' सिद्धान्त के प्रकाशन के अर्द्ध-शताब्दी के पश्चात् एक अमेरिकन विद्वान् श्री पी० एल० बारबेंर ने एक अन्य सिद्धान्त उपस्थित किया।[1] यह भी उसी मार्ग का अनुगामी है। वे स्वयं भी इसे प्रामाणिकता की ओर अग्रसर नहीं करते, वरन् इसके प्रति भावी अनुसंधानों को प्रेरित करते हैं। यह बहुत संभव है कि इस दिशा में चलकर भावी अनुसन्धान कर्ता अन्ततः इस समस्या का समाधान उपस्थित कर सकें। वे बुरुशास्की को, आर्यों के आक्रमण के पूर्व, उत्तरी-भारत में बोली जानेवाली भाषा का अवशेष मानते हैं। हम यह देख चुके हैं कि मुंडा भाषाएँ अब गंगा के मैदान के दक्षिण-स्थित पहाड़ियों तक ही सीमित रह गयी हैं, किन्तु इन भाषाओं के लक्षण पश्चिम में पंजाब के कनावर स्थान तक के हिमालय के निचले भाग में पाये जाते हैं। बारबेंर महाशय का यह अनुमान है कि प्राचीन मुंडा भाषा का रूप (जो संभवतः द्रविड़ भाषा से मिश्रित था) उत्तरी भारत में विशेष रूप से प्रसरित था, और उसका अस्तित्व आर्यों के आक्रमण के समय तक वर्तमान था। कोई तीन हजार वर्ष पूर्व इसके बोलने वालों का एक वर्ग, आर्यों के द्वारा, उत्तर में, हिन्दूकुश की सुदृढ़ पर्वतमालाओं की ओर भगा दिया गया। तभी से वे वहाँ अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए हैं। तब से उनकी भाषा अपने ढंग से विकसित हुई है।[2] अन्य लोगों ने आर्य-प्रवेश के बढ़ते हुए ज्वार के पूर्व ही गंगा के मैदान के उत्तर तथा दक्षिण स्थित पर्वतमालाओं में जाकर शरण ली।

१. जर्नल आव द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी (Journal of the American Oriental Society Vol. XLI 1921 पृ० ६० तथा उसके आगे।

२. बुरुशास्की के शब्द दर्दीय भाषाओं में भी मिलते हैं। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज की अपेक्षा किसी समय बुरुशास्की विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित थी। जैसा कि मेरा विश्वास है, यदि दर्दीय भाषाएँ, उत्तर से हिन्दूकुश पर एक स्वतंत्र आर्य आक्रमण का प्रतिनिधित्व करती हैं तो हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन

और वे लोग निचले हिमालय में निवास करने वाले अपने सगोत्रीय भाइयों के सहित मुंडा नाम से अभिहित किये गये। मैंने यहाँ बारबॅर महोदय के सिद्धान्त को उनके शब्दों में न देकर, जैसा स्वयं समझ सका हूँ उस रूप में दिया है; बहुत सम्भव है कि इसे मैंने अशुद्ध रूप में दिया हो अथवा उन बातों पर अधिक जोर दिया हो जो बारबॅर के अनुसार नगण्य हों। इसके अतिरिक्त जिन बातों को बारबॅर महोदय ने विस्तार के साथ दिया है उनका मैंने केवल संक्षिप्त रूप ही यहाँ उपस्थित किया है। जन-संख्या में द्रविड़-तत्त्वों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसे तो मैंने इस प्रसंग को सरल बनाने के लिए प्रायः छोड़ ही दिया है।

बुरुशास्की के कई नाम हैं। निकटवर्ती जातियाँ इसे 'खजुना' नाम से सम्बोधित करती हैं; नगर के लोग इसे 'यश्कुन' कह कर पुकारते हैं, और यारकन्दी इसे 'कुन्जूती' नाम से अभिहित करते हैं। यसीन तथा समीपवर्त्ती प्रदेशों की बोली 'वशिकवार' नाम से प्रसिद्ध है। इस भाषा की क्रिया के रूप पूर्णतया सुगठित हैं। इसमें दो वचन तथा तीन पुरुष होते हैं। इसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसके सर्वनामीय उपसर्गों का अत्यधिक प्रयोग है, जिससे कभी-कभी इसके शब्दों का रूप ही बदल जाता है। इस प्रकार 'मेरी पत्नी' के लिए इसमें 'औस' किन्तु 'तुम्हारी पत्नी' के लिए 'गुस' शब्द का प्रयोग होता है; 'उसे बनाने' के लिए 'एतस्', किन्तु पुल्लिग 'तुम्हें बनाने' के लिए 'ममरितस्' तथा स्त्रीलिंग के लिए 'मतस्' शब्द का व्यवहार होता है।

अन्दमानीय

अन्त में अन्दमान द्वीप-समूह की भाषाओं पर विचार करना है। ये न तो सर्वेक्षण की विस्तार-परिधि के अन्तर्गत ही आती हैं और न इनके सम्बन्ध में मुझे कोई नवीन बात ही कहनी है। अभी तक भाषाविद इसे किसी भी ज्ञात भाषा-परिवार से सम्बद्ध करने में सफल नहीं हो सके हैं। ये सभी संयोगात्मक भाषाएँ हैं, जिनमें उपसर्गों, मध्यसर्गों तथा अनुसर्गों का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग होता है, और केवल साधारण विचारों को प्रकट करने के लिए ही इनका व्यवहार किया जाता है। भावात्मक विचारों का प्रकाशन इन भाषाओं की शक्ति से परे है और इनमें अर्थ को प्रकट करने के लिए स्वतंत्रतापूर्वक संकेतों का उपयोग किया जाता है।

प्राग्-मुण्डा-भाषा-भाषी पश्चिम से आने वाले आर्यों के द्वारा सर्व-प्रथम दर्द प्रदेश में उत्तर की ओर जाने के लिए बाध्य किये गये और तदुपरान्त उत्तर की ओर से आर्य आक्रमणकारी उस प्रदेश में प्रविष्ट हुए और या तो उन्हीं के बीच बस गये अथवा उन्हें उस अगम्य स्थान की ओर ढकेल दिया जहाँ वे आज पाये जाते हैं।

सत्रहवाँ अध्याय

उपसंहार

आधुनिक भारतीय भाषाएं

अन्दमान की इन भाषाओं के साथ-साथ भारत की भाषाओं का सर्वेक्षण पूरा हो जाता है। भारत वस्तुतः विरोधी तत्त्वों की भूमि है और भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करते समय तो ये तत्त्व और भी दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जिनके ध्वनि-सम्बन्धी नियमों के कारण इनके शब्दों की संख्या कुछ सौ से अधिक नहीं है और ये शब्द भी ऐसे ही हैं जिनके द्वारा केवल गौण एवं साधारण विचारों को ही प्रकट किया जा सकता है। दूसरी ओर यहाँ ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनका शब्द-समूह समृद्ध है तथा जो व्यापकता एवं पूर्णरूप से विचारों को प्रकट करने में अंग्रेजी से होड़ लेती हैं। यहाँ ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनका प्रत्येक शब्द एकाक्षर होता है किन्तु इनके विपरीत ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनके एक शब्द में अनेक अक्षर होते हैं और ये सब मिलकर एक पूरे वाक्य की सृष्टि करते हैं। कुछ भाषाएँ यहाँ ऐसी हैं जिनमें न तो संज्ञा है और न क्रिया और इनका एकमात्र व्याकरणीय रूप पद-विन्यास है, किन्तु कतिपय अन्य भाषाओं में व्याकरणीय तत्त्व उतने ही पूर्ण हैं जितने लैटिन तथा ग्रीक में। यहाँ कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनका इतिहास तीन सहस्र वर्ष पुराना है किन्तु कुछ ऐसी भी हैं जिनमें ऐतिहासिक परम्परा का सर्वथा अभाव है। यहाँ पूर्वी असम प्रदेश की नागा जातियों की वन्य भाषाएँ हैं जो कभी लिपिबद्ध नहीं की गयीं, किन्तु यहाँ कतिपय ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनमें उच्च साहित्य एवं महान् कवि हैं तथा जिनके काव्य में ईश्वर-सम्बन्धी भावनाओं को सर्वोत्कृष्ट स्थान मिला है। यहाँ कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं जो यद्यपि दो हजार वर्ष पूर्व की मृत भाषा के कृत्रिम शब्द-समूहों से बोझिल हैं तथापि वे प्रत्येक विचार को अभिव्यक्त करने में स्वयं भी समर्थ हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य ऐसी भी भाषाएँ हैं जो इस प्रकार अन्य भाषाओं से शब्द उधार लेने में संकोच करती हैं और इनका एक-एक वाक्य परिश्रमी कृषकों के घरेलू शब्दों से ओतप्रोत है। भारत में ऐसे भी स्थान हैं जहाँ छोटे-छोटे गाँवों में रहनेवाली जातियों एवं विभिन्न वर्ग के लोगों की पृथक्-पृथक् भाषाएँ और बोलियाँ हैं किन्तु यहाँ

ऐसे हजारों मीलों के मैदान भी हैं जिनके एक छोर से दूसरे छोर तक केवल एक भाषा बोली जाती है।

और इन सब के ऊपर, भारत में, पूर्व का एक रहस्यात्मक इन्द्रजाल दृष्टिगोचर होता है। इसके भीतर हम उस अतीत काल की मर्मर-ध्वनि सुनते हैं जब आर्यों ने अपने दलों के साथ मेसोपोटामियाँ की नदियों को पार किया था, जब हिन्द-चीनियों ने अपने देश को छोड़कर यांग-टी-सी-क्यांग के लिए प्रस्थान नहीं किया था, जब किसी प्रागैतिहासिक भारतीय वीर ने अपने साथियों के सहित बंगाल की खाड़ी से होते हुए हिन्देशिया के लिए प्रस्थान किया था और जब, जहाँ हिन्द महासागर की लहरें उमंग में झूम रही हैं, वहाँ एक महाद्वीप था।

प्रकाश पूर्व से आता है, किंतु इसमें तथा उस काल्पनिक प्रभात में जो अभी आनेवाला है पर आया नहीं है, अन्तर स्पष्ट करने के लिए हमें ज्ञान की निरंतर खोज में अनेक वर्षों तक प्रवृत्त होना पड़ेगा। अब तक विद्वानों ने भारत की प्राचीन भाषाओं तथा विचारधाराओं का ही अध्ययन किया है और उसी में आधुनिक भारत का भी रूप देखा है। किन्तु आधुनिक भारत का वास्तविक ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता जब तक हम पश्चिमी ज्ञान के प्रकाश में यहाँ की बत्तीस करोड़ जनता की आशा, भय तथा विश्वास का अध्ययन न करें। इसके लिए आधुनिक भाषाओं और बोलियों का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान केवल बोलचाल की भाषाओं का नहीं होना चाहिए, प्रत्युत उन भाषाओं का भी होना चाहिए जिनका केवल अस्तित्व मात्र है अथवा जिनका साहित्य व्यर्थ समझा जाता है। इन सभी भाषाओं एवं बोलियों के अध्येता को इनके प्रति अनुराग तथा यह दृढ़ विश्वास होना चहिए कि उसने इनके सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त किया है वह साधारण नहीं है।

सर्वेक्षण की त्रुटियाँ; अपूर्णता

सर्वेक्षण की न्यूनताओं के प्रति कोई भी व्यक्ति उतना अधिक सचेत नहीं है जितना कि वह व्यक्ति, जो इस कार्य के प्रति उत्तरदायी है। इसकी प्रथम त्रुटि यह है कि यद्यपि इसे 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' नाम से अभिहित किया गया है, किंतु भारतवर्ष के विस्तीर्ण भूखण्डों की भाषाओं को इसके पृष्ठों में स्थान नहीं मिल सका है, तथा हैदराबाद एवं मैसूर रियासतों और मद्रास प्रान्त एवं बरमा की भाषाओं का वर्णन इसमें बहुत ही सरसरी तौर पर किया गया है। यह सब परिस्थितियों का परिणाम था, जिसके प्रति मैं उत्तरदायी नहीं हूँ। इस सम्बन्ध में खेद प्रकट करने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूँ? जहाँ तक बरमा का सबन्ध है, मुझे बड़ा हर्ष है कि अब

इस प्रदेश की भाषाओं का सर्वेक्षण स्वतंत्र रूप से भारतीय शिक्षाविभाग के मान्य विद्वान् श्री एल० एफ० टेलर के तत्त्वावधान में होने जा रहा है।

प्रस्तुत सर्वेक्षण में असम प्रदेश में बोली जानेवाली बहुत-सी हिंद-चीनी भाषाओं पर पूर्ण ध्यान दिया गया है, किंतु उनके विषय का किसी भी प्रकार का विवरण तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक समीपवर्ती क्षेत्र में प्रयुक्त इनकी सगोत्रीय भाषाओं का परीक्षण नहीं हो जाता। 'बरमा के भाषा-सर्वेक्षण' से उस प्रदेश को जो व्यावहारिक लाभ होगा उसके अतिरिक्त एक बात यह भी होगी कि भाषाओं में दिलचस्पी रखनेवाले वहाँ के लोग भारत की हिंद-चीनी भाषाओं का समग्र रूप से अध्ययन कर सकेंगे। उसका सर्वेक्षण समाप्त हो जाने पर पश्चिमी असम की 'बोड़ो' भाषा की तुलना पूर्वी बरमा की 'लोलो' से और शिलांग की 'खासी' की तुलना मर्तबान की खाड़ी के उस पार ऐमहर्स्ट की 'तलेंग' भाषा से करना संभव हो सकेगा। मुझे इस बात की आशा है कि भविष्य में किसी समय मद्रास तथा दक्षिण की रियासतों की भाषाओं का भी समान रूप से सर्वेक्षण होगा क्योंकि इनका विवरण सर्वेक्षण के इन पृष्ठों में नहीं आ सका है।

ध्वनिसम्बन्धी अभाव

जिन पाठकों को इस सर्वेक्षण के विभिन्न खंडों को देखने का अवसर प्राप्त होगा, निस्संदेह उन्हें भी, मेरी ही तरह, यह बात खटकेगी कि इसमें ध्वनिशास्त्र-जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की अवहेलना की गयी है। जब सर्वेक्षण का आरम्भ हुआ था तब यह विज्ञान अपनी शैशवावस्था में था। भारत में तो इसे लोग जानते ही न थे, और यूरोप में भी किसी ऐसी सार्वभौम वर्णात्मक प्रणाली का आविष्कार नहीं हो पाया था, जिसके द्वारा सभी प्रकार की सम्भव ध्वनियाँ लिखी जा सकें। आज की परिस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है और अब तो गम्भीरता से भाषा का अध्ययन करनेवाला प्रत्येक छात्र प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिपरिषद् (इंटरनेशनल फोनेटिक एसोसियेशन) द्वारा निर्मित वर्णों से परिचित है। भारतवर्ष में बोली जानेवाली विभिन्न आधुनिक भाषाओं की आदर्श गवेषणा के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक भाषा के उद्धृत शब्द को इसी अन्तर्राष्ट्रीय लिपि में लिखा जाय। इसकी सहायता से तब हम यह ठीक बताने में समर्थ हो सकेंगे कि प्रत्येक बोली का प्रत्येक शब्द किस प्रकार उच्चरित होता है। किंतु इसका शुद्ध रूप में प्रयोग केवल प्रशिक्षित ध्वनिशास्त्रियों के ही वश की बात है। जिस समय इस सर्वेक्षण के लिए विभिन्न बोलियों के नमूने तैयार किये जा रहे थे यदि उस समय यह (अन्तर्राष्ट्रीय) लिपि व्यवहार में भी होती, तो भी इसका प्रयोग खतरनाक था। केवल एक या दो भाषाओं—जैसे बँगला—को छोड़कर किसी भी भारतीय भाषा

का आज व्यापक एवं सूक्ष्म अध्ययन नहीं हो सका है,[1] और इसी लिए यह कहना कठिन है कि इन भाषाओं में वास्तविक ध्वनि का स्वरूप क्या है तथा उसे किस रूप में लिखना चाहिए। इस सर्वेक्षण की अधिकांश सामग्री या तो उन राजकीय पदाधिकारियों द्वारा प्राप्त की गयी है, जो बोलियों के वास्तविक प्रयोग से चाहे कितने ही परिचित क्यों न हों, कुशल ध्वनिशास्त्री होने का दावा नहीं कर सकते; अथवा इसकी सामग्री उन लेखकों की कृतियों से संकलित की गयी हैं, जिन्होंने संगृहीत उदाहरणों की ध्वनियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। इन परिस्थितियों में जहाँ तक विभिन्न ध्वनियों का संबन्ध है उनके लगभग ही शुद्ध होने की आशा करनी चाहिए क्योंकि वे शुद्ध भी हो सकती हैं और अशुद्ध भी; और इस दशा में यहाँ ध्वन्यात्मक लिपि का प्रयोग पाठक के मन में शुद्धि के संबन्ध में मिथ्या धारणा उत्पन्न करके उसे सरलतापूर्वक पथभ्रष्ट भी बना सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, सर्वेक्षण में आदि से अंत तक एक ही पद्धति का प्रयोग आवश्यक रूप से करना चाहिए। इस सर्वेक्षण में संगृहीत सभी नमूने ऐसी लिपि में लिये गये हैं, जो उस प्रसिद्ध राजकीय पद्धति पर आधारित है जिसका भारतीय शब्दों के लिप्यन्तर के लिए प्रयोग किया जाता है। यह वह पद्धति है जिससे सभी राजकीय पदाधिकारी परिचित हैं, और जिसका ठीक-ठीक प्रयोग करने के लिए उनका विश्वास किया जा सकता है। ध्वनियों को इस रूप में लिखना, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लगभग शुद्ध है किंतु चूँकि सर्वत्र एक ही पद्धति का अनुसरण किया गया है अतएव यह भविष्य के ध्वनिसंबन्धी सूक्ष्म अध्ययन का आधार हो सकता है।

ग्रामोफोन रिकार्ड

अंत में इस सर्वेक्षण के पक्ष में जो कहा जा सकता है, यह है कि यह लिखित शब्दों का प्रतिनिधि है और अत्यधिक शुद्ध एवं उत्कृष्ट वैज्ञानिक लेखन-पद्धति के द्वारा सर्वसाधारण पाठक के लिए इसे और उत्तम नहीं बनाया जा सकता। जब तक इस विषय को छंदों में न बाँधा जाय, अक्षर-विन्यास की कोई भी ऐसी पद्धति नहीं प्रस्तुत की जा सकती जो पाठकों के प्रति उच्चारण के उन सूक्ष्म भावों को व्यक्त कर सके जो प्रत्येक शब्द को जीवन प्रदान करते हैं तथा वाक्य में अन्य

१. देखो बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियन्टल स्टडीज Bulletin of the School of Oriental Studies Vol. ii. pp. i. तथा उसके आगे, प्रो० एस० के० चटर्जी का बेङ्गाली फोनेटिक्स Bengali Phonetics सम्बन्धी लेख।

शब्दों के साथ इनका संबंध स्थापित करते हैं। एक ही व्यक्ति पाँच मिनट में एक शब्द का उच्चारण तनिक विभिन्न ढंग से दस बार कर सकता है और प्रत्येक बार उच्चारण की भिन्नता के कारण अर्थ में परिवर्तन आ सकता है; किंतु जहाँ तक अक्षर-विन्यास के द्वारा इन भावों को व्यक्त करने का प्रश्न है, ये समान वर्णों के द्वारा ही व्यक्त हो जायँगे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वाक्य का लिखित शब्द किसी अक्षर-विशेष पर, या साधारण आरोह-अवरोह पर, या गति पर किसी प्रकार के बल देने के भाव को व्यक्त नहीं करता, यद्यपि इसकी शैली प्रत्येक भाषा में भिन्न होती है। मैं ऊपर इस बात का संकेत कर चुका हूँ कि किस प्रकार वक्ता के विचारों का क्रम एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में भिन्न होता जाता है, और किस प्रकार उसके द्वारा किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्द उस भाषा को प्रभावित करता है। किंतु वक्ता के विचारक्रम का प्रभाव केवल इतना ही नहीं है। प्रत्येक वाक्य के आरोह-अवरोह अथवा गति पर भी इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसे स्पष्ट करने के लिए अंग्रेजी का उदाहरण लिया जा सकता है। इसके वाक्य का नैसर्गिक आरोह-अवरोह किसी भी भारतीय भाषा से व्यापक रूप में भिन्न है। पारस्परिक अवबोध के लिए किसी भी वाक्य का उपयुक्त आरोह-अवरोह के साथ उच्चारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसका एक अच्छा उदाहरण किसी अंग्रेज द्वारा बंगला बोलने का है। यह बहुत सम्भव है कि भारत में आकर वह शुद्ध तथा ठीक उच्चारण के साथ बँगला बोलने लगे, इतने पर भी जब वह किसी ग्रामीण से सरलतम वाक्य भी बोलेगा तो उसे यही उत्तर मिलेगा; 'साहब, मैं अंग्रेजी नहीं समझता'। वह व्यक्ति इस प्रकार का भाव औद्धत्य अथवा बुद्धिहीनता के कारण प्रकट नहीं करता। यदि वह यह समझता कि उससे बँगला में कुछ कहा गया है तो वह प्रत्येक उच्चरित शब्द का भाव समझ जाता। किंतु न्यूनाधिक रूप में वह एक विदेशी के गौर मुखमंडल को देखकर ही घबरा जाता है और उसकी मन्द बुद्धि जो कुछ भी सोच पाती है यही है कि उसे एक अपरिचित भाषा में सम्बोधित किया जा रहा है, न कि उसी की अपनी भाषा में। अपने प्रश्नकर्ता के शब्दों को पृथक् रूप से पहचानने का प्रयत्न किये बिना ही वह उस गौर मुखमंडल के साथ उसकी विचित्र वाक्य-ध्वनि को संयुक्त करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसे अंग्रेजी में संबोधित किया जा रहा है।

भाषा के प्रतिनिधि के रूप में लिखित-शब्द की इस विशिष्ट त्रुटि को ग्रामोफोन अथवा फोनोग्राफ के द्वारा दूर किया जाता है। इनमें से किसी भी एक के द्वारा यदि किसी शब्द अथवा वर्ग-विशेष का उच्चारण स्पष्ट नहीं है, तो भी उसके प्रत्येक वाक्य के आघात तथा लय को सदैव पूर्ण कौशल के साथ व्यक्त किया जाता है। इसके लिए—

संर्वेक्षण के पूरक के रूप में—बहुत सी प्रान्तीय सरकारों तथा कुछ भारतीय रियासतों से उनके अधिकार में बोली जानेवाली प्रमुख भाषाओं के उद्धरणों के ग्रामोफोन रिकार्ड तैयार कराने का प्रबन्ध किया गया है। इस ग्रंथ के लिखने के समय (अप्रैल, १९२४) तक ये रिकार्ड निम्नलिखित सरकारों से प्राप्त हुए हैं—बिहार तथा उड़ीसा, बरमा, मध्य-प्रान्त, (अब मध्यप्रदेश), दिल्ली, मद्रास और संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध (अब उत्तर प्रदेश)। अन्य स्थानों की भाषाओं के या तो इस प्रकार के रिकार्ड तैयार कराये जा रहे हैं अथवा वहाँ के अधिकारियों ने ऐसा कराने का वादा किया है। अब तक ९७ भाषाओं तथा बोलियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कुल २१८ रिकार्ड तैयार किये जा चुके हैं,[1] तथा इन्हें विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए निम्नलिखित स्थानों में रख दिया गया है—इंडिया आफिस का पुस्तकालय, ब्रिटिश म्यूजियम, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, स्कूल ऑव ओरिएण्टल स्टडीज, आक्सफोर्ड का बोडलियन पुस्तकालय, कैम्ब्रिज, डबलिन तथा एडिनबर्ग के विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय तथा पेरिस (फ्रांस) के इंस्टिट्यूट में।

लन्दन में इन रिकार्डों का एकाधिक बार सार्वजनिक प्रदर्शन भी किया जा चुका है, और इन्होंने भारतीय भाषाओं के गंभीर अध्ययन में प्रवृत्त लोगों का ध्यान भी बहुत अधिक आकर्षित किया है। किन्तु इनकी उपयोगिता यहीं तक सीमित नहीं है। सुचारु रूप से तैयार किये हुए ग्रामोफोन रिकार्ड किसी भी भाषा के अध्यापन में अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं। कोई भी ग्रामोफोन किसी छोटे या बड़े उद्धरण को, बिना किसी कठिनाई के, पूर्णतया शुद्ध रूप में अनेक बार दुहरा सकता है, किन्तु एक मानव-अध्यापक तो अन्ततः सजीव प्राणी है, और उसके धैर्य की ही भाँति उसका गला भी शीघ्र ही शिथिलता का अनुभव करने लगता है। भाषा-सर्वेक्षण द्वारा तैयार कराये गये ये रिकार्ड इतने उपयोगी सिद्ध हुए हैं कि इनमें से कुछ तो भारतीय सिविल सर्विस के चुने हुए परीक्षार्थियों के भाषा-सम्बन्धी पाठ्यक्रम में निर्धारित किये गये हैं।

व्यक्तिवाचक नामों का अक्षरविन्यास

इस सर्वेक्षण में आदि से लेकर अंत तक, एक समुदाय के अपवाद के अतिरिक्त, सभी भारतीय शब्दों का अक्षर-विन्यास उपर्युक्त पद्धति के अनुसार किया गया है। इन अपवादों का सम्बन्ध भी केवल व्यक्तिवाचक नामों से है। जहाँ किसी व्यक्ति

१. इन रेकार्डों की पूरी सूची परिशिष्ट २ में मिलेगी।

का नाम मुझे उल्लेख करना पड़ा है, और वह लिखित रूप में केवल-मात्र किसी भारतीय लिपि में मिला है, वहाँ मैंने किसी भी अन्य भाषा के शब्द की भाँति उसका भी रोमन में लिप्यन्तर किया है। किंतु यदि वह व्यक्ति आज भी जीवित है और स्वयं अपने नाम को अंग्रेजी शैली में लिखता है, तो मैंने भी उसके द्वारा प्रयुक्त अक्षर-विन्यास को ही इस सिद्धान्त के आधार पर ग्रहण किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने नाम के अक्षर-विन्यास को निश्चित करने का स्वयं अधिकार है। इस प्रकार यदि कोई महाशय अंग्रेजी शैली में, रोमन में, अपना नाम बोन्नर्जी (Bonnerjee) लिखते हैं तो मैंने भी उनका नाम इसी रूप में लिखा है चाहे भारतीय लिपि में वे 'वन्द्योपाध्याय' ही क्यों न लिखते हों। इसी प्रकार यदि कोई सज्जन अपना हस्ताक्षर 'जीजी भॉय' (Geejee bhoy) रूप में करते हैं, तो मैंने उन्हें 'जीजीभाई' रूप में लिखना उचित नहीं समझा।

स्थानवाचक नाम

स्थानवाची नामों के लिखने का प्रश्न और भी जटिल है। भाषा-सर्वेक्षण में सैकड़ों नगरों तथा ग्रामों के नाम आये हैं। उनका ठीक-ठीक अक्षर-विन्यास या तो अनिश्चित है, अथवा उन्हें परम्परा से एक रूप में लिखा जा रहा है। मैं समझता हूँ कि जहाँ तक परम्परा से सम्बन्ध है, इसका किसी प्रकार प्रतिवाद नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि नितान्त वैज्ञानिक ग्रन्थों में भी कोई भी व्यक्ति 'कलकत्ता' (Calcutta) को 'कलिकाता' (Kalikâtâ) तथा 'कानपुर' (Cawnpur) को 'कान्हपुर' (Kanhpur) लिखने की स्वप्न में भी कल्पना नहीं करेगा।

किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है कि उन अप्रसिद्ध स्थानों के नामों को किस रूप में लिखा जाय जिनका अक्षर-विन्यास अनिश्चित है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई ध्वनि-चिह्नों के विषय में है। भारत के अधिकांश भागों में प्रयोग के अनुसार ही शुद्धरूप में नामों के लिखने की परम्परा नहीं है। उदाहरणार्थ, लोग रोमन में [Garhwâl] 'गढ़वाल' न लिखकर 'गर्‌हवाल' [Garhwal] तथा 'शाहाबाद' [Shâhâbâd] के स्थान पर 'शहबद' (Shahabad) लिखा करते हैं। अन्य भागों, जैसे बम्बई में, राजकीय प्रकाशनों में ध्वनि-सम्बन्धी चिह्नों का अधिक प्रयोग होता है। अन्यत्र, जैसे मद्रास प्रान्त में, इस सम्बन्ध में दूसरे तथा स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रचलित हैं। यह सत्य है कि इम्पीरियल गजेटियर में भारतीय स्थानों के नामों के अक्षर-विन्यास अधिक शुद्धता से दिये गये हैं, किन्तु १९०८ ई० तक, जब कि भाषा-सर्वेक्षण का अधिकांश भाग पूर्णतया छप चुका था, उक्त गजेटियर प्रकाशित नहीं हुआ था। इस प्रकार

कुछ स्थानों के नामों को ध्वनिचिह्नों के सहित तथा दूसरों को उनसे रहित रूप में देना उचित नहीं था। अंतएव कतिपय अपवादों के अतिरिक्त स्थानवाचक नामों के सम्बन्ध में मैंने उत्तर भारत के अधिकांश भागों में प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया है तथा ध्वनि-चिह्नों का प्रयोग पूर्णतया छोड़ दिया है९

निष्कर्षों की यथार्थता

यह कहना आवश्यक नहीं है कि भाषा-सर्वेक्षण का समस्त मूल्य इसकी शुद्धता पर निर्भर है। यहाँ यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या रिकार्ड किये गये नमूने वास्तव में उन भाषाओं के रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके वे उदाहरण हैं। इसके प्रत्युतर में मैं यही कहूँगा कि मेरा विश्वास है कि वे सम्पूर्ण रूप से ऐसा अवश्य करते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए असाधारण उपायों का आलम्बन किया गया है तथा संदेह-प्रद स्थलों की स्पष्टता के लिए पूर्ण प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में मुझे अत्यधिक पत्र-व्यवहार करना पड़ा है और कभी-कभी आशा से अधिक सफलता भी मिली है। यह बात मैं स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ कि यत्र-तत्र कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं तथा भाषासंबन्धी कुछ नमूने अन्यों की अपेक्षा कम महत्त्व के हैं। समान रूप से सभी नमूने श्रेष्ठ हों, यह आदर्श की बात अवश्य हो सकती है किंतु इसकी प्राप्ति कठिन है; फिर भी यदि हम उन स्रोतों पर विचार करें जहाँ से ये अनुवाद प्राप्त हुए हैं, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक दशा में इनके शुद्ध होने की ही अधिक सम्भावना है। इस सर्वेक्षण के बहुसंख्यक भाषा-सम्बन्धी नमूने या तो उन भारतीयों द्वारा तैयार किये गये हैं जो स्वयं उन भाषाओं के बोलनेवाले हैं अथवा ये उन मिशनरियों द्वारा तैयार किये गये हैं जो प्रत्येक क्षण इनके बोलनेवाले अशिक्षित लोगों के निकट सम्पर्क में रहते हैं। पुनश्च अन्य नमूने मेरे ही पद के कर्मचारियों द्वारा तैयार किये गये हैं। इनमें मेरे वे खास मित्र भी शामिल हैं जिनकी बौद्धिक श्रेष्ठता के सम्बन्ध में मुझे पूर्ण विश्वास है; तथा जिन्होंने वन्य-जातियों की ऐसी भाषाओं में भी विशेषज्ञता प्राप्त की है जो बिलकुल ही लिखी पढ़ी नहीं जातीं। निश्चय ही इसके अपवाद भी थे। विशेष रूप से नमूने भेजनेवालों में कतिपय ऐसे भी भारतीय थे जो भाषा की एकरूपता एवं शुद्धि के पक्षपाती थे। कुछ लेखक ऐसे भी थे जिन्हें निरक्षर तथा गँवार किसानों की भाषा को लिपिबद्ध करने में भी कष्ट का अनुभव हुआ था। उन्होंने इन नमूनों में काफी काट-छाँट की, इनसे गँवारूपन को बहिष्कृत किया तथा इन्हें सुन्दर रूप प्रदान करने का प्रयास किया। कतिपय लोगों ने तो सुने हुए सभी ग्रामीण बर्बर शब्दों को लिखना भी अस्वीकार कर दिया और बाइबिल की "उड़ाऊ पूत" की कथा को या तो विशुद्ध

फारसी-गर्भित उर्दू अथवा संस्कृत-गर्भित बँगला में लिख भेजा। कुछ लोगों के नमूनों की तो मेरे पास भेजने के पूर्व, नियमानुसार काफी जाँच पड़ताल की गयी। उनकी भूलें पकड़ी गयीं और उन्हें ठीक कर लिया गया। मेरे लिए त्रुटियों से बचने की सबसे बड़ी बात यह थी कि भाषा-सम्बन्धी इन नमूनों की संख्या बहुत अधिक थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन नमूनों की संख्या कई हजार थी; तथा अधिकांश भाषाओं में चुनाव के लिए काफी गुंजायश थी। कोई भी व्यक्ति इन सबको न तो पढ़ ही सकता था और न अध्ययन ही कर सकता था। इनमें से प्रत्येक की मैंने सावधानी से जाँच पड़ताल की। मैं इनके मूल्यांकन का पूरा अनुभवज्ञ प्राप्त कर सका और न यही जान पाया कि इनमें से कौन वास्तविक था और कौन नहीं। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरा यह परीक्षण सर्वथा आत्मिक था किंतु मुझे विश्वास है कि इनमें से किसे प्रकाशित करना है किसे नहीं, इस सम्बन्ध में, मैंने विवेक से काम लिया। सबसे बड़ी बात यह थी कि मेरे सूचकों (Informants) ने जो सामग्री भेजी थी उसे बिना जाँच किये हुए लेने के लिए मुझे बाध्य नहीं होना पड़ा और अधिकांशतः उसमें से मैंने चुनकर ही सामग्री ली। जिन भाषाओं से मैं स्वयं परिचित था तथा जिन बोलियों को मैंने शीतकाल की रात्रि में अलाव के पास बैठकर वृद्धों तथा ग्रामीण चारणों से सुनकर ग्रहण किया था, उनके सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप से, मैं विशिष्ट तथा अनुकूल परिस्थिति में था। इस प्रकार से प्राप्त अनुभव भाषासम्बन्धी उस सामग्री के मूल्यांकन में अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ जिसे मैंने या तो पुस्तकों से प्राप्त किया था अथवा जिसका मुझे बिलकुल ज्ञान न था। अतएव इस सर्वेक्षण के पृष्ठों में, भारत के अधिकांश भागों की भाषाओं का सम्पूर्ण रूप से वास्तविक चित्र उपस्थित करने में, मैं आत्म-विश्वास का अनुभव करता हूँ। यहाँ यह निवेदन करना ही अनावश्यक है कि इसके सम्बन्ध में मैं आलोचना एवं संशोधनों का स्वागत करूँगा। इस सम्बन्ध में सर टामस ब्राउन के निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं[1]—

"केवल अपने विचारों की तराजू पर ही अपने को न तौलो अपितु अपने सम्बन्ध में विचारवान् व्यक्तियों के विचार को ही अपनी योग्यता का मानदण्ड मानो। जो लोग सो रहे हों उन्हें न जगाना, उन्हें आनन्द से सोने देना तथा उनके संतोष को धक्का देते हुए उनके प्रति विरोध न प्रकट करना केवल शिष्टाचार-मात्र है।"

१. क्रिश्चियन मारल्स (Christian morals,) II, 8

उपसंहार

जो भी हो, मैं सर्वेक्षण के इन खण्डों को भारत को समर्पित करता हूँ। भारत अनेक वर्षों तक मेरा वास-स्थान रहा है और इसने स्वयं मेरे हृदय में गत आधी शताब्दी से अपना घर बना लिया है। मेरे लिए वह दिन चिरस्मरणीय रहेगा, जब सन् १८६८ में मेरे आदरणीय गुरु प्रोफेसर राबर्ट एट्किन्सन ने संस्कृत वर्णमाला से मुझे परिचित कराया, और इस कारण शीघ्र ही डबलिन-स्थित ट्रिनिटी कालेज का उनका कमरा मेरे लिए अति परिचित हो गया। पाँच वर्ष बाद, भारत के लिए रवाना होने के पूर्व, जब उत्साह से पूर्ण मैं उनसे विदा लेने गया तो उन्होंने इस कार्य का भार मुझे सौंपा और यौवन की उमंग में मैंने इसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार भी कर लिया। अपने सक्रिय जीवन में जिन व्यक्तियों के साथ मुझे कार्य करने का अवसर मिला, मैंने प्रेमपूर्वक किया, किंतु गुरु का आदेश सदैव मेरे मस्तिष्क में वर्तमान रहा और प्रशासकीय कार्यों से बचा हुआ समय यह कार्य सम्पन्न करने में लगाने के लिए प्रेरणा देता रहा। बीस वर्ष के बाद यह अवसर आया और इस सर्वेक्षण का गौरव मुझे प्राप्त हुआ। व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए इन ग्रंथों की तैयारी के दिन अलाभकर न थे। इस बीच मुझे तीन सहस्र वर्षों के पीढ़ी-दर-पीढ़ी के महान् विचारकों के विचारों से गुम्फित भव्य साहित्य के दर्शन का सुअवसर मिला। मैं काव्य की उस मनोहर वाटिका में विहार करने में समर्थ हो सका जिसका आरम्भ वेद की प्रसन्नमना चिन्तामुक्त ऋचाओं से होता है तथा जिसकी धारा महाकाव्यों, कालिदास के शीर्षस्थानीय मोहक नाटकों, सुधारकाल के संतों की वाणियों, तुलसी के आत्मनिवेदक पदों एवं बिहारीलाल की अलंकृत रचना से प्रवाहित होती है। सत्यरूपी फल को मैंने अनेक ज्ञान-वृक्षों से प्राप्त किया है। इसके दाताओं में यदि एक ओर वे ज्ञानी, अद्वैतवादी एवं सूक्ष्मदर्शी पंडित थे जो अपने विचारों को स्फटिक की भाँति स्वच्छ रूप में स्पष्ट करनेवाले थे, तो दूसरी ओर वे भोले किंतु रूढ़िग्रस्त कृषक थे जो अपनी ग्रामीण भाषा में किसी वृक्ष के नीचे गुनगुनाने में व्यस्त थे। किंतु उनका सृष्टिकर्ता भगवान् के प्रति इतना दृढ़ विश्वाश था कि उनके समक्ष एक धार्मिक ईसाई को भी लज्जित होना पड़ेगा। धार्मिक भावनाओं में मैंने छिपे हुए धर्म को देखा है। पौराणिक गाथाओं में मैंने इतिहास का दर्शन किया है और निरक्षर ग्रामीणों की कहावतों में मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है। यहीं, और यहीं भारत ने मेरी सहायता की है। लेकिन मैं भारतवर्ष की सहायता कैसे करूँ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर, भारत में सम्राट की नौकरी में आनेवाले हममें से प्रत्येक पश्चिमीय व्यक्ति ने अपने अनुसार भरसक देने का प्रयत्न किया है। हममें से अनेक व्यक्ति अच्छे शासक, अच्छे योद्धा, महान् विद्वान्, अच्छे अध्यापक तथा चिकित्सा

के निपुण आचार्य रहे हैं। हमने भारत को जो प्रतिदान दिया है वे विभिन्न प्रकार के रहे हैं किंतु उनमें कर्तव्यनिष्ठा एवं उन लक्ष-लक्ष व्यक्तियों के प्रति प्रेम एवं सहानुभूति की भावना रही है जिनके साथ भाग्यवश हमें कार्य करने का अवसर मिला है। इस प्रश्न का उत्तर देने में मेरा भाग बहुत ही थोड़ा रहा है, किंतु यदि इस सर्वेक्षण ने भारत को पश्चिम के निकट लाने में कुछ भी सहायता की तो मैं यह समझूंगा कि मेरा प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ नहीं गया।

कृतज्ञता-प्रकाश

जिन व्यक्तियों ने इस कार्य में मुझे सहायता प्रदान की है, यदि मैं उनमें से प्रत्येक को धन्यवाद देने लगूं तो इसके लिए सर्वेक्षण का एक और खण्ड बनाना पड़ेगा। सरकारी सेवा के अनेक कर्मचारियों, उदार मिशनरियों तथा उन अन्य लोगों का मैं अत्यधिक ऋणी हूँ जिन्होंने विविध भाषाओं के नमूने प्राप्त करने तथा मेरी कठिनाइयों को हल करने में कोई प्रयत्न नहीं उठा रखा है। प्रत्येक दशा में उनके नामों को उनके द्वारा प्रदत्त नमूनों के ऊपर अंकित कर दिया गया है। यदि मैं यहाँ इन सब का एक साथ ही उल्लेख कर रहा हूँ और प्रत्येक का अलग अलग नाम नहीं दे रहा हूँ तो वे यह न समझें कि इनके ऋण के भार को हलका करने के लिए मैं ऐसा कर रहा हूँ। फिर भी अपवादस्वरूप एक व्यक्ति का नाम मुझे यहाँ देना है और वह व्यक्ति रेवरेण्ड मैकलिस्टर हैं। महाराजाधिराज जयपुर नरेश की प्रेरणा से उन्होंने इस राज्य में बोली जानेवाली बोलियों का सर्वेक्षण किया था। जिस पुस्तक में उनकी खोजों के निष्कर्षों को स्थान मिला है वह वास्तव में लोकसाहित्य का भंडार है[1] तथा जो लोग राजपूताने की भाषाओं तथा बोलियों से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए इस पुस्तक का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अपने निकट सम्पर्क के व्यक्तियों में सर्वप्रथम मैं राय-बहादुर श्री गौरीकान्त के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जब तक मैं भारत में रहा तब तक और वहाँ से यहाँ चले आने के कुछ वर्षों बाद तक वे मेरे मुख्य सहायक के रूप में कार्य करते रहे। इस सर्वेक्षण के आरम्भिक दिनों में भाषा-सम्बन्धी जो

१. रेवरेण्ड जी० मेकलिस्टर एम० ए० (Rev. G. Maclister, M. A. Allahabad Mission Press) सन् १८९८ कृत "जैपुर राज्य में बोली जाने वाली बोलियों का नमूना" Specimens of the dialects spoken in the State of Jeypore लेख देखें।

हजारों नमूने प्राप्त हुए थे उनके संकलन, वर्गीकरण तथा प्रतिलिपि आदि का समस्त भार उन्हीं के ऊपर था। कार्यालय में विभिन्न जातियों एवं योग्यता के लेखक थे किंतु वास्तव में कुशलता के साथ उनका निरीक्षण श्री राय ही करते थे और उसी का यह परिणाम था कि इस सर्वेक्षण का प्रारम्भिक कार्य निरंतर एक रूप से अग्रसर होता हुआ सम्पन्न हो सका। श्री राय ने भारत सरकार के तत्त्वावधान में बहुत दिनों तक महत्त्वपूर्ण सेवाकार्य किया और अंत में सन् १९२१ में वे इससे मुक्त हुए। इस समय पंजाब के दंगे की जाँच के सम्बन्ध में जो सरकारी कमेटी बनी थी उसके वे मुख्य निरीक्षक थे। अपने मित्र तथा सहयोगी प्रो० स्टैनकोनो[1] के प्रति पर्याप्त रूप से कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरे लिए बहुत ही कठिन है। प्रायः तीन वर्षों (१९०० से १९०२) तक, उन्होंने मेरे साथ, मेरी बगल में बैठकर, एक ही कमरे में काम किया है। इस सर्वेक्षण के कई खण्डों के अनेक पृष्ठों पर, जो उस समय लिखे गये थे, उनकी मौन किंतु प्रेरणात्मक सहायता की पूरी छाप है। अपनी जन्मभूमि क्रिश्चियाना में लौट जाने के पश्चात् भी वे अपने स्पष्ट ज्ञान तथा गंभीर पांडित्य से निरंतर मेरी सहायता करते रहे हैं, जैसा कि विभिन्न भूमिकाओं में स्पष्ट किया जा चुका है। सर्वेक्षण का अधिकांश भाग उन्हीं की लेखनी द्वारा लिखा गया है और इन अंशों का सम्पूर्ण श्रेय उनको नहीं दिया गया तो मुझे दुःख होगा।[2]

१९०३ में, जब प्रो० कोनो नार्वे लौट गये तब ई० एच० हॉल मेरे सहायक हुए। उनकी निरंतर सावधानी के प्रति मैं धन्यवाद के दो शब्द लिखने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। ईरान तथा श्याम के बीच व्यवहृत होनेवाली प्रत्येक प्राच्य लिपि से परिचित होने के कारण वह एक अत्यधिक कुशल प्रूफरीडर हैं और उनकी दृष्टि से मुद्रण की शायद ही कोई अशुद्धि छूट पायी हो। सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डों के प्रायः सभी मूल मानचित्र उन्हीं की लेखनी से अंकित हुए हैं। उनके तथा भारत-सरकार के प्रेस की सतर्कता से मुद्रण के कारण ही यह सर्वेक्षण अनेक अशुद्धियों से मुक्त रह सका है। अंत में, मैं ब्रिटिश तथा विदेशी (फॉरेन) बाइबिल सोसाइटी के अपने मित्रों एवं सहयोगियों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। इनमें भी इसके संपादक मंत्री

१. अब ओसलो (Kristiana) यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं।

२. उनके द्वारा प्रदत्त सामग्री इस प्रकार है—खण्ड ३, भाग १,२ (कुछ भाग) और ३ (तिब्बती बर्मी भाषाएँ) खण्ड ४ (द्रविड़ एवं मुण्डा भाषाएँ) खण्ड ७ (मराठी) खण्ड ७ के भाग ३ का अधिकांश भाग भील भाषाएँ तथा खण्ड जिप्सी भाषाएँ।

डॉ० किल्गोर (Kilgour) तथा इसके साहित्यिक निरीक्षक श्री डारलो (Darlow) का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। भारतीय भाषाओं के इतिहास के अनुसन्धान-संबन्धी मेरे प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने निरन्तर जो सहानुभूति एवं व्यावहारिक सहायता प्रदान की है वह सचमुच बेजोड़ है। इस साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश तो बाइबिल का अनुवाद ही है और अनेक अपरिचित एवं अज्ञात भाषाओं की प्रकाशित साहित्यिक सामग्री के रूप में तो केवल यही उपलब्ध भी है। यह सभी सामग्री नितान्त उदारता-पूर्वक मुझे प्राप्त हुई है और जो यूरोप में उपलब्ध न थी, उसे मेरे लिए भारत से मँगाया गया। सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित तथा श्री डारलो एवं श्री मुले (Moule) द्वारा निर्मित, विद्वत्ता एवं पूर्णता के स्मारक-स्वरूप बाइबिल के प्रकाशित संस्करणों की ऐतिहासिक अनुक्रमणिका वस्तुतः सूक्ष्म सूचनाओं का अक्षय स्रोत थी। इसका अधिकांश सर्वेक्षण के परिशिष्टांक में समाविष्ट कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में, इस ग्रंथ के अन्त में, निम्नलिखित प्रार्थना के शब्दों को उद्धृत करना ही श्रेयस्कर होगा[1]

मेरे कृपालु पाठक, यदि आप को मेरी इस कृति से कुछ भी लाभ हुआ हो तो इसे आप भगवान् को ही समर्पित करें, क्योंकि वास्तव में, शाश्वतरूप में वही यशभागी है।

१. लइडेन Leyden १६२७